

मेरे किसी भी गोस्वामिबन्धुद्वारा देवद्रव्यके उपभोग या देवलकतावृत्ति को करनेपर न तो मुझे एक रुपया कम मिल रहा है और न इस असद्वृत्ति कोई छोड देगा तो मुझे एक भी रुपया ज्यादा मिलने लग जायेगा. श्रीमहाप्रभुके दिव्य सिद्धान्तोंको घोषित करनेपर लोग कटुसत्यभाषी या हितभाषी कहकर मेरी प्रशंसा करें या पुष्टिमार्गी जनताको बरगलानेवाला कहकर मेरी निन्दा करें; इससे भी मुझे कोई अन्तर नहीं पडता!

मुझे जो पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त जिस रूपमें समझमें आये हैं वह मेरी समझ सच है या गलत यह तो श्रीमहाप्रभु-प्रभुचरण-सप्तात्मज-पौत्र-प्रपौत्रादिके प्राचीन ग्रन्थ ही निर्णय कर सकते हैं!

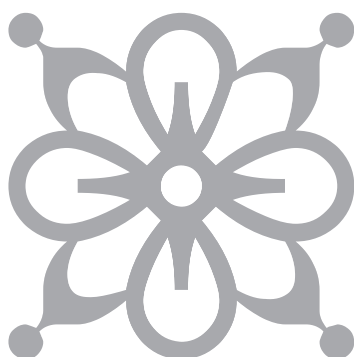
उन दिव्य सिद्धान्तोंको मेरे गोस्वामिबन्धु माने-कहें-अनुसरें या न मानें-न कहें-न अनुसरें; मुझे उनसे क्या लेना-देना है —ऐसी "जानन्तु ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः"की उपेक्षामयी अहंता मेरे भीतर है नहीं. पुष्टिमार्गपर चलनेवाले प्रत्येक सहपथिकके प्रति उन्हें सहयात्री माननेकी अपेक्षामयी वयंता ही मुझे अधिक सुहाती है!

इसलिये कहता रहूंगा, कहता रहूंगा और कहता ही रहूंगा; श्रीमहाप्रभुके दिव्य सिद्धान्त जैसे इस वर्ष कहता रहा वैसे ही आगामी वर्षोंमें भी, जैसे इस जन्ममें कह रहा हूं वैसे ही आगामी जन्मोंमें भी!

भूल जिन जाय मन अनत मेरो!

—गोस्वामी श्याममनोहर





तत्र सेवा प्रकृतिः यावज्जीवं स्वधर्मतः। न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये ॥ श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन। न कल्पितप्रकारेण न दुर्भावसमन्वयात् ॥

धनाभिनिविष्टचित्ताः न भगवत्सम्मुखाः भवन्ति. बालाएव ते स्तनपानव्यग्राः मातरमेव मन्यन्ते (सुबो. ३।१६।२०).

सेवकः सेव्यं यादृशरूपं पश्यति स्वस्यापि तादृशं रूपं सम्पादयति. साधनानि च तानि यद्यपि अपहतपाप्मानं भगवन्तम् अन्यथा कर्तुं न शक्नुवन्ति तथापि जीवम् अन्यथाकुर्वन्त्येव. ततश्च यादृशेन रूपेण साधनेन वा न अन्यथाभावः तादृशरूपवानेव ईश्वरः सेव्यः... तं यथायथेपासत इत्यत्र तथानिर्णयात् नाशशंकाभावात्. (सुबो. १।२।२३).

# विशोधनिका

## (द्वितीय प्रकरण)



गोस्वामी श्याममनोहर

प्रकाशक–प्राप्तिस्थल :
गोस्वामी श्याममनोहर
६३, स्वस्तिक सोसायटी,
४था रास्ता, जुहु स्कीम,
पारले, मुंबई–४०००५६.

‘अडैल’, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य मार्ग,
नया शहर, किशनगढ़, जि. अजमेर,
राजस्थान–३०५८०२.

प्रति : १०००

प्रकाशनवर्ष : वि.सं.२०४९

मुद्रक :
प्रॉस्पॅक्ट प्रिन्टींग प्रेस
पोर्टुगीझ चर्च, दादर,
मुम्बई–४०००२८.

निःशुल्कवितरणार्थ

प्रस्तुत ग्रन्थके प्रकाशनमें मुद्रणकार्यमें सहयोगी : श्रीअसित शाह, श्रीमनीष बाराई, श्रीरसिक शाह, श्रीविपुल बाराई

तथा

प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोगी : अनेक वैष्णव भगवदीयोंका

हम हृदयसे आभार माने हैं.

# समर्पण

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके वचन उनके दोनों आत्मजोंके वचन तथा
इनके उपजीव्य शास्त्रोंके भी वचनोंके आभारपर ही पुष्टिमार्गियोंके
वास्तविक स्वधर्मका स्वरूप निर्धारित हो सकता है.
सार्वजनिक मन्दिरोंमें धन फेंककर दर्शन-प्रसादको खरीदनेकी शोखीन
निष्ठाविहीन जनतासे प्रीति रखनेवाले स्वार्थलिप्त पू.पा.गो.म.श्रीओंके
वचन या व्यवहार प्रमाण नहीं होते. न आधुनिक धर्मनिरपेक्ष
कानूनकी भीति रखकर अपनी लक्ष्मीकी रक्षाके मोहमें नारायणको
त्यागनेवालोंके वचन या व्यवहार को ही पुष्टिमार्गियोंके स्वधर्मके
स्वरूपनिर्धारणार्थ प्रमाण माना जा सकता है.
पुष्टिमार्गियोंके धर्मका वास्तविक स्वरूप आचार्यवचनोंद्वारा ही निर्धारित
किया जा सकता है. स्वमार्गमें उभरी इन विसंगतिओंके बीच
स्वसिद्धान्तसंरक्षणके प्रयासको-''अति धन्यवादार्ह है कि
आपने इतनी मेहनत करके सम्प्रदायके सिद्धान्तकूं कोर्टमें समझाये''
(दि.२६-१०-८६को मुझे भेजे गये पत्रमें) तथा ''हमारा इसमें
पूरा सहयोग होगा, तनमनधनसे...हमारे सभी चि.बालक इस कार्यमें
सहयोग करनेको तैयार हैं'' (दि.७-११-८६को मुझे भेजे गये पत्रमें)
इन वचनोंसे प्रोत्साहित करनेवाले **नि.ली.श्रीव्रजभूषणलालजी** काकाजीके
प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञताको अभिव्यक्त करने
यह द्वितीय प्रकरण उन्हें समर्पित करता हूं.
मेरा दृढ विश्वास है कि नि.ली.काकाजीकी ही अन्त:प्रेरणा थी कि
उनके आत्मज चि. हरिरायजी पुष्टिसिद्धान्तोंके प्रतिपक्षी बनकर आनेके
बावजूद पक्षग्रहणप्रसंगमें:
पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवास्थल स्वगृह ही होता है तथा
ट्रस्टएक्टके अनुसार भगवत्सेवार्थ धन मांग कर आजीविका
चलानेवाला जघन्य कोटिका देवलक होता है
--इन दो मुख्य मुद्दोंको कबूल कर बैठे थे.

**अत्र शास्त्रं प्रमाणं स्यात् नैव वित्तस्य लालसा ।**
**नच संख्याक्रमो (A/317 जामनगर) दुष्टः पब्लिक्ट्रस्टरजिस्टरे ।।**

*

**गोस्वामी श्यामनोहर**

**।। श्रीकृष्णाय नमः ।।**

**।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।**

# *आमुख*

विशोधनिकाके इस द्वितीय परिच्छेदमें आलोचनाक्रमसे उपक्रम, ब्राह्मणत्व, वैदिक गुरुत्व, तान्त्रिक गुरुत्व, साम्प्रदायिक गुरुत्व तथा उपसंहार के विभागशः विषयनिरूपण हुआ है. आलोच्य विषय, वैसे, दो ही हैं कि देवद्रव्यका स्वरूप क्या और देवलकवृत्ति क्या और कैसे होती है ?

विशोधनिकाके प्रथम परिच्छेदके आमुखमें मैंने जिन आशंकाओंको प्रकट किया था उनका निराकरण इस आमुख लिखनेकी क्षण तक तो विमर्शकारने व्यक्तिशः मुझे अथवा 'वैष्णववाणी'मासिकमें भी दिया नहीं है, जबकि उसमें उक्त विमर्श ग्रन्थका संशोधित-परिवर्धित गुर्जरभाषानुवाद प्रकाशित करवाया जा रहा है. लगता है - या तो लंबी प्रतीक्षा करनी पडेगी या फिर अप्रतिषिद्धम् अनुमतम् भी कदाचित् हो सकता है ! अस्तु.

### *देवद्रव्य*

वैसे 'देवद्रव्य'का अर्थ होता है ऐसा द्रव्य कि जिसपर लौकिक स्वामित्व किसी देवमूर्तिका हो. देवमूर्तिका स्वामित्व उत्पन्न होता है जब कोई श्रद्धालु अपने किसी द्रव्य-वस्त्र-सुवर्ण-रत्न-प्राणी-भूमि-गृह-क्षेत्र-कूप-व्यापारादि परसे अपना स्वामित्व निवृत्त करके किसी देवमूर्तिके स्वामित्वका संकल्प करे. लौकिक उदाहरणोंमें किसी दाताके द्वारा कुछ प्रदान किये जानेपर यदि प्रतिग्रहीता उसे स्वीकारता है तभी स्वत्वान्तरण (मालिकाना हकमें परिवर्तन) होता है. अर्थात् अपने स्वामित्वकी कोई वस्तु देनेवाला देना चाहे और लेनेवाला उसे लेना न चाहे या लेनेवाला लेना चाहता हो परन्तु देनेवाला उसे देना न चाहता हो तो नूतन स्वत्व उत्पन्न नहीं होता. श्रद्धाभाववश प्रदत्त वैध स्वामित्ववाली किसी वस्तु या धन को देवगण अपनी दिव्य सामर्थ्यसे देवमूर्तिरूपेण भी स्वीकारते ही हैं. अतः इकतरफा मनोवृत्ति भी यहां नियामिका बन जाती है. परिस्थिति जटिल,

किन्तु, तब बनती है कि जब किसी देवमूर्तिपर किसी एक व्यक्तिका स्वत्व हो और दूसरा ऐसा व्यक्ति कि जिसका देवमूर्तिपर स्वत्व न हो फिर भी वह अपनी स्वत्ववाली धनभूमिपात्रवस्त्ररत्नअन्नादि वस्तुपरसे उस देवमूर्तिको उद्देश्य बनाकर अपने स्वत्वको छोड़कर देवके स्वत्वका संकल्प करता हो. ऐसी स्थितिमें उन धन या वस्तुओं पर देवमूर्तिका स्वत्व उत्पन्न होता है या उसका कि जिसके स्वत्वकी स्वयं देवमूर्ति हो ?

यदि हम कन्यादान या स्त्रीधन के उदाहरणद्वारा इसे समझना चाहें तो बात सुबोध बन जाती है. कन्याविवाहप्रसंगमें कन्याके पिताको कहीं-कहीं 'चांदला' उपहार देनेकी रीति है. वह कन्याके ही विवाहनिमित्त दिया जाता होनेपर भी उसपर कन्याका स्वत्व उत्पन्न नहीं होता प्रत्युत कन्याके पिताका ही होता है. कन्यादानके समय, किन्तु, जो कन्याके हाथमें दिया जाता है वह अपनी कन्यापर पिताके स्वत्वके बावजूद पिताका नहीं प्रत्युत कन्याका ही होता है. इसी तरह दाक्षिणात्य पद्धतिवाली वरदक्षिणा या दहेज पर वधूनिमित्तवशात् मिलनेके बावजूद वधूका स्वत्व नहीं होता. कन्यादानके बाद परन्तु वधूपर वरका स्वत्व या स्वामित्व उत्पन्न होनेके बावजूद कन्यादानमें कन्याके हाथमें दिये गये द्रव्य या वस्तु पर वरका स्वत्व या स्वामित्व उत्पन्न नहीं होता, स्त्रीधन होनेसे. जिस द्रव्यपर किसी स्त्रीका स्वामित्व हो एतावता उस स्त्रीके स्वामीका उस स्त्रीके स्वामित्ववाले द्रव्यपर भी स्वामित्व हो जाना चाहिये -ऐसा तर्क चल नहीं सकता. क्योंकि यदि स्वामित्व होगा भी तो वह रक्षणोपयोगी स्वामित्व ही होगा, भोगोपयोगी स्वामित्व नहीं.

यही बात देवद्रव्यपर भी लागू होती है.

लौकिक उदाहरणोंमें दाताद्वारा दित्सित वस्तुको लेनेवाला अपनी रुचि या अधिकार के अनुसार प्रतिग्रह अथवा अप्रतिग्रह द्वारा ग्राह्य अथवा अग्राह्य बनाता है. जैसे किसी ब्राह्मणको कोई मदिरा-मांस जैसी वस्तु उपहारतया देना चाहता हो, तब भी सच्चा ब्राह्मण उसे स्वीकारेगा ही नहीं. अत: केवल देनेवालेकी इच्छा या संकल्प नियामक नहीं रह जाते. ऐसे ही देवमूर्तिको भी क्या दिया जा सकता है और क्या नहीं, वह देवमूर्तिकी प्राणप्रतिष्ठाके मूलमें रहे शास्त्रीय

विधानोंका ही विषय है, केवल दाताका नहीं. अतः देवार्थ प्रदत्त वस्तुके पूजनमें सकृद् विनियोगवशात् पुनः विनियोगानर्ह वस्तुओंपर यथाशास्त्रविधि कभी देवमूर्तिका स्वत्व रहता है और कभी नहीं. जैसे हमारे सिरके बालोंको कटवानेके बाद नाई उन बालोंका क्या करता है -इसकी हम चिन्ता नहीं करते, स्वत्वत्यागवशात्. ऐसे पत्र-पुष्प-जल-नैवेद्यादिके बारेमें उनकी देवपूजनमें पुनः उपयोगिताके अभावको लक्ष्यमें रखकर शास्त्रोंने उनपरसे देवस्वत्वको निवृत्त भी किया है और दायनियमकी तरह यथायथ किसी दूसरेके स्वत्वका विधान भी और किसी तीसरेके स्वत्वका निषेध भी द्योतित किया है. तदनुसार ही पत्र-पुष्प-जल-नैवेद्यादिके उपभोगके बारेमें शास्त्रमर्यादा ही नियामक होती है, स्वच्छन्द उपभोगरुचि या स्वत्वप्रयुक्त अधिकार नहीं. जैसे परिवारके किसी अपुत्र वृद्धके दिवंगत होनेपर छीन-झपट कर उत्तराधिकारी नहीं बना जा सकता है.शास्त्र कानून या कुलरीति के अनुसार ही उत्तराधिकार मान्य किया जाता है.

दानमें स्वस्वत्वका त्याग तथा परस्वत्वका उत्पादन होता है. अतः देवस्वत्वके उत्पादनके बाद शास्त्रमें जहां देवोपभोग( अर्थात् देवपूजनमें विनियोग )के द्वारा देवस्वत्व निवृत्त हुआ माना है वहीं देवस्वत्व नहीं होता, अन्यत्र तो रहता ही है. जैसे लौकिक व्यक्ति, अपने स्वत्वनिर्वाह अथवा स्वत्वनिवृत्ति की इच्छा अपने मन वाणी या व्यवहार से प्रकट करता है, वैसे देवमूर्ति स्वपूजनविधायक शास्त्रोंद्वारा.

अतएव समर्पण या निवेदन के उदाहरणमें, जहां समर्पण-निवेदनकर्ताद्वारा न तो स्वस्वत्व निवृत्त किया जाता हो और न देवस्वत्वका उत्पादन ही, वहां भक्तद्वारा निज-स्वत्वकी वस्तुका देवमूर्तिकृत उपभोग ही केवल अभिलषित होता है. अत: निवेदन-समर्पणकी ऐसी प्रक्रियाद्वारा जब देवपूजनमें विनियोगार्थ कोई वस्तु दी जाती है तो देवस्वत्वके उत्पन्न होनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता.

पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवा उत्सर्गतया निवेदनकी प्रक्रियापर अवलंबित होती है, दानकी प्रक्रियापर नहीं. अतएव असमर्पित वस्तुके त्यागपर भार दिया गया है. साथ ही साथ, अपवादतया, कभी दानकी प्रक्रियासे भगवत्सेवार्थ कुछ

प्रदत्त हो तो उसके देवद्रव्य होनेसे उसका उपभोग वर्जित भी कर दिया गया है, पुष्टिभजनप्रकारनिरूपक ग्रन्थोंमें.

अतएव श्रीहरिरायचरणने सेवापराधनिरूपण ग्रन्थमें ३६वें अपराधतया भगवानके नामसे कुछ भी पराये जनसे मांगकर भगवत्सेवा करनेपर सेवा निष्फल जाती है –ऐसा स्पष्ट कहा है. क्योंकि भगवानके नामसे कुछ भी मांगनेपर देनेवाला जो कुछ देगा वह स्वस्वत्व निवृत्त कर भगवानका स्वत्व उत्पन्न करेगा. अतः ऐसी सेवारीतिसे बचना चाहिये. क्योंकि असमर्पितत्यागके नियममें यह बाधक बनती है. अतः पुष्टिप्रभु उसे स्वीकारते ही नहीं है. दानकी प्रक्रियासे देनेका संकल्प जैसे मानसिक वाचिक अथवा व्यावहारिक भी हो सकता है, ऐसे ही निवेदन–समर्पणकी प्रक्रियासे देनेका संकल्प भी मानसिक वाचिक या व्यावहारिक भी हो सकता है. अतएव अपनी भगवत्सेवाका सार्वजनिक प्रदर्शन, जहां दान या समर्पण का भेद ही निभ न पाता हो, पुष्टिमार्गमें प्रतिबन्धित किया गया है. सेवा केवल क्रिया तो है नहीं, वह तो भक्त्यंग अथवा भक्त्यर्थ ही करनी होती है. अतः भक्तिके रसभावके विचारवश भाष्यकारने उसे गुप्त रखनेको समझाया है. इसी तरह श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणने स्वीय भक्तोंको ही दर्शन करानेका विधान किया है. श्रीहरिरायचरणने भी, अतएव, अवैष्णवके समक्ष सेवा ही नहीं, स्वसेव्यके भी प्रदर्शनको अपराध मानकर वार्षिकसेवाकी निष्फलता तथा सेव्यस्वरूपको पंचामृतद्वारा पुनः शुद्ध करनेका विधान किया है. इन तीन वचनोंकी एकवाक्यता करनेपर सेवाका सार्वजनिक प्रदर्शन पुष्टिमार्गमें निन्दनीय ठहरता ही है.

स्वार्थ प्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूपके लिये स्व अथवा स्वकीय ही समर्पणके अधिकारी होते हैं, परकीय नहीं. परार्थ प्रतिष्ठापित देवालयस्थ भगवत्स्वरूपके लिये सभीको समर्पणाधिकार होता है. जैसे अपने परिवारजन या इष्टमित्र को अपनी कोई वस्तु उपभोगार्थ प्रस्तुत करना परोपकार या दान नहीं कहलाता. जैसे एक गृहस्थके घरमें अपारिवारिक जनका ‘आतिथ्य’ किया जाता है परन्तु परिवारजनका ‘आतिथ्य’ नहीं कहलाता. धर्मशालामें सभी यात्रिओंको रहनेका अधिकार होता है. घर एक स्वार्थनिर्मिति है तो धर्मशाला परार्थनिर्मिति.

अपने घरकी मरम्मतके लिये गामसे रुपिया मांगना 'भीख' कहलायेगी, 'समाजसेवा' नहीं. किन्तु सार्वजनिक धर्मशालाकी मरम्मतके लिये गामसे धनराशि मांगना 'भीख' नहीं कही जा सकती, वह 'समाजसेवा' है.

संक्षेपमें ये सारी बातें देवमूर्तिके स्वत्वको समझनेके स्थूलाधार हैं.हमारी यह धारणा बद्धमूल है कि विमर्शकार भी यदि इन्हें हृद्गत करते तो निरर्थक विवादमें उन्हें उलझनेकी इच्छा ही नहीं होती.

## *देवलकता*

'देवलक' उसे कहते हैं जो देवस्वके उपभोगसे अपना जीवननिर्वाह चलाता हो अथवा देवपूजनको ही जिसने अपनी आजीविका बना ली हो. देवपूजन निजार्थ धर्माचरण है, इसे आजीविकाके रूपमें करना देवपूजनका दम्भ है. इसी तरह देवपूजन करवाना ब्राह्मणकी शास्त्रविहित आजीविका है, उसे पूजा करवानेवाला अपना धर्म मानता हो तो वह केवल अज्ञान है. इस देवलकवृत्तिकी निन्दामें शास्त्रका हेतु स्पष्ट है कि अपनी आजीविकाका प्रदर्शन धर्मतया नहीं करना चाहिये और धर्मको आजीविकाका साधन नहीं बनाना चाहिये.

वृत्त्यर्थ भगवदाराधनकी यह वकालत कि ''सर्वथा श्रद्धाविरहित केवल वृत्त्यर्थ भगवदाराधन देवलकता है परन्तु श्रद्धासहित वृत्त्यर्थ भगवदाराधन देवलकता नहीं है'', शुद्ध अकाण्डताण्डव है. क्योंकि फिर तो चोरी करनेका शास्त्रीय निषेध भी केवल चोरी करनेकी बुद्धिसे ही चोरी करनेमें पाप मानता है परन्तु किसी धनवानको धनमदके दोषसे छुटकारा दिलानेके सदाशयके साथ चोरी करनेमें गुनाह नहीं है – ऐसे स्वीकारना पड़ेगा. व्यभिचार भी किसीमें केवल परस्त्री या केवल परपुरुष की बुद्धि रखनेपर दोष होगा परन्तु परस्त्री या परपुरुष की कष्टप्रद कामपीड़ाको निवृत्त करनेके परोपकारकी भावनाके साथ करनेपर वह व्यभिचार भी दोष नहीं रह जायेगा. मांसभक्षण भी केवल मांसबुद्ध्या भक्षण करनेपर दोषजनक होगा, प्राणाग्निहोम करनेके उदात्तभावके साथ मांसभक्षण भी दोषपूर्ण नहीं रह जायेगा. फिर तो देवद्रव्योपभोगकी निन्दा या देवलकवृत्तिकी निन्दा का भी बुरा तब ही मानना चाहिये, जब केवल निन्दाबुद्धिसे वह की जाती हो. जब

वह निन्दा आचार्यवंशज अपने माथे बिराजते सेव्यस्वरूपकी सेवामें स्वयं अपने ही द्रव्यका विनियोग करें –ऐसी सद्भावनाके साथ की जाती हो तो ऐसी निन्दाका भी बुरा नहीं मानना चाहिये !

कहा जाता है कि ''देवतागुरुपूजार्थं यत्नतोप्यर्जयेद् धनम्'', अतः देवपूजनार्थ परायोंका वित्त मांगना–वापरना देवलकता नहीं. इस वचनमें स्पष्टतया यह कहा जा रहा है कि देवता तथा गुरु के पूजनके लिये प्रयत्नपूर्वक धन अर्जित करना चाहिये परन्तु ऐसे तो नहीं कहा कि देवगुरुपूजनको ही धनोपार्जनका उपाय बना लेना चाहिये !

इसी तरह जो ''येन केन प्रकारेण विष्णोराराधनं परं तस्माद् देवलकत्वं तु न विष्णुविषये क्वचित्'' वचन मिलता है, उसमें यदि ''येन केन प्रकारेण''से मिलती छुटके इर्दगिर्द कोई लक्ष्मणरेखा ही न स्वीकारनी हो तो ठगी–चोरी–डकैती–धनिकोंकी हत्याके प्रकारोंसे भी अर्जित धनसे विष्णुके आराधनको धर्मानुमोदित मानना पड़ेगा. यदि कहीं लक्ष्मणरेखा खींचनी हो तब उस वृत्तके बाहर धनोपार्जनके उपायतया स्वयं विष्णुकी आराधनाको तो रखना ही पड़ेगा. क्योंकि इस वचनमें भी विष्णुकी आराधनाकी साध्यता ही निर्दिष्ट हो रही है, साधनता नहीं. इसी तरह अनिर्दिष्ट प्रकारोंकी साधनता भी तृतीया विभक्तिद्वारा द्योतित हो रही है. ऐसी स्थितिमें ''अनिषिद्धेन येन केन प्रकारेण'' अर्थ अकाम गलेपतित होगा. अन्यथा चण्डीयागके अनुष्ठानार्थ या भैरवजीके मन्दिरनिर्माणार्थ या शिरडीसांईबाबाको साठ हजार रुपयोंकी कीमती चद्दर चढानेके लिये यदि कोई विष्णुकी आराधना धनोपार्जनके उपायरूपेण करता हो तो उसे भी पुष्टिभक्तिकी प्रधानकाष्ठाके रूपमें मान्य करना पड़ेगा ! स्पष्ट है– इस प्रकारमें यदि भक्तिमार्गकी दृष्टिसे, महाप्रभुके विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थमें निषिद्ध अन्याश्रयका दोष लगता हो तो, अपने संसारको चलानेके लिये कृष्णसेवाके अनुष्ठान करनेपर शिक्षाश्लोकी ग्रन्थमें निषिद्ध बहिर्मुखता दोष लगता है, यह भी स्वीकारना पड़ेगा.

कुछ आधुनिक अपठित आचार्यवंशज इधर प्रचार कर रहे हैं कि षोडशग्रन्थ तो वैष्णवोंके लिये ही महाप्रभुद्वारा उपदिष्ट हैं अतः षोडशग्रन्थकी आज्ञायें स्वयं महाप्रभुके वंशजोंपर लागू नहीं होती. तब तो स्पष्ट हो जाता है कि

शिक्षाश्लोकीको, जिसे महाप्रभुने अपने वंशजोंको संबोधित करके ही उपदेश दिया है, उसे महाप्रभुके वंशजोंको अपने उपर बन्धनकारी मानना ही पड़ेगा! एतदर्थ महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणद्वारा उपदिष्ट शिक्षाश्लोकीद्वारा ही इस आमुखका उपसंहार हम करना चाहेंगें :

**मूल :** **यदा बहिर्मुखा यूयं भविष्यथ कथञ्चन ।**
**तदा कालप्रवाहस्था देहचित्तादयोप्युत ।।**
**सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मानिति मतिर्मम ।**
**न लौकिकः प्रभुः कृष्णो मनुते नैव लौकिकम् ।।**
**भावस्तत्राप्यस्मदीयः सर्वस्वश्चैहिकश्च सः ।**
**परलोकश्च तेनायं सर्वभावेन सर्वथा ।।**
**सेव्यः सएव गोपीशः विधास्यत्यखिलं हि नः ।**

**भावानुवाद :** जब तुम ''येन केन प्रकारेण'' बहिर्मुख हो जाओगे तब कलिकालके या विषयावेशके आवेगके प्रवाहमें बहते तुम्हारे देह (जिसके पोषणार्थ नित्य भगवत्सेवा आजीविकाके रूपमें की जाती है) और चित्त (जिसमें रहे पीठाधीशत्वादिके प्रतिष्ठामोहके पोषणार्थ छप्पनभोगादि मनोरथोंके सार्वजनिक प्रदर्शन किये जाते हैं) आदि ही तुम्हें सभी तरहसे निगल जायेंगें! – ऐसी बिलकुल साफसाफ मेरी समझ है. क्योंकि श्रीकृष्ण हमारे लौकिक स्वामी नहीं है, अतः हमारे ऐसे मनो(रथ)भावोंको वे बिलकुल पसन्द नहीं करेंगें. अपना ऐहिक पारलौकिक सभी कुछ श्रीकृष्णको मानकर (अर्थात् अपने लौकिक ऐश्वर्य, रक्षापोषण, धन-पद-प्रतिष्ठा को अपना प्रयोजन मानकर नहीं) सर्वभावसे श्रीकृष्णको ही अपना सर्वस्व मानकर भजन करो. अपने सेवकके हितमें जो कुछ भी उचित होगा वह सभी कुछ स्वयं श्रीकृष्ण करेंगें ही.

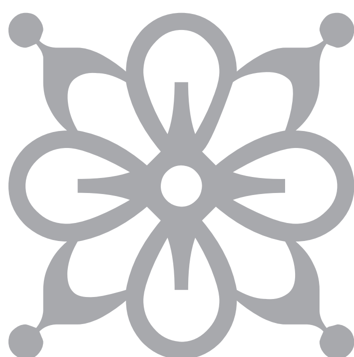
हम आचार्यवंशज यदि इस शिक्षाश्लोकीको हृदयंगम करते तो न विमर्श ग्रन्थकी आवश्यकता रह जाती और न ही इस विशोधनिकाकी. पांच सौ वर्षोंसे चले आ रहे इस सम्प्रदायके लिये इस विमर्श ग्रन्थ तथा विशोधनिका का प्रकट होना सचमुचमें एक सामुदायिक लज्जाका विषय है. फिर भी

‘‘सिद्धान्तवचनावलीका अनुवाद मूंहमें भर कर तो लाया हूं पर बोलूं कैसे ? शास्त्रार्थ तो करने न्याय–व्याकरण–काव्यादिमें पारंगत होनेसे सभी तरह सक्षम हूं पर तटस्थ मध्यस्थके अभावमें अपनी युक्ति प्रकट कैसे करूं ? चूंकि कि चर्चा तो अधूरी ही रही थी पर बड़ोंने पूर्वसूचनाके बिना मुझे अभिनन्दित करना चाहा तो उसे इन्कारूं कैसे ?’’ –ऐसी शाखामृगैक–शोभनीय निरन्तर शाखाचंक्रमणकी नितान्त बचकानी हरकतें करनेके बजाय जो भी अपना मत हो उसे विद्वज्जनोचित साहस तथा शिष्टजनोचित शान्त स्पष्ट और पर्याप्तप्रमाणोपन्यासयुक्त भाषामें प्रकट करना एक अच्छी बात है. विमर्शकारकी प्रस्तुत कृति, कमसे कम इस हेतुवश,निश्चय ही नितान्त अभिनन्दनीय है – इसे स्वीकार करनेमें मुझे तनिक भी संकोच नहीं है. मुझसे इन प्रशंसनीय गुणोंका निर्वाह भलीभांति हो नहीं पाया है अपनी इस न्यूनताका मुझे अपने इस लेखनमें भान तो है परन्तु इस अक्षमताको दूर नहीं कर पा रहा हूं तदर्थ सभी सहृदय पाठकोंसे क्षमायाचना करते हुए...

*वि.सं. २०४९* *गोस्वामी श्याममनोहर*

*चैत्र कृष्णा अष्टमी*

## *विशोधनिका – द्वितीयप्रकरणसूचि*



।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

*शास्त्रीय सन्दर्भमें :*

# *पुष्टिमार्गीय – सेवार्थ आजीविकास्वरूप विशोधनिका*

### *उपक्रम*

जयति जगति वाणी कापि दोषप्रहाणी
विमतिदुरुदितस्य स्वाध्वसंक्षोभकस्य
निरसितुमिह दोषं देहि तां भावशुद्धिं
व्रजपतिरतिमार्गाद् भ्रंसतां नैव कोपि ।।

**मूल :** याममात्रं भगवत्सेवां विधाय पश्चाद् अनिषिद्धेन उपायेन जीवनं सम्पादयेत्. पारम्पर्यजीवनमपि निषिद्धं चेत् तदा त्यक्तव्यम्, ‘‘अचौराणामपापानाम्’’ (भाग. ७।११।३०) इतिवचनात् (त.दी.नि. सर्वनि. प्रका. २३२).

निर्गुणस्य भक्तियोगस्य तल्लक्षणम् उदाहृतम् इति प्रमाणम्. आत्यन्तिकभक्तेः लक्षणम् आह‘अहैतुकी’इति सार्धाभ्याम्. या अहैतुकी पुरुषोत्तमे भक्तिः सएव भक्तियोग आत्यन्तिक उदाहृत इति सम्बन्धः. पुरुषोत्तम एव भक्तिः नतु पुरुषेषु अवतारेषु वा. ‘भक्ति’श्च प्रेमपूर्विका सेवा.हेतुः=फलानुसन्धानं,तद्रहिता‘अहैतुकी’= अनिमित्ता. अनेन सगुणा निवारिता.‘अव्यवहिता’=कालेन कर्मणा वा यत्र सेवायां व्यवधानं नास्ति, नतु निद्राभोजनादिना, तस्य सेवाहेतुत्वात्.‘या भक्तिः’इति लोकवेदप्रसिद्धा नतु चौर्यादिना विषयान् सम्पाद्य भगवत्सेवाकरणम् (सुबो. ३।२९।१२).

**भावानुवाद :** अधिक शक्य न हो तो एक यामभर भी भगवत्सेवा करनी चाहिये और भगवत्सेवा कर लेनेके बाद शास्त्रतः अनिषिद्ध उपायसे आजीविका अर्जित करनी चाहिये. कुलपरम्परासे चली आ रही आजीविका भी यदि

शास्त्रनिषिद्ध हो तो उसका त्याग कर देना चाहिये, ''अचौराणामपापानाम्'' वचनमें यही बात कही गई है.

निर्गुण भक्तियोगका लक्षण जो निरूपित किया है वही उसे जाननेका प्रमाण है. आत्यन्तिक भक्तिका लक्षण यह है: पुरुषोत्तममें जो अहैतुकी भक्ति होती है उसे ही 'आत्यन्तिक भक्तियोग' कहते हैं, भक्तिका पुरुषोत्तममें होना आवश्यक है, पुरुषोंमें या पुरुषोत्तमके अवतारोंमें नहीं. 'भक्ति'का अर्थ होता है प्रेमपूर्विका सेवा. किसी फल ( आजीविका-धन-ऐश्वर्य-प्रतिष्ठादि ) के आशय अर्थात् हेतुसे रहित भक्ति 'अहैतुकी = अनिमित्त भक्ति' कहलाती है. अर्थात् वृत्त्यर्थ-प्रतिष्ठार्थ-ऐश्वर्यार्थ की जाती भक्ति सगुणा भक्ति होती है. वह नहीं करनी चाहिये. वह भक्ति काल या कर्म से अव्यवहित भी होनी चाहिये, अर्थात् हमारे काल और कर्म सेवामें व्यवधान नहीं बनने चाहिये. जैसे कि निद्रा या भोजनादि भक्तिमें व्यवधान बन जाते हैं जब इन्हें भक्त्यर्थ हम नहीं करते. भक्ति वही जो लोकवेदमें प्रसिद्ध उपायों या सामग्री से की जाये. अर्थात् चोरी डकैती आदि शास्त्रनिषिद्ध-लोकनिषिद्ध उपायोंसे सामग्री जुटाकर भगवत्सेवा नहीं करनी चाहिये( अर्थात् भक्त्यर्थ वृत्ति-प्रतिष्ठा-ऐश्वर्य बाधक नहीं होते परन्तु वृत्त्यर्थ-प्रतिष्ठार्थ-ऐश्वर्यार्थ की जाती भक्ति सगुणा भक्ति होती है ).

इसमेंसे प्रथम वचनके आवरणभंगमें श्रीपुरुषोत्तमजीने जो समझाया है उसका सार कुछ इस तरह है: श्रीमद्भागवतके ''किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकंकाः यवनाः खसादयः येऽन्ये च पापाः यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः'' वचनके बलपर भगवानके भजन-कीर्तनादि करनेका अधिकार सभीको है. फिर भी ''शुद्ध आहार लेनेपर सत्त्वशुद्धि'' ( छान्दोग्योपनिषद् ) होती है अतः आहारशुद्धिके लिये शास्त्रतः जो विहित आजीविकायें हैं उन्हीं वृत्तिओंके द्वारा सम्पादित अन्न शुद्ध होता है. अतः इस आवश्यकताको दृष्टिगत रखते हुए कभी-कभी शास्त्रविहित वृत्तिका भी संकोच करना आवश्यक हो जाता है.क्योंकि''अकारण प्रदत्त धनका प्रतिग्रह करनेसे ब्राह्म तप तेज तथा यश तीनों ही क्षीण होते हैं.अतः प्रतिग्रहवृत्तिके शास्त्रविहित होनेपर भी याजन और अध्यापन की वृत्तिद्वारा ही निर्वाह चलाना ब्राह्मणके लिये श्रेयस्कर होता

है''(भाग. ११।१७।४१)वचनमें भी यही बात समझाई गई है. भागवत(७।११।३०)में भी ब्राह्मणादि चार वर्णोंकी वृत्तिके निरूपणके बाद नारदजीने वर्णसंकरों, शूद्रों, तथा अवशिष्ट वर्णबाह्य लोगोंकी वृत्तिके बारेमें यह स्पष्ट विधान किया है कि उनकी जो भी वृत्ति, चोरी या ऐसे अन्य पापोंवाली न हो तो,कुलक्रमागत ही हो सकती है. अतः शुद्ध वृत्तिका अवलम्बन करनेपर ही तामस-राजस-सात्त्विक ऐसी सगुण अवस्थाओंके बाद निर्गुणावस्था क्रमशः प्राप्त हो सकती है. इसका सुविशद विचार श्रीपुरुषोत्तमजीने स्ववृत्तिवादमें भी किया है.(आवरणभंग २३२का सारांश).

भगवत्सेवा, जिसका 'तनुवित्तजा' प्रमुख स्वरूप है, उसे निभाना प्रत्येक पुष्टिमार्गीयकेलिये अपरिहार्य कर्तव्य है. सभी वर्णी, वर्णसंकर, शूद्र तथा वर्णबाह्यों को भी अपने-अपने घरोमें अपने-अपने पारिवारिक जनोंके सहयोगसे अपने-अपने तनु-वित्तके विनियोगपूर्वक भगवत्सेवा करनेके अधिकार और कर्तव्य दोनों ही हैं.

इस अधिकार तथा कर्तव्य के निर्वाहार्थ गृह-परिवार-चित्त-तनु-वित्त सभीको अव्याकुल रखना भी आवश्यक माना गया है. तदर्थ कुछ शुद्धिनियमोंको भी आवश्यक माना गया है. ये वेही शुद्धिनियम हैं जिन्हें आज हम 'अपरस' कहते हैं. ये शुद्धिनियम सभी वर्णी या वर्णेतरोंके लिये एकसमान नहीं हो सकते. उदाहरणतया पुष्टिमार्गीय गोस्वामी महानुभावोंकेलिये किन्हीं ब्राह्मणोंके हाथसे पक्वान्नग्रहणकी छूट थी, अन्यसे नहीं. इस नियमका गोस्वामीतर पुष्टिमार्गीयोंसे कुछ भी लेना-देना नहीं था. स्नानाशनपानादिके कुछ न्यूनतम सामान्य आचारनियम अवश्य ही पाये जाते हैं.

साथ ही साथ यह भी एक तथ्य है कि शास्त्रतः निषिद्ध अनेक अनाचार भी देश-कालके प्रभाववशात् आज इतने व्यापकरूपमें समाजके भीतर पैठ गये हैं कि कोई व्यक्ति बचना चाहे तब भी उन अनाचारोंसे अपने आपको बचा नहीं सकता है. ऐसी स्थितिमें शास्त्रकी कसौटीपर खरे उतरनेवाले विहित-निषिद्ध आचारानाचार भी बहुधा कृत्यर्हता अर्थात् कर पानेकी अपनी सामर्थ्यकी कसौटीपर विफल हो जाते हैं. अतएव किसी भी कर्मके आवश्यक कर्तव्य होनेकी

कसौटी तीन मानी गई हैं :

(१) वह शास्त्रद्वारा विहित होना चाहिये या निषिद्ध न होना चाहिये.

(२) वह स्वाधिकारानुरूप अभिलषित फलका साधक होना चाहिये.

(३) वह हमारे सामर्थ्यके अनुरूप शक्य होना चाहिये.

कुछ कार्य करनेको हम समर्थ हो सकते हैं, उदाहरणतया ब्राह्मण मदिरापान करने समर्थ भी हो; एतावता मदिरापान कर लेना धर्म नहीं हो सकता. मदिरापान ब्राह्मणके लिये शास्त्रनिषिद्ध होनेके कारण वह कभी धर्म नहीं हो सकता है.

कुछ कार्योंको करने हम समर्थ हों और शास्त्रमें उसकी विधि भी मिल सकती है. शास्त्र, परन्तु, उसका जिस फलके साधनतया विधान करता है, वह फल ही यदि हमें अभीष्ट न हो तो, या उसे पानेका हमारा अधिकार ही न हो तो, वह कार्य हमारे लिये धर्म नहीं रह जाता है. उदाहरणतया ऐकान्तिक विष्णुभक्तको या ऐकान्तिक शिवभक्तको अपने-अपने इष्टदेवसे इतर देवका पूजन धर्मरूप नहीं होता, तज्जन्य फलके अनभीष्ट होनेके कारण.

इसी तरह शास्त्रविहित होने तथा इष्टसाधन होनेकी कसौटीपर खरे उतरनेवाले किसी कर्मके भी कृत्यर्ह न होनेपर, अर्थात् हमारे लिये उसे कर पाना शक्य न होनेपर, वह हमारे लिये धर्मरूप नहीं रह जाता. उदाहरणतया अधर्मबहुल प्रदेशका त्याग करके धर्मबहुल प्रदेशमें निवास करना चाहिये -इस बारेमें शास्त्राज्ञा स्पष्ट होनेपर भी तथा हमें अभीष्ट होनेपर भी कहां बसना ? क्योंकि सर्वत्र एक जैसा ही प्रकार सम्प्रति चल रहा है.

स्नान-अशन-पान आदिके शारीरिक व्यवहारमें जो आचारव्यवस्था अनुसरणीय है वही आजीविकाके उपार्जनके आर्थिक व्यवहारमें भी अनुसरणीय है. वैसे यह एक अटल शास्त्रीय तथ्य है कि सभी तरहकी शुद्धिओंसे उत्कृष्ट धनशुद्धि होती है. क्योंकि शुद्ध धनसे अपरस पालनेवाला शुद्ध होता है परन्तु अशुद्ध धनसे अपना निर्वाह चलानेवाला कितनी भी बड़ी अपरस कुआके जलकी

और मिट्टीकी क्यों न वापरे, शुद्ध हो नहीं सकता. ("सर्वेषामपि शौचानाम् अर्थशौचं परं स्मृतं योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः" – मनुस्मृ. ५।१०६). आज कुएके जलके बिना ठाकुरजीकी झारीमें जल भरा नहीं जा सकता – कहनेवाले स्वयं देवलकवृत्तिसे नहीं छूते हैं, किमाश्चर्यमतः परम् !

अतएव विष्णुस्मृतिमें गृहस्थाश्रमिओंके बारेमें तीन तरहके धनका निरूपण किया गया है :

(१) शुक्ल धन
(२) शबल धन
(३) कृष्ण धन

"शुक्ल धनसे ऐहिक कर्मोंका निर्वाह दैविक = अभिनन्दनीय माना गया है. शबल धनसे ऐहिक कर्मोंका निर्वाह मानुष्य = अनिन्दनीय होता है. कृष्ण धनसे ऐहिक कर्मोंका निर्वाह तिर्यक्त्व = निन्दनीय होता है. शास्त्रतः जिसे जो वृत्ति विहित हो उस वृत्तिसे उपार्जित धन उसके लिये शुक्ल धन होता है. अनन्तरित वृत्ति, अर्थात् ब्राह्मणको क्षात्रवृत्ति या क्षत्रियको वैश्यवृत्ति या वैश्यको शूद्रवृत्ति से अथवा शूद्रको वर्णबाह्योंकी वृत्तिसे प्राप्त धन शबलधन होता है. इसी तरह अन्तरित; यथा ब्राह्मणकेलिये वैश्य-शूद्र-वर्णबाह्यवृत्ति, क्षत्रियके लिये शूद्र-वर्णबाह्यवृत्ति या वैश्यके लिये वर्णबाह्यवृत्ति द्वारा उपार्जित धन कृष्णधन होता है. पितृक्रमागत प्रीतिवश भेंटमें मिला या भार्याके साथ मिला धन सभीकेलिये शुक्ल ही होता है. इसी तरह घूंस खाकर, अविक्रेय वस्तुके विक्रयद्वारा, प्रत्युपकारार्थ प्राप्त धन शबलधन होता है. सूदखोरी, चोरी, जुआ, डकैती द्वारा मिला धन कृष्णधन होता है. पुरुष जो कुछ जैसे द्रव्यसे करता है वैसा ही फल उसे इस लोकमें तथा परलोकमें मिलता है" (विष्णुस्मृ. अध्याय ५८).

इन शास्त्रीय सन्दर्भोंको दृष्टिगत रखकर अन्य किसी भी पुष्टिमार्गीय वैष्णवकी सेवोपयोगी आजीविकाके स्वरूपका विचार अप्रासंगिक तथा अनावश्यक होनेसे केवल पुष्टिमार्गीय धर्मगुरुओंकी आजीविकाके शास्त्रशुद्ध रूपका विचार हमारे इस लेखनका प्रयोजन है. मूलतः यह किसी वैयक्तिक

सन्दर्भमें हमें निर्धारित नहीं करना है, क्योंकि किस व्यक्तिकी क्या-कैसी सामर्थ्य है या नहीं है - इसे निर्धारित करनेका न तो हमारा अधिकार ही हम स्वीकारते हैं और न उससे अभीष्ट प्रयोजन ही सिद्ध हो पायेगा. अतः कृत्यर्हताका विचार तो आत्मालोचनद्वारा ही सम्भव है. फिर भी धर्मतया शास्त्रविहित कोई कृत्य हमसे शक्य हो या अशक्य हो, किसी भी सूरतमें एक व्यक्तिकी वैयक्तिक सामर्थ्य या असामर्थ्य किसी दूसरे व्यक्तिकेलिये अनुकरणीय आदर्शतया स्वीकारी नहीं जा सकती, वह व्यक्ति चाहे कितनी भी उच्च पदवीपर समारूढ़ क्यों न हो ! अतः धर्मनिर्धारक तीन घटकोंमेंसे कृत्यर्हताको नितान्त वैयक्तिक मानते हुए अवशिष्ट शास्त्रविहितता तथा इष्टसाधनता रूप घटकोंका ही विचार हमें करना है.

वैसे तो कहा जा सकता है कि किसे क्या अभीष्ट है या क्या अनभीष्ट - यह भी वैयक्तिक प्रश्न ही है, फिर भी यदि किसी व्यक्तिको धर्मगुरुत्वके अधिकार या उत्तरदायित्व का वहन करना हो तो कैसी अभिलाषा उसकी धर्म्य हो सकती है और कैसी नहीं - यह निर्धारण शास्त्रतः शक्य होनेसे उसकी वैचारिक संगति है ही. कहा तो कृत्यके लिये भी जा सकता है कि एक धर्मगुरुके लिये कैसी कृति धर्म्य हो सकती है और कैसी नहीं - यह निर्धारण भी शास्त्रतः शक्य होनेसे वह विचार भी कर लेना चाहिये. यहां यह अवधेय है कि निर्वैयक्तिक सन्दर्भमें, अर्थात् धर्मगुरु होनेके स्वरूपमें तो वह इष्टसाधनता तथा शास्त्रविहितता से गतार्थ है; और सर्वथा वैयक्तिक सन्दर्भमें शास्त्रतः निर्धारित होनेपर भी जो अशक्य है वह शक्य हो नहीं पाता. अतः विचार कर भी लें तो वह विशेष लाभदायक नहीं हो सकता.

पुष्टिभक्ति शास्त्रविहित अनुष्ठेय कर्म नहीं है परन्तु महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणद्वारा निर्दिष्ट पुष्टिप्रभुकी आराधना है. फिर भी उस पुष्टिभक्तिका बहाना बनाकर किसी भी शास्त्रीय विधि-निषेधोंके उल्लंघन करनेकी कोई छूट महाप्रभुने दी नहीं है. महाप्रभुकी उपदेशनीति ''अविहितत्वे सति अविरुद्धत्वम्'' की है, जिसकी विवेचना आगे की जायेगी. अतः किसी भी बातकी शास्त्रविहितता अथवा शास्त्रनिषिद्धता के विचारमें श्रुति-स्मृति-पुराण-तन्त्रादि शास्त्रोंके वचन तथा महाप्रभुप्रभृति पुष्टिमार्गीय पूर्वाचार्योंके वचनों के

परस्पर समन्वयद्वारा ही धर्मरूप कर्तव्यका अथवा अधर्मरूप अकर्तव्यका स्वरूप निर्धारित हो सकता है, अन्यथा नहीं.

इस सन्दर्भमें महाप्रभुके ये विषयसंग्राहक वचन मननीय हैं: ''आद्यन्तयोस्तु भिक्षान्नं द्वितीये तु शिलोञ्छनं, तृतीये वन्यभेदाः स्युर्भिक्षायामपि संयमः, गुरुसेवा कर्मकृतिस्तपः पर्यटनं क्रमात्, स्वाध्यायेन तथा कृत्या तपसा मानसा मखाः, अत्यावश्यकमेतद्धि चतुर्णां तत् पृथक् पृथक्, श्रेयान् स्वधर्मोविगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्, स्वधर्मेनिधनं श्रेयः परधर्मोभयावहः, उत्तरोत्तरधर्मेषु निष्ठायामधिकं फलं, तस्य चेत् परमा भक्तिः तिरोधानं भविष्यति ... भक्तेरपि स्वाश्रमधर्मसहितज्ञानसहितायाएव तिरोधाननाशकत्वम् उक्तं भवति. एषा भक्तिः माहात्म्यज्ञानपूर्वकपरमस्नेहरूपा, तथाभूता भगवत्परिचर्यायुक्ता भवेत् ... स्वतः पुरुषार्थरूपा सेवा चेत् सा भक्तिः 'स्वतन्त्रा' इति उच्यते ( त.दी.नि. सर्वनि. प्रका. १९३-१९६ ). अर्थात् ब्रह्मचारीकी वृत्ति भिक्षा है तथा धर्म गुरुसेवा और स्वाध्याय. गृहस्थकी वृत्ति शिलोञ्छादि और धर्म यज्ञादि कर्मोंका शरीरसे अनुष्ठान. वानप्रस्थकी वृत्ति वन्य फलोंपर निर्भर रहनेकी तथा धर्म तपस्या. संन्यासीकी वृत्ति भिक्षा तथा धर्म पर्यटन और मानसयज्ञ. यों इन चारों आश्रमोंके वृत्ति और धर्म अलगअलग होते हैं. परधर्मके भलीभांति अनुष्ठानके बजाय अपने धर्मका विगुण अनुष्ठान भी अधिक श्रेयस्कर होता है. भयावह परधर्मको अपनाकर बचनेके मोहके बजाय स्वधर्मको निभाते हुए मर जाना बेहतर होता है. उत्तरोत्तर धर्मोंमें निष्ठाके बढ़ते जानेपर उत्तरोत्तर श्रेष्ठ फल मिलता है. साथ ही साथ भगवानमें परम भक्ति हो तो भगवत्प्राकट्य अवश्य होता है. अपने आश्रमधर्मोंके साथ माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहरूपा भक्ति होनी चाहिये. भक्ति यदि भगवत्सेवाके साथ हो तो वह 'परमा भक्ति' कहलाती है. स्वतःपुरुषार्थतया भगवत्सेवा करना 'स्वतन्त्रा भक्ति' कहलाती है.

श्रुत्यादि शास्त्रविहित कर्तव्य किसी वर्ण या आश्रम अथवा केवल मनुष्यता को लक्ष्यमें रखकर दिये गये हो सकते हैं. अतः वे उन-उन दृष्टिकोणोंसे यावद्देहाभिमान हमारे लिये नियत कर्तव्य ही होते हैं. उल्लिखित स्वतन्त्रभक्तिरूप पुष्टिधर्मका उपदेश देहाभिमानको लक्ष्यमें रखकर नहीं किया गया है, प्रत्युत जीवात्मा-परमात्माके बीच प्रकट हुए अंशांशिभाव, अर्थात्

आत्मधर्मको लक्ष्यमें रखकर किया गया है. पुष्टिमार्गीय भी जैसे देहवान होते हैं वैसे ही आत्मवान भी होते ही हैं.अतः उनके वर्णाश्रमधर्मरूप या वर्णाश्रमेतर-धर्मरूप कर्तव्य या अधर्मरूप अकर्तव्य का विचार सामान्य शास्त्र तथा महाप्रभुप्रभृति पूर्वाचार्योंके परस्पर समन्वित वचनोंसे ही निर्धारित हो सकता है, अन्यथा नहीं.

यही कारण था कि प्रथम प्रकरणमें हमने पुष्टिभक्तिरूप सेवाके तनुवित्तजारूप नियत कर्तव्यके निर्धारणमें महाप्रभुप्रभृति पूर्वाचार्योंके वचन तथा वित्तजा कृतिमें आवश्यक स्वस्वामिक वित्तके स्वरूपके निर्धारणार्थ वित्तदान और वित्तागम के धर्म्य प्रकारोंकी विवेचना सामान्य शास्त्रोंके आधारपर देनेकी चेष्टा की थी. क्योंकि ''कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा'' महाप्रभूपदिष्ट वचनकी व्याख्यामें प्रभुचरणने ''वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा - एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्'' वचनमें वित्तदान और वित्तग्रहण के प्रसंगमें तनुवित्तजा सेवाको परिभाषित किया है. उल्लेखनीय यहां यही है कि विमर्शकाराभिनन्दित वृत्त्यर्थ भगवत्सेवा अपनी स्वतःपुरुषार्थरूपता खो देती है. अतः वह भक्ति न रहकर केवल अर्थपुरुषार्थरूपा आजीविका बन जाती है, निषिद्ध होनेसे निन्दिताचरण भी.

इसी तरह सामान्य शास्त्रवचनों तथा महाप्रभुप्रभृति पूर्वाचार्योंके वचनोंके समन्वित अभिप्रायकी पूर्वप्रकरणवत् विवेचना करना भी इस प्रकरणका भी प्रयोजन है. वैसे ही 'सेवा-देवद्रव्यादि विमर्श' ग्रन्थके असमंजस विधानोंका विशोधन करना भी अभिप्रेत है ही, यथापूर्व.

## *सिद्धान्तसार*

**यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सो अधमः इति.** - सुबो. २।९।१९.

**जो स्वार्थवश भगवत्सेवा करता हो उसे अधम समझना चाहिये.**

- महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

# ब्राह्मणत्व

**मूल :** विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ।।१५५ ।।
न हायनैः न पलितैः न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयः चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ।।१५४ ।।
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालम् इत्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ।।१५३ ।।
अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्यात् श्रुतोपक्रियया तया ।।१४९ ।।
यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ।।१५७ ।।
यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि निष्फला ।
यथा चाज्ञे फलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ।।१५८ ।।
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।।१६८ ।।

( मनुस्मृ. अध्याय २ ).

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते ।।
वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ।।
इष्टं पूर्तं प्रकर्तव्यं ब्राह्मणेन प्रयत्नतः ।
इष्टेन लभते स्वर्गः पूर्तेन मोक्षमाप्नुयात् ।।
इष्टापूर्तौ द्विजातीनां सामान्यौ धर्मसाधनौ ।
अधिकारी भवेच्छूद्रो पूर्तेधर्मेन वैदिके ।।

( अत्रिसंहिता )

न यज्ञार्थं धनं शूद्राद् विप्रो भिक्षेत् कर्हिचित् ।
यजमानो हि भिक्षित्वा चाण्डालः प्रेत्य जायते ।।
यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति ।
स याति भासतां विप्रः काकतां तु शतं समाः ।।
देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः ।
स पापात्मा परलोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ।। ( मनुस्मृ. ११ ।२४-२६ )

**अनुवाद :** शूद्रवर्णमें जन्मना ज्येष्ठत्व होता है, वैश्यवर्णमें धनधान्यके प्राचुर्यवशात् ज्येष्ठत्व होता है, क्षत्रियवर्णमें शक्तिके आधिक्यवशात् ज्येष्ठत्व होता है जबकि ब्राह्मणवर्णमें ज्ञानाधिक्यवशात् ही ज्येष्ठत्व होता है. न तो व्यतीत वर्षोंके कारण, न केशोंकी सफेदीके कारण, न वित्तके कारण; और न कुलबन्धुवर्गकी बहुलताके कारण ही कोई ब्राह्मण महान हो सकता है. ऋषिओंने तो इसे ही धर्मतया मान्य किया है कि जो भी हममेंसे वेद वेदांगादि शास्त्रोंको भलीभांति समझा सकता हो वही हमारे बीचमें महान माना जायेगा. बालक अज्ञानी होता है जिसे मन्त्रदाता पिता ज्ञान देता है. इसलिये जो अज्ञानी है उसे बालकतुल्य ही समझना चाहिये और जो मन्त्रदाता हो उसे पिताके तुल्य समझना चाहिये. अल्प या अधिक जितने भी वेदादि शास्त्रका जो उपदेश करनेवाला कोई हो, उसके उस सुनानेके उपकारका कृतज्ञ होकर उसे अपना गुरु मानना चाहिये. जैसे काठका हाथी या चमड़ेके बने मृग होते हैं, वैसे ही अनपढ़ ब्राह्मण भी नाममात्रका ही ब्राह्मण होता है. जैसे स्त्रियोंके लिये नपुंसक पुरुष किसी कामका नहीं होता, जैसे गायोंके बीच गाय किसी कामकी नहीं होती, जैसे मूर्खको दिया गया दान किसी कामका नहीं होता, ऐसे ही वेदज्ञानरहित ब्राह्मण भी किसी कामका नहीं होता. वेद पढ़े बिना जो द्विज अन्य किसी विषयमें परिश्रम करता है वह, मरकर नहीं परन्तु जीते जी ही,अपने वंशसहित अपने आपको शूद्र बना लेता है. ( मनुस्मृ. )

(लड्डु पूड़ी सीरा खीर दहीभात मठड़ी के मनोरथोंके धंधोंमें उलझकर अपने कर्तव्यकी इतिश्री माननेवाले हम गोस्वामिओंके सामने आज ये वचन आरसीकी तरह रखनेपर कैसा प्रतिबिम्ब दिखलाई देता है - यह कहने-सुनने-

सोचने-समझनेकी हिम्मत कहांसे कोई स्वमार्गी जुटा पायेगा ! )

अग्निहोत्र तप सत्य तथा वेदोंका परिपालन आतिथ्य तथा वैश्वदेव को 'इष्टकर्म' कहा जाता है. वापी-कूप-तड़ाग-देवालय-अन्नक्षेत्र-उपवनादि सार्वजनिक हितके कार्य करना 'पूर्तकर्म' कहा जाता है. ब्राह्मणको इष्टकर्म तथा पूर्तकर्म दोंनो ही प्रयत्नपूर्वक करने चाहिये. इष्टकर्मसे स्वर्गप्राप्ति होती है, पूर्तकर्मसे ( लाभ-पूजा नहीं, अर्थात् लाभपूजार्थ नहीं प्रत्युत ) मोक्षप्राप्ति होती है. ये सभी द्विजोंके सामान्य कर्तव्य हैं, शूद्रोंका इष्टकर्ममें अधिकार नहीं परन्तु पूर्तकर्ममें अधिकार है. ( अत्रिसंहिता ).

ब्राह्मणको यज्ञकेलिये अद्विजोंसे कभी धन मांगना नहीं चाहिये. ( जैसे भगवानके मनोरथोंके लिये हम पुष्टिमार्गी गामसे धन मांगते हैं ! ) क्योंकि अद्विजोंसे देवयजनार्थ धन मांगनेपर मरनेके बाद ब्राह्मण चाण्डाल बनता है. जो देवयजनार्थ धन मांगकर साराका सारा धन दान नहीं कर देता वह ब्राह्मण मरकर काकयोनिको प्राप्त होता है. देवस्व या ब्राह्मणस्व का जो लोभवश अपहरण या अपव्यय करता है वह पापी मरकर गीधोंके उच्छिष्ट शवमांस खानेवाला बनता है. ( मनुस्मृति ).

शास्त्रोपदेशाधिकार, धर्माचरणार्थ मन्त्रदीक्षाधिकार, अध्यापनवृत्ति अर्थात् गुरुभेंट और सत्प्रतिग्रह -ये यद्यपि ब्राह्मणोंके लिये तो शास्त्रनियत आजीविकारूप कर्तव्यतया विहित हुए हैं परन्तु अब्राह्मणोंके लिये आपद्धर्म आपद्वृत्तिके रूपमें ही विहित हुए हैं. तदनुसार अपने पुष्टिमार्गमें भी ब्राह्मणत्वमूलक सामान्य गुरुत्व तथा ''आचार्यवंशजत्वे सति भागवततत्त्वज्ञत्वे सति दम्भादिरहितत्वे सति कृष्णसेवापरत्वम्'' साम्प्रदायिक गुरुत्वके आदर्शतया मान्य है. आधुनिक कालमें इस लक्षणके पूर्वदलमें भी जब तुमुल विवाद उठ रहे हैं तब उत्तरदलमें निरूपित योग्यताके बारेमें- जैसा कि श्रीपुरुषोत्तमजीने प्रतिपादित किया है:''कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्त आहुः'तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात्' ''( त.दी.नि. सर्वनि. आवरण.२२८) तदनुसार- क्या गुर्वभावकाल प्राप्त हो गया है कि नहीं ? यह गम्भीर विचारकी

अपेक्षा रख रहा है.

क्योंकि शास्त्रोंमें सामान्यतया गुरुवंशज अथवा ब्राह्मणेतर वर्णोंको भी आपद्धर्मतया गुरुत्वके अधिकारसे मण्डित किया गया है.यद्यपि कुछ व्यवहार स्वयं गुरु न होनेपर ( अर्थात् जैसे हमारे यहां हम गुरुभूत महाप्रभुके केवल वंशज ही हों और कुछ नहीं तो ) अथवा ब्राह्मण्यके विलोपन हो जानेपर शास्त्रवर्जित माने गये हैं. उदाहरणतया– पादावनति–पादसंवाहन–उच्छिष्टभोजन–प्रतिग्रह आदि, गुरुवंशज अथवा ब्राह्मणेतर गुरुओंके लिये वर्जित माने गये हैं. ( द्रष्टव्य : मनुस्मृ. २।२०९–२४२ ). इससे सिद्ध होता है कि ब्राह्मणवर्णमें भी गुरुके लिये कुछ विहित होनेपर भी गुरुपुत्रके लिये कई बातें वर्जित घोषित की गई है. आधुनिक गोस्वामिवर्ग यदि गुरुपदोचित अधिकारोंका उपभोग करना चाहते हों तो गुरुपदोचित कर्तव्योंका उत्तरदायित्व भी उनके गलेपतित होगा ही. वह यदि ब्राह्मणत्वमूलक हो तो ब्राह्मणत्वसे विरुद्ध जानेवाली अनेक बातोंपर अंकुशकी बात भी विचारनी ही पड़ेगी. अन्यथा ब्राह्मणेतर कोई अमॅरिकावासी पुष्टिमार्गी भी गुरुत्वका दावा करने लगेगा, तब शास्त्रीय निकष कोई रह नहीं जायेगा. तब विचार ''तू–तू–मैं–मैं'' में ही पर्यवसित हो जायेगा. अतः सर्वप्रथम ब्राह्मणत्वमूलक अधिकार–कर्तव्योंका स्वरूप शास्त्रतः सुनिर्धारित कर लेना आवश्यक है.

पूर्वप्रकरणमें पृष्ठ २७–३० तक ब्राह्मणवृत्तिके वास्तविक स्वरूपकी सुविशद विवेचना प्रस्तुत की ही गई थी. पिष्टपेषण, अतएव, अनावश्यक होनेपर भी एक प्रमुख तथ्यपर पुनः ध्यानाकर्षण प्रासंगिक बन जाता है. वह यह कि ब्राह्मणके लिये नित्यकर्मतया शास्त्रविहित छह कर्तव्योंमेंसे तीन उसके धर्मरूप कर्तव्य होते हैं और तीन आजीविकारूप. यथा –

(१) यजन (२) अध्ययन (३) दान = धर्मरूप कर्तव्य हैं.

(४) याजन (५) अध्यापन (६) प्रतिग्रह = आजीविकारूप कर्तव्य हैं.

आज तो इसका विपर्यास ही दुर्दैवविपाकवश सर्वत्र उपलब्ध होता है. अर्थात् यजन–अध्ययन–दान आजीविकार्थ अनुष्ठित होते दिखलाई देते हैं; तथा

परमधर्मबुद्ध्या कहीं याजन–अध्यापन–प्रतिग्रह तीनोंका ही अथवा तीनोंमेंसे किसी एकपर ही भारपूर्वक टिके रहनेका दुराग्रह रखा जा रहा है. यदि याजनकी तरह यजन भी एक आजीविकाका उपाय होता तो उसके धर्मतया पृथक् उल्लेखकी कोई आवश्यकता ही नहीं थी. इनका पृथक् पृथक् उल्लेख स्वयंमें उस तथ्यका, विमर्शकारके लिये नितान्त भीषक, घण्टाघोष है कि प्रत्येक ब्राह्मणको सामान्यतया अपनी शास्त्रविहित अथवा शास्त्रानिषिद्ध आजीविकासे ही उपार्जित शुक्लवृत्तिसे यजन करना चाहिये. आपद्वृत्तितया भी अन्तरित या अनन्तरित वृत्तिओंके बारेमें किसी भी तरहके प्रयास किये बिना,सहसा अपने धर्मका विक्रय अर्थात् वृत्त्यर्थ यजनका कल्प अपना लेना, एक अक्षम्यतम महासाहस है. यजन=धर्मरूप कर्तव्यके आजीविकातया अनुष्ठान किये जानेपर वह कपटरहित धर्म नहीं रह जाता. यह तो एक ऐसी बात हुई कि शास्त्रमें जो दानको ब्राह्मणका 'नित्यकर्मरूप धर्म' कहा, तदर्थ गामसे चंदा उगाहना और बादमें सौ रुपयोमेंसे २५–५० रुपयोंका दान कर देना, सो भी सार्वजनिक प्रदर्शनद्वारा ! अध्यापनको जो आजीविका कहा तदर्थ स्वयं शास्त्र पढ़ने नहीं पर शास्त्रिओंको नौकरीपर रखकर कॉचिंग क्लासिस चलानेका व्यापार करने लग जाना !

इसी अर्थाभिनिवेशितासे बचनेके लिये शास्त्रने विहित होनेपर भी प्रतिग्रहके बारेमें अतिशय सावधानी बरतनेकी बात समझाई है :

**मूल :** **प्रतिग्रहाद् याजनाद् वा तथैवाध्ययनादपि ।**
**प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ।।**
**याजनाध्यापने नित्यं क्रियते संस्कृतात्मनाम् ।**
**प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्तजन्मनः ।**
**जपैर्होमैरपेत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् ।।**
**प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च ।**
**शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन् यतस्ततः ।।**
**प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोप्युञ्छः प्रशस्यते ।**

**व्याख्या :** गर्हितानामपि अध्यापनयाजनप्रतिग्रहाणां मध्याद् ब्राह्मणस्य

असत्प्रतिग्रहो निष्कृष्टः परलोके नरकहेतुः. ततश्च आपदि प्रथमं निन्दिताध्यापनयाजनयोः प्रवर्तितव्यं तदसम्भवे तु असत्प्रतिग्रहे – इति एवंपरम् एतत्. याजनाध्यापने आपदि अनापदि च उपनयनसंस्कृतात्मनां द्विजातीनामेव क्रियते. प्रतिग्रहः पुनः निकृष्टजातेः शूद्रादपि क्रियते. तस्माद् असौ ताभ्यां गर्हितः, एनोः ग्रहणाद्. असत्प्रतिग्रहयाजनाध्यापनैः यद् उपपन्नं पापं प्रायश्चित्तप्रकरणे वक्ष्यमाणक्रमेण जपहोमैः नश्यति. असत्प्रतिग्रहजनितं पुनः प्रतिग्रहीतद्रव्यत्यागेन "मासं गोष्ठे पयः पीत्वा" इत्येवमादिवक्ष्यमाणतपसा अपगच्छति. ब्राह्मणः स्ववृत्त्या अजीवन् यतस्ततोपि शिलोञ्छं गृह्णीयात् नतु तत्सम्भवे असत्प्रतिग्रहं कुर्यात्. यस्माद् असत्प्रतिग्रहाद् शिलः प्रशस्तः. मञ्जर्यात्मकानेकधान्योन्नयनं शिलः ततोपि उञ्छः श्रेष्ठः. एकैकधान्यादिगुडकोच्चयनम् उञ्छः (मन्वर्थमुक्तावली १०।१०९-११२).

अर्थात् अनधिकारीको याजन या अध्यापन करानेसे भी अधिक निन्दनीय है – असत्प्रतिग्रह, नरकप्रापक होनेके कारण. अतः आपद्वृत्तिके रूपमें भी असत्प्रतिग्रह करनेके बजाय तो अनधिकारीको भी याजन-अध्यापन कराकर जीवननिर्वाह कर लेना अनुचित नहीं है. क्योंकि याजन-अध्यापनके द्वारा आजीविकाके उपार्जनमें, कमसे कम, इतना नियम तो निभ ही जायेगा कि जिनके उपनयनादि संस्कार हो चुके हों उनसे कर्मदक्षिणा या गुरुदक्षिणा मिलेगी. प्रतिग्रहमें तो यह अंकुश भी बच नहीं सकता. अनधिकारीको याजन या अध्यापन करानेसे जो पाप लगता है उसका परिहार स्वयंकृत जपहोमसे शक्य है. प्रतिग्रह करनेके कारण, परन्तु, लगे पापसे छुटकारा तो त्यागतपसे ही शक्य हो पाता है. अपनी याजन-अध्यापनकी वृत्तिसे निर्वाह न चल पाता हो तो मार्गमें गिरे हुए धान्यके दानोंको बीन-चूनकर पेट भर लेना चाहिये परन्तु असत्प्रतिग्रह तो करना ही नहीं चाहिये.

अतएव कहा गया है कि "पावका इव दीप्यन्ते जपैर्होमैः द्विजोत्तमाः प्रतिग्रहेण नश्यन्ति वारिणा इव पावकाः" (अत्रिस्मृ. पृ.१९) अर्थात् जप तथा होमके कारण अग्निकी तरह दीप्तिमान होते द्विजोत्तम भी प्रतिग्रहकी बरसातसे बिलकुल बुझसे जाते हैं.

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि याजनका बहाना बनाकर किसी भी तरहके सदसद्के विवेकके बिना जिस-किसी दातासे धनादिका प्रतिग्रह कर लेना शास्त्रकी कल्पनामें भी न आनेवाला ब्राह्मणत्वका अधःपात है. तो जहां शास्त्रानुमत होनेपर भी केवल प्रतिग्रहकी ही इतनी कठोर निन्दा की गई हो वहां यजनको निमित्त बनाकर निषिद्ध प्रतिग्रह करनेकी निन्दनीयताके बारेमें तो कहना ही क्या !

अतएव मनुस्मृति स्पष्ट शब्दोंमें विधान करती है कि ब्राह्मणके लिये यह आवश्यक है कि वह शठता या कुटिलता को अपनाये बिना अपनी शुद्ध ब्राह्मण आजीविकाद्वारा ही देहयात्रा चलाये –

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन ।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ।।

(मनुस्मृ. ४।११).

साथ ही साथ मनुने यह भी स्पष्ट किया है कि धन होनेपर भी यथाकथञ्चिद् अविहित-निषिद्ध सभी तरहके उपायोंसे केवल धन ही बटोरते रहनेकी वृत्तिपर ब्राह्मणको काबू पाना चाहिये –

नेहेतार्थान् प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा ।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ।।

(मनुस्मृ. ४।१५).

आज वैसे द्विजवरके वंशज होनेके दावेके साथ साथ हम जितने उपायोंसे केवल अर्थसंग्रह ही कर रहे हैं उसका थोड़ा-बहुत खयाल कितने तरहकी भेंट हमारी हवेलिओंमें भगवद्दर्शनार्थ आती जनतासे हम उगाहते हैं इससे मिल सकता है :

मोटे तौरपर कुछ भेंट हम (क) अपने ही किसी न किसी निमित्तके वश स्वयं अपनेलिये लेते हैं. (ख) बहुत सारी भेंट अपने ठाकुरजीके कुछ न कुछ निमित्त बनाकर ठाकुरजीकेलिये लेते हैं;अन्ततः जिनका पर्यवसान हमारे ही

उपभोगार्थ होता है. (ग) कुछ भेंट हम सीधे नहीं लेते परन्तु व्यवस्था ऐसी खड़ी कर रखते हैं कि हमारे नौकरोंका तामझाम उन-उन भेंटोंसे बना रहे ताकि कम पगारपर भी हमारे यहां काम करने नौकर लालायित रहें. (घ) इन भेंटोंके अलावा तीर्थ-गाय-कीर्तनादिकी भेंटके प्रकार भी अनेक हैं ही.

(क) इस प्रथम प्रकारके अन्तर्गत ही देखें तो चरणभेंट, तपेलीभेंट, जन्मदिनकी भेंट, यज्ञोपवितप्रस्तावकी भेंट, विवाहप्रस्तावकी भेंट, किसी वैष्णवके दिवंगत होनेपर कहाड़ीभेंट, किसी गो.बालकके नित्यलीलामें प्रविष्ट होनेपर कड़वाभेंट, पधरामणीभेंट, केशरस्नानभेंट, प्रदेशभेंट, दानके दिनोंमें दान, मनोरथकी आज्ञा देनेकी भेंट, अष्टाक्षर-ब्रह्मसम्बन्धकी कंठी देनेकी भेंट, ठाकुरजी पुष्ट कर देनेकी भेंट आदि आदि.

(ख) फूलघर-शाकघरमें फूलपानफलशाककी भेंट, भण्डारमें घी-तेल-आटा-दाल-चावल-चीनी आदि सामग्रीकी भेंट, मंगला-पलना-राजभोग-फूलमण्डली-हिंडोला-कुण्डवारा, छप्पनभोगादि अनेकानेक मनोरथोंकी भेंट, सन्मुखभेंट, ब्रह्मसम्बन्ध लेते समय वैष्णवोंको करनी पड़ती ठाकुरजीकी सन्मुखभेंट, प्रसाद लेते समय वैष्णवोंको हमें देनी पड़ती प्रसादकी न्योछावरभेंट, वैष्णवके माथे बिराजते ठाकुरजीके हमारे घर लौटनेपर उन्हें पुनः हवेलीकी ग्वालमण्डलीमें पधराने हो तो उनके चांदी-सोना-शृंगाराभूषणकी भेंट, जिन बैठक हवेलिओंको हम स्वयं नहीं चला सकते उन्हें ठेकेपर उठानेके कारण मिलती धनराशि आदि.

(ग) ब्रह्मसम्बन्ध लेनेके स्नान कराते समय जलघड़ियाकी सेवकीभेंट, ठाकुरजीके दर्शनके लिये झापटियाको मिलती सेवकीकी भेंट, ठाकुरजीके प्रसादको वैष्णवके घर पहुंचानेको समाधानीको या भीतरियाको मिलती समाधान या सेवकी की भेंट, गोस्वामिओंके उच्छिष्ट ( अधरामृत ) पहुंचानेवाले खवास या जलघड़ियाको मिलती सेवकीकी भेंट आदि.

(घ) सोमयाग, सर्वोत्तमयाग, यमुनायाग, श्रीनाथजीकी ध्वजा पधराना, व्रजयात्रा, ढाढीलीला, मालापहरामणी, बैठकोंमे तपेली, गौशालामें घास-

लापसीकी भेंट आदि.

इतने सारे प्रकारोंसे मिलती भेंटोंको देखनेके बाद लगता है कि लघुशंका या शौच जानेकी भेंट नहीं लेते हैं यह हमारा साधारण नहीं बल्कि असाधारण वैराग्य है. अन्यथा क्या छूटता है ! कहां ''नेहेतार्थान् प्रसंगेन''का ब्राह्मणत्वका आदर्श और कहां हमारेद्वारा घड़े गये अनेकानेक भेंट-सामग्रीके प्रकार ! माना कि इनमेंके सभी प्रकार अनुचित ही हैं ऐसा नहीं परन्तु फिर भी इतने सारे प्रकारोंके विद्यमान रहते कमसे कम अपनी भगवत्सेवाको यदि धन कमानेका साधन न बनायें तो कोई खास आर्थिक नुकसान तो नहीं होना चाहिये था. और यदि होता भी हो तो ''नेहेतार्थान् विरुद्धेन कर्मणा''की शास्त्राज्ञाको शिरोधार्य करके वह नुकसानी सहन कर लेनी चाहिये थी. परन्तु . . .

स्वयं विद्यातपोनिरतताके कारण प्रतिग्रहार्थ समर्थ होनेपर भी वैसे तो प्रतिग्रह न करना ब्राह्मणके लिये एक आदर्श बात है. क्योंकि केवल प्रतिग्रहसे ब्रह्मतेज क्षीण होने लग जाता है. किसी भी सूरतमें प्रतिग्रह करनेकी जो धर्म्य विधि है उसे समझे बिना तो भूखे होनेपर भी धन न लेना ही ब्राह्मणके लिये श्रेयस्कर होता है. क्योंकि सोना-भूमि गाय-घोड़े-अन्न-वस्त्र घृत-धान्य आदिका प्रतिग्रह करनेवाला यदि अपठित ब्राह्मण हो तो वह सूखी लकड़ीकी तरह भस्म हो जाता है. (द्र. मनुस्मृ. ४।१८६-१८८). जबकि शास्त्राध्ययन तथा शास्त्रीय विषयके निरूपण को अधिकांश गोस्वामी आजकल ''ज्ञानका अजीर्ण'' समझते हैं, भेंट बटोरनेकी कुत्सितवृत्तिको भिखारीपनका अजीर्ण नहीं !

प्रतिग्रहनिन्दाके सन्दर्भमें एक यह स्पष्टीकरण भी आवश्यक है कि क्षुधापीड़ित गुरु (माता-पिता-उपाध्यायादि गुरुजन) तथा भृत्य (पत्नी-सन्तति-पशु आदि पोष्यजन) जनकी भूख मिटानेको अथवा देवपूजनार्थ या अतिथिसत्कारार्थ पतितोंको छोड़कर किसीसे भी ब्राह्मण प्रतिग्रह कर सकता है - यह शास्त्रानुमत है. उस प्रतिग्रहीत अन्न-वस्त्रादिको परन्तु स्वयंके उपभोगमें लाना नहीं चाहिये :

**गुरून् भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन् अर्चिष्यन् देवतातिथीन् ।**

**सर्वतः प्रतिगृह्णीयात् नतु तृप्येत् स्वयं ततः ।।**

इस विशद विवरणसे इतना तो सर्वथा स्पष्ट हो ही जाता है कि याजन या अध्यापन में भी पात्रापात्रके विवेक रखे बिना भी धनोपार्जनकी शास्त्र छूट देता है परन्तु अकारण प्रतिग्रहकी छूट तो नहीं देता. ऐसी स्थितिमें या तो हमें स्वीकारना चाहिये – हमारी भगवत्सेवा धर्म न होकर केवल आजीविका ही है. अर्थात् हम देवलक ही हैं. यदि हमारी भगवत्सेवा हमारा धर्म है, हमारी आजीविका नहीं, तो भगवत्सेवाको निमित्त बनाकर जो भी प्रतिग्रह हम करते हैं, नित्य-आपद्-वृत्ति(!)तया, उसमेंसे स्वोपभोग हमें करना नहीं चाहिये. क्योंकि वह निन्द्यतम प्रतिग्रह है. अर्थात् आपद्वृत्तितया भी कमसे कम अपने यजन-पूजनरूप धर्मको तो आजीविकाके निम्नतम स्तरपर तो कथमपि धकेलना नहीं चाहिये.

भागवतके तृतीय स्कन्धके १२वें अध्यायके– ''आश्रमांश्च यथासंख्यमसृजत् सह वृत्तिभिः...न्यासः कुटीचकः पूर्वब्रह्मोदो हंसनिष्क्रियौ'' (४१-४३) श्लोकोंमें चारों आश्रमोंकी चार-चार वृत्तिओंका निरूपण किया गया है. इनकी विस्तृत व्याख्या भी सुबोधिनीजीमें दी गई है. विशेष जिज्ञासुओंके लिये उस विषयका अवगाहन वहींसे कर लेना उचित है. फिर भी स्वगृहमें स्वतनुवित्तपरिजनोंके विनियोगपूर्वक की जाती भगवत्सेवाके लिये महाप्रभुने जो नीति अपनायी है वह यों है – **''एतत् सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम् अन्येषां सम्भवेत् तु स्यात् यतेः पर्यटनं वरम्. गृहस्थस्य एतत् मुख्यम्... ब्रह्मचारिप्रभृतीनामपि सेवकसाधनसम्पत्तौ एतत् कर्तव्यम्. अन्यथा अन्यएव उपायः कर्तव्यः...संन्यासिनस्तु पूर्वापेक्षयापि अग्रिमएव उत्तम एवम् इति आहः यतेः पर्यटनं वरम्''** (त.दी.नि. सर्वनि. प्रका. २४६). **अनुवाद :** सेवा आदिका यह सारा प्रकार गृहस्थकेलिये समझाया गया है. अन्य ब्रह्मचारी या वानप्रस्थी आदिकेलिये भी यदि शक्य हो तो उन्हें अपना लेना चाहिये. संन्यासीके लिये तो पर्यटन ही श्रेष्ठ होता है. अर्थात् ब्रह्मचारी आदिको भी, सेवक साधनोंसे सम्पन्न होनेपर, गृहस्थकी तरह ही अपने माथे बिराजते स्वरूपकी सेवामें परायण हो जाना चाहिये. यदि सेवक-साधनोंसे ब्रह्मचारी आदि सम्पन्न न हों तो अन्य उपाय

अपनाने चाहिये. संन्यासीकेलिये तो पर्यटन ही श्रेष्ठ उपाय होता है.

यहां यह अवधेय है कि ब्रह्मचारीके दो प्रकार होते हैं: साधारण ओर नैष्ठिक. साधारण ब्रह्मचारी गुरुके पास निवास करता है. अध्ययनकालमें उसकी गुरुके द्वारा अभ्यनुज्ञात( =छूट देनेपर ) सायं-प्रातः भिक्षाकी आजीविका मान्य की गई है :

**गुरुवर्जं गुणवत्सु भैक्ष्याचरणम्.** ( विष्णुस्मृ. २८ )

**सायं प्रातः चरेद् भैक्षं भोज्यार्थं संयतेन्द्रियः.** ( लघु हारीतस्मृ. ३ ।७ ).

नैष्ठिक ब्रह्मचारी गुरुके ही समीप आजीवन रहनेका, अर्थात् विवाहार्थ अपने घर जानेके बजाय आजीवन ब्रह्मचर्यका, व्रत लेकर आजीवन भिक्षावृत्तिसे निर्वाहका भी व्रत ग्रहण करता है. गुरुके न रहनेपर गुणान्वित गुरुपुत्र गुरुपत्नी अथवा गुरुके अन्य निकट सम्बन्धिओंके समीप उनके द्वारा अभ्यनुज्ञात भिक्षावृत्तिसे वह निर्वाह करता है. इनमेंसे कोई भी उपलब्ध न हो तब स्वतन्त्रतया भी भिक्षावृत्तिसे वह निर्वाह कर सकता है. ऐसी स्थितिमें अपनी भिक्षावृत्ति इतनी पर्याप्त हो कि सेवकादि साधनको निभा सके तो महाप्रभु उसे भगवत्सेवाकी छूट देना चाहेंगे, अन्यथा नहीं.

इसी तरह वानप्रस्थाश्रममें वन्य फल-मूलके आहारद्वारा जीवननिर्वाहका नियम है, भिक्षाद्वारा नहीं. वैसे सत्प्रतिग्रहकी अनुमति अवश्य है. अतः यहां भी ब्रह्मचारीकी तरह ही शक्य होनेपर भगवत्सेवाकी अनुमति महाप्रभुने प्रदान की है.

संन्यासीके लिये तो प्रायः पर्यटन ही श्रेष्ठ होनेसे भगवत्सेवा अप्रासंगिक मानी गई है. वैसे आजीविका संन्यासीकी भी भिक्षा ही मान्य है. यह भिक्षा वह अपने ही परिवार अथवा कुल अथवा किसी भी द्विजकुल अथवा अन्तमें अवधूतचर्यामें यदृच्छया जहांसे भी उपलब्ध हो वहांसे ग्रहण कर सकता है - ऐसा कल्प शास्त्रानुमत है. किसी भी सूरतमें इन तीनों आश्रमवालोंको भी देवद्रव्योपभोगद्वारा या देवलकताद्वारा जीवननिर्वाहकी कोई शास्त्रानुमति नहीं है.

इन अनापद्वृत्तिओंके अलावा आपद्वृत्तिओंका भी शास्त्रमें निरूपण

मिलता है. यथा आपद्वृत्तिके रूपमें ब्राह्मण क्षात्रवृत्ति अथवा वैश्यवृत्ति द्वारा भी जीवननिर्वाह चला सकता है.

**मूल :**

**अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा ।**
**जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ।।**
**उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्याद् इति चेद् भवेद् ।**
**कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद् वैश्यस्य जीविकाम् ।।**
**वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोपि वा ।**
**हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ।।**
**इदं तु वृत्तिवैकल्यात् त्यजतो धर्मनैपुणम् ।**
**विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम् ।।**
**सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैस्सहः ।**
**अश्मनो लवणं चैवं पशवो ये च मानुषाः ।।**
**सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च ।**
**अपि चेत् स्युररक्तानि फलमूले तथौषधी ।।**
**अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः ।**
**क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुणं कुशान् ।।**
**आरण्यांश्च पशून्सर्वान् दंष्ट्रिणश्च वयांसि च ।**
**मद्यं नीलं च लाक्षां च सर्वांश्चैकशफांस्तथा ।।**
**सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च**
**त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ।।**

(मनुस्मृ. १०।८१-९२).

**अनुवाद :** ब्राह्मणार्थ विहित आजीविकामें यदि किसी ब्राह्मणका निर्वाह असम्भव हो जाय तो क्षत्रियवृत्तिद्वारा उसे अपना निर्वाह चलानेकी छूट है. यदि ब्राह्मणवृत्ति अथवा क्षत्रियवृत्ति दोनोंमे ही किसी न किसी तरहकी कठिनाई आती हो तो कृषिगोरक्षव्यापारकी वैश्यवृत्तिको भी अपनाया जा सकता है (स्वयमेव

कृषक बन जाना ब्राह्मणकी आपद्कालीन कृष्णवृत्ति है तथा अन्य कृषकोंसे कृषिकर्म करवा लेना अनापद्कालीन मृतवृत्तितया अनुमत है). वैश्यवृत्तिसे निर्वाह चलानेवाले ब्राह्मणको भी हिंसाप्राय पराधीन कृषिकर्मसे यत्नपूर्वक बचना चाहिये. इसी तरह वाणिज्यमें भी रसोंके या पक्वान्न (आधुनिक पुष्टिमार्गीय मन्दिरोंमें बेचे जाते पूड़ी मठड़ी लड्डु मोहनथाल दालभात रोटीशाक जैसों)के या तिलधान्यके, पत्थर नमक पशु मनुष्य (दास-दासी) के व्यापार करनेसे भी बचना चाहिये. सूती-रेशमी-ऊनी वस्त्रोंके फल-मूल-औषधि जल शस्त्र विष मांस सोम गन्ध क्षीर शहद् दही घी तैल मोम गुड़ कुशा -इनके व्यापारसे भी ब्राह्मणको बचना चाहिये. मांसविक्रय लाखविक्रय लवणविक्रय करनेपर विक्रय करनेके साथ ही ब्राह्मणका अधःपात हो जाता है. क्षीरविक्रय करनेपर (जैसे पुष्टिमार्गीय हवेलिओंमें बेचा जाता है) तीन दिनके भीतर ब्राह्मण शूद्र बन जाता है.

स्पष्ट है कि इन आपद्वृत्तिओंके अपनानेके बावजूद अपने यजन-अध्ययन-दानरूप धार्मिक कर्तव्योंके निर्वाहसे चूकना नहीं चाहिये. शास्त्रमें आपद्वृत्तिको भी केवल तीन पीढ़ी तक अपनानेकी छूट दी गई है. पश्चात् वृत्तिके अनुसार वर्णान्तरका नियम भी दिखलाया गया है.

किसी भी स्थितिमें यजन-अध्ययन-दानरूप धर्मोंके आजीविकार्थ उपयोगकी, अर्थात् इनके कपटपूर्ण अनुष्ठानकी, बात शास्त्रमें उपलब्ध होती ही नहीं है.

पुष्टिमार्गमें भी यजनके स्थानपर भगवत्सेवाको ही आत्मधर्मदृष्ट्या मुख्यतया मान्य किया गया है. वैसे कलिकालके प्रभाववश वर्णाश्रमधर्मोका यथोचित अनुष्ठान अशक्यप्राय हो गया है - इस गौण हेतुके वश भी भगवत्सेवाको ही प्रमुख कर्तव्य माना गया है. इसी तरह द्विजमात्राधिकारक वेद-वेदान्त-पुराण-इतिहास आदि शास्त्रोंके अध्ययनके स्थानपर सर्वाधिकारक पुष्टिमार्गीय ग्रन्थोंके अध्ययनको भी यदि ले लिया जाय, तब भी इनका आजीविकार्थ अनुष्ठान वर्जित ही मानना पड़ेगा. आपद्वृत्तिके अनुकल्पोंके रहते अविहित

कल्पका अंगीकार श्रौतदृष्टिसे ब्राह्मण्यलोपको वज्रलेपायित करनेवाला ही होगा, पूर्वोक्त ''न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन, अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम्'' (मनुस्मृ. ४।११) वचनके आधारपर. अतः पुष्टिमार्गीय गोस्वामी महानुभावोंको या तो अपने ब्राह्मण्यका विलोपन अथवा भगवत्सेवाका आजीविकातया अनुष्ठान – इन दोनोंमेंसे एकतरका चयन करना ही पड़ेगा. दोनों एकसाथ नहीं चल पायेंगें.

यह यजन किसी देवताविशेषको उद्देश्य करके अग्निमें दी गई आहुति ''देवतायै इदं न मम''तक ही केवल सीमिततया लिया नहीं जा सकता है. क्योंकि व्याकरणके अनुसार '' 'यज' = देवपूजासंगतिकरणदानेषु'' अर्थ मान्य किया गया है. अतः देवतोद्देश्यक–देवसम्प्रदानक दान या त्याग की तरह देवताकर्मक अर्चन भी 'यज'का अर्थ हो सकता है. अतएव ''अर्चिष्यन् देवतातिथीन्'' शब्दप्रयोग स्मृतिकारने किया है.

कुछ अपठित महोदय आजकल एक विचित्र बात जनतामें प्रचारित कर रहे हैं कि न तो श्रीकृष्ण देवता हैं और न उनकी सेवाके लिये प्रतिग्रहीत **''हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान्घृतम् प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत्''** (मनुस्मृ. ४।१८८) *देवद्रव्य ही हो सकते हैं. ऐसी स्थितिमें खुदके लिये नहीं परन्तु कृष्णसुखजनिका सेवाकेलिये यदि हम याचित या अयाचित जैसे भी हो, परद्रव्य लेकर बादमें स्वयं भी प्रसादतया उपभोग करते हों तो इससे आचार्यवंशज देवद्रव्योपभोगी या देवलक ही बन जाते हैं – ऐसे नहीं कहा जा सकता है.

(*सोना भूमि घोडा गाय अन्न वस्त्र तिल घृत का दान–भेंट लेनेवाला यदि विद्वान न हो तो सूखी लकडीकी तरह भस्मसात् हो जाता है.)

इन्हें **''वन्दे श्रीकृष्णदेवं''** (सुबो. १।१।१) **''एको देवो देवकीपुत्रएव...कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा''** (त.दी.नि.शा.प्र. ४) **''भक्तिस्वरूपमाह...स्नेहो=भक्तिः, रतिः देवादिविषयिणी भाव इत्यभिधियते, रतिः = स्नेहो, देवत्वं = माहात्म्यम्. तद् आत्मत्वेन ज्ञाते भवति. तेन भजनार्थमेव आत्मत्वेन तन्निरूपणं माहात्म्यं च उच्यते.''** (त.दी.नि. शा.प्र. ४२) – इन

मूलवचनोंका ज्ञान ही नहीं है.*

(*''श्रीकृष्णदेवको मेरे नमस्कार.'' ''देवकीपुत्र श्रीकृष्ण ही मुख्यदेव हैं...उन श्रीकृष्णदेवकी सेवा ही मुख्य कर्म हैं.'' ''भक्तिका स्वरूप कहते हैं...भक्ति स्नेह है. देवादिके बारेमें जो रति होती है उसे 'भाव' कहा जाता है. रति = स्नेह. देव होना माहात्म्य है. वह अपनी आत्माके रूपमें जाननेपर होता है, अतः भजनार्थ ही उसका माहात्म्य कहा जाता है तथा आत्माके रूपमें निरूपण किया जाता है.'')

यदि द्रव्य या धन के सन्दर्भमें श्रीकृष्णका देवत्व अविवक्षित माना जाता है तो भक्तिके सन्दर्भमें भी देवत्व अविवक्षित मानना पड़ेगा. तो तब जो कुछ हम सेवाके नामपर कर रहे हैं वह 'भक्ति' नहीं रह जायेगी. क्योंकि देवविषयिणी रतिको ही 'भक्ति' कहा जाता है.

वैसे तो इन अपठितोंके विधानोंका विचार करना भी अपनी लेखनीकी स्याहीका दुरुपयोग है. फिर भी क्योंकि ये अपठित महाप्रभुके वंशज हैं अत: इनकी बातको जनता पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तके रूपमें मान्य करती है सो लिखना पड़ता है.

ये अपठित अपना बचाव कभी-कभी यह भी देते हैं- ''श्रीकृष्णको 'देव' कहनेका तात्पर्य उनके देवाधिदेव होनेमें है.'' तब तो सिद्ध हो जाता है कि देवपूजनको आजीविका बनानेवाला यदि चाण्डालोपम पतित देवलक होता है तो देवाधिदेव श्रीकृष्णकी सेवाको आजीविका बनानेवाला चाण्डालसे भी अधिक अपवित्र महापतित देवलकाधम देवलक अर्थात् जघन्यतम देवलक सिद्ध हो जायेगा ! जैसे अपुरुष पुरुषोत्तम नहीं हो सकता या जैसे अविद्वान विद्वदुत्तम नहीं हो सकता ऐसे ही अदेव देवोत्तम = देवाधिदेव हो नहीं सकता !!

इस सन्दर्भमें सैद्धान्तिकी स्पष्टताके हेतु भक्तिहंसगत प्रभुचरणके ये वचन नितान्त मननीय हैं :

**मूल : नवविधभक्तौ अर्चनस्यापि उक्तत्वात् कथं पूजायाः तथात्वमिति चेत्. अत्र वदामः- श्रवणादिनवकमपि अधिकारिभेदेन क्रियमाणं सत् कर्मज्ञानोपासनाभक्तिमार्गीयत्वेन अनेकविधं भवति. तथाहि – श्रीभागवत–**

**सहस्रनामादिश्रवणकीर्तनयोः फलत्वेन हि चत्वारोपि अर्था उच्यन्ते. तत्र त्रिवर्गकामेन क्रियमाणः श्रवणादिः कर्ममार्गीयएव. तत्रापि अर्थाद्यर्थिभिः विहितत्वेन कृतः चेत् तदा स तथा. वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवत् लौकिकएव, शौचार्थिगंगास्पर्शवत् च. नहि तस्य मलनिवृत्त्यतिरिक्तो धर्मः उत्पद्यते प्रत्युत निषिद्धाचरणात् पापमपि. एतेन विहितजातीयं कर्म यथाकथञ्चित् कृतम् उक्तफलाय इति निरस्तम्**'' (भक्तिहंस).

**अनुवाद:** नवविध भक्तिमें पूजादि गिनाई गई हैं अतः पूजाको भी भक्तिके रूपमें मान्य करना चाहिये -ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये. क्योंकि श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवन अर्चन वन्दन दास्य सख्य आत्मनिवेदन रूप नवक भी अधिकारिभेदवश कर्मरूप ज्ञानोपासनारूप अथवा भक्तिरूप यों अनेकविध हो सकते हैं. स्वयं श्रीभागवत-विष्णुसहस्रनामादिके श्रवण-कीर्तन करनेसे फलरूपेण धर्मार्थकामकी सिद्धि होती है ऐसा कहा गया है. ये श्रवणादि, परन्तु, कर्ममार्गीय ही होते हैं. वहां भी द्रव्यकामना जैसी क्षुद्र विषय-कामनाओंको पूरी करने या कीर्तिप्राप्तिके लिये किये गये श्रवणादि, यदि विधिके अनुसार किये जाते हों, तभी कर्ममार्गीय कहे जा सकते हैं. अन्यथा वृत्त्यर्थ श्रवणादि तो खेतीवाड़ीकी तरह सर्वथा लौकिक कर्म ही होते हैं; और शौचार्थी मलनिवृत्तिके लिये जैसे गंगाजलका उपयोग करता हो, ऐसी गंदी बात बन जाते हैं. ऐसे हीन काममें पवित्र गंगाजलका प्रयोग मलप्रक्षालनके अलावा और क्या फल दे पायेगा ? वास्तविकता तो यही है कि निषिद्धाचरण करनेके कारण पाप ही इन्हें लगता है. विहितकर्मको यथाकथञ्चित् करनेमात्रसे विहितफल होता है -इस धारणाका इससे निरास हो जाता है.

यहांपर व्याख्या करते हुए श्रीरघुनाथजीने यह खुलासा दिया है कि अर्थार्थी शास्त्रविहित कर्मका अनुष्ठान यथाविधि करता है जबकि वृत्त्यर्थी जो कर्म वृत्त्यर्थ विहित नहीं है, प्रत्युत निषिद्ध ही है, उसे वृत्त्यर्थ अर्थात् आजीविकाके रूपमें करता है. अतः वह धर्मरूप होनेके बजाय निषिद्ध लौकिक कर्म बन जाता है.

श्रीपुरुषोत्तमजीने यहां व्याख्यामें 'अर्थादि'में 'आदि'पदके अर्थतया क्षुद्र कामनाओंको पूर्ण करनेकी इच्छा अथवा कीर्ति पानेकी इच्छा को लिया है. इसी तरह 'वृत्त्यर्थं'पदमें 'वृत्ति'का अर्थ भी अविहित रीतिसे कामनापूर्ति और गाममें पुजनेकी वृत्तिके उपलक्षणतया स्वीकारना चाहिये – यह कहा है.

वैसे यही बात दिनांक १०-१३ जनवरीको पार्लामें आयोजित पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें मेरे तथा चि.हरिरायजी (जामनगर) के बीच सिद्धान्तमुक्तावलीप्रकाशपर योजित पूरकांशके बारेमें हुई थी. तब चि.हरिरायजीने "**नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं**" का कुशकाशावलम्बन कर वृत्त्यर्थीको देवलक नहीं माना. वित्तार्थीको देवलक तथा वृत्त्यर्थीको अनिषिद्ध लोकार्थी माना था (द्र. विस्तृत विवरण पृ. २२७). जहां तक चि.हरिरायजीके विधानोंका सवाल है, वह तो उनके स्वमार्गीय सिद्धान्तग्रन्थोंके नहींवत् अभ्यास तथा निरंकुश कल्पना करनेवाले कविजनोचित सामर्थ्यके अनुरूप ही था! चि. हरिरायजीको, परन्तु, "पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षणशिरोमणि" की पदवीसे विभूषित करनेवाले विमर्श(पृ. १५-५९)कारने तथाकथित 'सिद्धान्तसंरक्षण'के उत्तरदायित्वसे छटक जानेकी वृत्तिको अब उजागर किया है!

वैसे यह एक हकीकत है कि तब (पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा, पार्ले१०-१३ जनवरी'९२में) भी श्रीवल्लभरायजी (सुरत)ने अतीव सावधानीसे चुने हुए शब्दोंमें कहा था – "लेकिन मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है कि जो यहां भावानुवादके सन्दर्भमें भावानुवादमें जहां जहां भी विचार्यविषय था वहां असहमत होते हुए जो कुछ सिद्धान्तपक्ष प्रतिपादित करना था वो सिद्धान्तपक्ष अपनी दृष्टिसे हमारे सम्प्रदायके विद्वद्वर्य आचार्य श्रीहरिरायजी महाराजने अपनी और अपनी तरफसे; और बड़ा ही उन्होंने प्रशस्त अपनी दृष्टिसे जो कुछ उन्होंने सम्प्रदायके सिद्धान्तको समझा था उसको प्रस्थापित यहां किया." (विस्तृत विवरण पृ. २९०).

इस शब्दावलीसे ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं श्रीवल्लभरायजी भी तब चि.हरिरायजीके पक्षको उनकी, अर्थात् चि.हरिरायजीकी ही, समझसे ठीक मान रहे थे, स्वयं अपनी (श्रीवल्लभरायजीकी) समझसे नहीं. फिर भी यथाश्रुत

वृत्तान्तके अनुसार ''पुष्टिसिद्धान्तसंरक्षणशिरोमणि'' पदवीपत्रपाठनमें श्रीवल्लभरायजी ही मुखरित हुए थे !

अतएव पूरकांश – ''**ननु कश्चिद् जीविकाद्यर्थमपि भजते तस्य का गतिः इत्यत्र आहुः'लोकार्थी'इति. 'लोक'पदेन लौकिको अर्थः उच्यते, तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत् तदा व्यापारवदर्थेसिद्धे तस्यापि, अनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव, अतः क्लिष्टो भवति इति अर्थः. न केवलम् ऐहिकः क्लेशः किन्तु परलोकोपि नश्यति निषिद्धाचरणाद्–इति 'सर्वथा' इति उक्तम्. यस्य स्वल्पमपि ज्ञानं स नैवं करोति सर्वथा तद्रहितः कश्चिद् एवं कुर्यादपि इति 'चेद्' इति उक्तम्**''* (सि.मु. पृ.४८) –को चि.हरिरायजीने अपनी बालकबुद्धिके अनुरूप अविचारणीय माना था वह इतनी विचारणीय कथा नहीं है परन्तु विमर्शकारने अपने ४५ पृष्ठोंके सुविशद देवद्रव्यप्रकरण तथा देवलकप्रकरण में परस्पर प्रतिरूपक इन भक्तिहंस तथा सिद्धान्तमुक्तावलीप्रकाश के इस पूरकांशपर कुछ भी लिखना आवश्यक नहीं समझा –यह अत्यन्त आश्चर्यकी बात है !

(* यदि कोई जीविका आदिके हेतुवश भजन करता है तो उसकी क्या–कैसी गति होती है – इस प्रश्नका उत्तर 'लोकार्थी'पदद्वारा देते हैं. 'लोक'पदका अर्थ होता है : लौकिक विषय. इसकी कामना रखनेवाला यदि कृष्णका भजन करता है तो व्यापारकी तरह सफल होनेपर उसके अनर्थरूप ही होनेके कारण ऐसे व्यक्तिद्वारा किया गया भजन भक्तिरूप नहीं होता. अतः ऐसे व्यक्तिद्वारा किया–धरा सब कुछ क्लेशरूप ही होता है. अतः ऐसे भजन करनेवालेको क्लेश ही मिलता है. न केवल ऐहिक क्लेश अपितु निषिद्धाचरणके कारण ऐसोंका परलोक भी बिगड़ता है. इसीलिये 'सर्वथा' कहा. जिसे अल्प भी ज्ञान होगा वह ऐसे नहीं कर सकता. सर्वथा ज्ञानरहित व्यक्ति ही ऐसा भजन कर सकता है इसलिये 'चेद्' कहा)

विमर्शकार प्रभुचरणके वचनोंको क्या सिद्धान्तनिरूपणार्थ उपजीव्य नहीं मानते ? ''वित्तं दत्वा ...ज्ञापकं समस्तं पदम्'' के विशद विमर्शको देखते हुए यह भी स्वीकारा तो नहीं जा सकता. ऐसी स्थितिमें श्रीयामुनेयाचार्यके आगमप्रामाण्य तथा अन्य भी अनेक तन्त्रवचनोंके अवगाहन–परिश्रम करनेसे पूर्व निजाचार्यकृतग्रन्थस्थ वचनोंके अवगाहनका परिश्रम लेना क्या उचित नहीं

होता ? उस स्थितिमें यह अत्यधिक आवश्यक हो जाता है कि जब प्रस्तुत 'विमर्श' ग्रन्थ सम्प्रदायके विद्वान वयोवृद्ध आचार्यके नामसे प्रकाशित करवाया गया है !

भूलना नहीं चाहिये कि प्रभुचरणने भक्तिहंसके प्रारम्भमें ही स्पष्टीकरण दे दिया है –

**मूल :** **वैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविधिभिर्यः ।**
**अस्पृष्टो रमते निजभक्तेषु स मेऽस्तुसर्वस्वम् ।।**

**अनुवाद :** जो भगवान् निजभक्तोंके बीच, वैदिक-तान्त्रिक दीक्षा अर्चनादि के विधिविधानोंके बन्धनमें बंधे बिना रमण करते हैं, वही मेरे सर्वस्व हैं.

यहां यह उल्लेखनीय है कि तान्त्रिक पूजनविधिमें भी वृत्त्यर्थपूजन (करना नहीं प्रत्युत) करवाना यदि दोषरूप न भी माना गया हो, जैसे वैदिक कर्मोंमें यजनको धर्मार्थ तथा याजनको वृत्त्यर्थ माना गया है वैसे ही, वह तन्त्रोक्त पद्धतिसे प्रतिष्ठापित देवमूर्तिके परार्थ-स्वरूपके अनुरूप है. एतावता पुष्टिमार्गके प्रवर्तक आचार्योंके वचनोंकी अवहेलना करके वृत्त्यर्थ भगवद्भजनको धर्म्य मानना क्या साक्षात् आत्मघातरूप विद्रोह नहीं है ?

साथ ही साथ यह भी खुलासा दे देना हमारा कर्तव्य बन जाता है कि पुष्टिप्रभु पुष्टिभक्तोंके बीच तन्त्रादिविधिके बन्धनोंमें बंधे बिना रमण करते हैं, एतावता देहाभिमानके निवृत्त होनेसे पूर्व, वैदिक तान्त्रिक पौराणिक स्मार्त विधि-निषेधोंके बन्धनोंसे कोई भी पुष्टिभक्त अपने-आपको मुक्त नहीं मान सकता. अतः श्रौत यजन जैसे वृत्त्यर्थ निषिद्ध है इसी तरह तान्त्रिक पौराणिक या स्मार्त देवार्चन भी वृत्त्यर्थ निषिद्ध ही होता है. श्रौत याजन जैसे वृत्त्यर्थ विहित है वैसे ही तान्त्रिक पौराणिक या स्मार्त देवार्चन करवाना भी तन्त्र-पुराण-स्मृतिविहित होनेपर दोषावह नहीं हो सकता है.

पुष्टिमार्गीय आचार्यवंशज गोस्वामिओंके घरोंमें बिराजमान

भगवत्स्वरूप स्वगृहमें स्वधर्माचरणरूप भगवत्सेवार्थ स्वार्थ प्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूप होता है या सार्वजनिक देवालयमें परार्थ प्रतिष्ठापित ? तथाभिनन्दित पु.शि.सं.शि.ने पक्षग्रहण किया था ( द्र. विस्तृत विवरण पृ. १५९ ) – वैष्णवोंके घरोंमें स्वार्थ प्रतिष्ठापित तथा गोस्वामिओंके घरोंमें स्वार्थ–परार्थ उभयार्थ ! वह तो शुद्ध बालबुद्धिवाले कविकी बाललीला ही थी !! परन्तु विमर्शकारने अपना पक्ष इस विषयमें प्रकट किये बिना ही देवद्रव्यप्रकरण–देवलकप्रकरण कैसे लिख मारा है !!!

इसका निष्कर्ष यही निकलता है कि गोस्वामिओंके साथ प्रतिस्पर्धा कर सके ऐसे सार्वजनिक देवालय यदि वैष्णवजन चलाते हैं तो गोस्वामिओंकी आजीविकापर कुठाराघातका भय सता रहा है. अतः वैष्णवोंके सेव्यस्वरूप केवल स्वार्थ ही होते हैं –ऐसा स्वीकार लिया. गोस्वामिओंको सार्वजनिक देवालयमें पूजारि बननेमें भी शर्म आती है, साथ ही साथ भगवत्सेवाको आजीविकार्थ करनेके लोभका संवरण करनेमें भी आज हम अक्षम हो गये हैं, अतः गोस्वामिओंके सेव्यस्वरूप स्वार्थ–परार्थ उभयार्थ होते हैं ! धन्य, धन्य, धन्य !

हमें प्रतीत होता है कि व्यक्तिशः किसी गोस्वामी महानुभावको अपने सेव्यस्वरूपको धर्मार्थ ( =स्वार्थ ) तथा आजीविकार्थ ( =परार्थ ) यों उभयार्थ ही मानने हो तो वह मान लें परन्तु क्या यह वाल्लभ सिद्धान्त हो सकता है ? उत्तर है : ब्राह्मण्यविलोपन तथा पुष्टिभक्तिविलोपन के महासाहसके प्रदर्शनार्थ अवश्य हो सकता है, अन्यथा नहीं.

अतएव इस प्रसंगके उपसंहारमें महाप्रभुके इन वचनोंका अनुसन्धान अतिआवश्यक लगता है :

**मूल :**

**वर्णाश्रमवतां धर्मः श्रुत्यादिषु यथोदितः ।**
**तथैव विधिवत् कार्यः स्ववृत्त्यन्नेन जीवता ।।**
**आचारो वृत्तिहीनश्चेद् अर्धं फलति नाखिलम् ।**

**अनभ्यासेन वेदानाम् आचारस्य च लंघनात् ।।**
**आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ।**
**शिलोञ्छवृत्त्या सन्तुष्टः श्रौतं कर्माखिलं चरेत् ।।**
**तपःस्वाध्यायनिरतो ह्यग्निहोत्रादिपञ्चकम् ।**

'वर्णाश्रमवताम्' इति. उक्तेनैव प्रकारेण कर्तव्यं न तु अनुकल्पैः. तथा सति प्रत्यवायपरिहारएव भवति न तु फलम् इत्यर्थः. तथा स्ववृत्त्यन्नेनैव जीवता सर्वं साध्यम्. ननु तावन्मात्रएव वैगुण्यम् अस्तु, किं सर्वांशेन इत्यत आह 'आचार' इति. वस्तुतस्तु न फलति इत्याह 'अनभ्यासेन' इति. तर्हि कथं फलति इति आकांक्षायाम् आह 'शिलोञ्छवृत्त्या' इति. असन्तोषे तदपि व्यर्थम् (त.दी.नि. सर्वनि. १८५-१८७).

वृत्त्यन्नावश्यकत्वे किञ्चिद् आशङ्कते 'ननु' इत्यादि. 'सर्वनाशेन' इति सर्वधर्मवैगुण्यकृत-सर्वफलनाशेन. 'आचार' इति. आचारो वर्णाश्रमयोः स्वाभाविको धर्मः. वृत्तिश्च तेषां स्वाभाविकी तत्तद्धर्मपोषकत्वेन तदंगभूता च. अन्यथा तस्य-तस्य सा न उक्ता स्यात्. एवञ्च वृत्त्यभावे स्वाभाविकधर्मव्यंगतायां तस्य कौण्ठ्ये वर्णाश्रमलक्षणहान्या वर्णादिव्यपायेन अधिकारस्य कौण्ठ्याद् अर्धं फलतीति तदभावार्थं सा आवश्यकी इत्यर्थः. 'वस्तुत' इत्यादि. तथाच स्ववृत्त्यन्नाभावे अनभ्यासादिदोषचतुष्टयात् मृत्युः उपैति. स च अत्यन्तविस्मरणरूप इति शरीरं पातयन् स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिं नाशयति. बुद्धिं नाशयन् न आचारं फलितुं ददाति...( आव.भंग. ).

**भावानुवाद :** श्रुत्यादि शास्त्रोंमें निर्दिष्ट प्रकारोंके अनुसार वर्णाश्रमवालोंको, अपनी वृत्तिसे उपार्जित अन्नका ग्रहण करते हुए, यथाविधि अपना धर्म निभाना चाहिये. मुख्य कल्पको छोड़कर अनुकल्पोंका सहारा लेनेपर केवल प्रत्यवायका परिहार हो सकता है परन्तु मुख्यफल नहीं. अतः जिस वर्णाश्रमीकी जो शास्त्रानुमोदित वृत्ति हो उसके द्वारा ही कमाये अन्नसे जीवननिर्वाह करना चाहिये. यदि कोई अपनी नियतवृत्तिको नहीं निभा पाता और सारे आचारनियम ( कुएके जलकी खासा-सेवकीवाली अपरस ) निभाता है तब

भी ऐसे आचारको अधूरा ही समझना चाहिये. वैसे तो 'अधूरा' कहनेके बजाय इसे 'निरर्थक' कहना ही अधिक उचित है. क्योंकि (१) वेदादि शास्त्रोंका अध्ययन न करना (२) आचारका उल्लंघन (३) आलस्य (४) अस्ववृत्तिद्वारा उपार्जित दुष्ट अन्नका भोजन – ये विप्रको खतम कर देते हैं. अतः शिलोञ्छादि विहित वृत्तिओं द्वारा उपार्जित अन्नका आग्रह आवश्यक है. उस स्ववृत्तिद्वारा अन्नके उपार्जनमें भी यदि सन्तोष नहीं रखा जाता तो सारा किया–धरा व्यर्थ ही होता है (त.दी.नि. सर्वनि. १८५–१८७).

स्ववृत्तिद्वारा उपार्जित अन्नका भक्षण आवश्यक है. क्योंकि नहीं तो किया–धरा सब चौपट हो जाता है. वर्णाश्रममें आचारकी तरह वृत्ति भी स्वाभाविक होती है, जो तत्तद् वर्णधर्म और तत्तद् आश्रमधर्मों की पोषक तथा अंग होती है. अतः इस वृत्तिके नियमको न निभानेपर वर्ण या आश्रम के धर्म बिगड़ कर वर्ण या आश्रम का स्वरूप ही खण्डित कर देते हैं. अर्थात् (यजनको आजीविकाका साधन बनानेपर) ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं रह जाता या (ब्रह्मचारी–संन्यासीकी तरह भिक्षा मांगनेपर) गृहस्थ गृहस्थ ही नहीं रह जाता. इसलिये अपनी वृत्तिको छोड़ कर उल्लिखित चार दोषोंके कारण ब्राह्मण खतम हो जाता है; इस अर्थमें कि उसे अपने धर्मका भान नहीं रह जाता, उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है (खासा–सेवकीकी कुएके जलकी अपरसवाला) सारा आचार बेकार हो जाता है (आवरणभंग).

वैसे व्यक्तिशः ब्राह्मण्यविलोपनके अनेकानेक हेतु आज गिनाये जा सकते हैं. उनकी चर्चा, परन्तु, यहां अप्रासंगिक ही होगी. ब्राह्मण्यविलोपक उन हेतुओंका समर्थन, क्योंकि, जनताके समक्ष खुलकर कोई आचार्यवंशज करता नहीं है. अतः उसे वैयक्तिक स्खलन ही हम भी स्वीकारते हैं. पुष्टिमार्गके ५०० वर्षोंके इतिहासमें, इदंप्रथमतया, विमर्शकारने ही वृत्त्यर्थ भगवद्भजनके धर्म्य होनेकी घोषणा अब निःसंकोच कर दी है ! अतः यह विशोधन भी आवश्यक हो गया है.

अतः ब्राह्मणत्वके सन्दर्भमें इस विशोधनके बाद वैदिक गुरुत्वके

सन्दर्भमें आजीविकार्थ भगवत्सेवा धर्म्य हो सकती है या नहीं – इस प्रश्नका उत्तर खोजने अब हमें अग्रसर होना है.

***

## *सिद्धान्तसार*

**यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सो अधमः इति.** – सुबो. २।९।१९.

जो स्वार्थ (वृत्त्यर्थ भूत्यर्थ प्रतिष्ठार्थ) भगवत्सेवन करता हो उसे अधम (ब्राह्मण) समझना चाहिये.

– महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य.

# वैदिक गुरुत्व

**मूल :** **उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम् ।**
**वेदमध्यापयेत् पश्चाद् शौचाचारांश्च शिक्षयेत् ।।**
**स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति ।**
**आनीय आददद् वेदमाचार्यः स उदाहृतः ।।**
**एकदेशमुपाध्यायः ऋत्विग् यज्ञकृदुच्यते ।**

(याज्ञ. स्मृ. आचाराध्याय २।१५-३४)

**उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।**
**सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यः प्रचक्षते ।।१४० ।।**
**एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः ।**
**योध्यापयति वृत्त्यर्थम् उपाध्यायः स उच्यते ।।१४१ ।।**
**निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधिः ।**
**सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ।।१४२ ।।**
**अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ।**
**यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ।।१४३ ।।**
**य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।**
**स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत् कथञ्चन ।।१४४ ।।**
**श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेद् ।**
**गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुसु ।।२०७ ।।**

(मनुस्मृ. अध्याय २)

**अनुवाद :** गुरु शिष्यको उपनयन संस्कारसे संस्कृत करके महाव्याहृतिपूर्वक वेदका अध्यापन करे. पश्चाद् शौचाचारोंका भी प्रशिक्षण दे. जो पिता निषेकादि क्रियाओंको करके वेदाध्यापन करता हो उसे 'गुरु' कहते हैं और पितासे भिन्न कोई उपनयन संस्कारसे दीक्षित करके वेदाध्ययन कराता हो तो उसे 'आचार्य' कहते हैं. वेदके किसी एक देश = हिस्सेको पढ़ानेवालेको

‘उपाध्याय’ कहा जाता है. उसी तरह जो द्विजको यज्ञादि कर्म कराता है उसे ‘ऋत्विक्’ कहा जाता है. (याज्ञ.स्मृ.)

जो द्विज शिष्यका उपनयन संस्कार करके सकल्प सरहस्य वेदको पढ़ाता है उसे ‘आचार्य’ कहते हैं. वेदके किसी एक हिस्से या वेदांगोंको वृत्त्यर्थ पढ़ानेवालेको ‘उपाध्याय’ कहा जाता है.विधिवत् गर्भाधान आदि संस्कारोंको करनेके बाद अन्नद्वारा पालन–पोषण करनेवाले पिताको ‘गुरु’ कहा जाता है. अग्न्याधान, पाकयज्ञ, अग्निष्टोम आदि यज्ञोंको करानेके लिये जिस विप्रका हम वरण करते हों वह ‘ऋत्विक्’ कहलाता है. जो हमारे दोनों कर्णोंको अवितथ वेदोपदेशसे भरपूर बनाता हो वही हमारी माता है वही हमारा पिता है; उसके साथ कभी द्रोह नहीं करना चाहिये. विद्यातपसे समृद्ध अपनेसे बडे गुरुपुत्र अथवा गुरुके बन्धु–बान्धवोंको भी अपने गुरुके रूपमें ही मान्य करना चाहिये. ( मनुस्मृ.)

इस धर्मोपदेशकी प्रक्रियापर दृष्टिपात करनेसे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट गुरुत्वके सोपान समझमें आते हैं. यथा– (१) ऋत्विक् (२) जनकपिता = गुरु (३) उपाध्याय (४) आचार्य

## *(१) आर्त्विज्य*

स्पष्ट है कि ऋत्विक् वह होता है जिसका केवल कर्मानुष्ठानकालमात्रके लिये वरण होता है. अर्थात् हमें कर्मोपदेशद्वारा हमसे कर्मानुष्ठानको सम्पन्न करवानेके लिये जिसका हम वरण करते हैं. एतदर्थ कर्मदक्षिणा प्रदान करनेकी विधि होती है. अतः जैसे न्यायालयमें हमारी बात कहनेको न्यायविद वकीलोंका वृत्त्यर्थ गुरुत्व एवं अभिभाषकत्व होता है, वैसे ही यह वृत्त्यर्थ गुरुत्व भी कर्मानुष्ठानकालमात्रमें सीमित होता है.

यह तो स्पष्ट है कि यह ऋत्विक्पद वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानके सन्दर्भमें ही प्रयुक्त हुआ है. फिर भी तत्स्थानीय अपने मार्गमें भगवत्सेवा है. अतः जैसे श्रौतकर्मोंका अनुष्ठापन कर्मदक्षिणाकी वृत्ति अपनाकर किया जाता है, वैसे ही पुष्टिमार्गीय कर्म भगवत्सेवाका अनुष्ठापन सेवाकी भेंट–न्योछावर लेकर किया जा

सकता है या नहीं – यह विचारणीय है. श्रीप्रभुचरण तथा श्रीपुरुषोत्तमजीने इसी विषयका स्पष्टीकरण इन शब्दोंमें दिया है –

**मूल : वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका, एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा – एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्. एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भावः.** (सि.मु.वि.२).

**व्याख्या :** तत् चेद् वित्तं वेतनत्वेन दत्वा कार्यते तदा सा चित्तस्य राजसत्वं कुर्वन्ती चित्तस्य तत्प्रवणत्वं न करोति. यदि च वित्तं वेतनत्वेन गृहीत्वा क्रियते तदा ऋत्विजो यागवत् स्वस्य तत्प्रवणत्वरूपं फलं न साधयति. नच यागो यजमानस्य इव वित्तदातुः फलति इति शंक्यं, तत्र ऋत्विग्दक्षिणावरणादिवद् अत्र तद्दानादेः भक्तिमार्गेभगवता अनुक्तत्वात्. अतः तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्. तदैव साधनरूपा साध्यरूपां मानसीं सेवां जनयन्ती स्वयमपि पश्चाद् फलरूपतया व्रजस्थानामिव पर्यवस्यति इति (सि.मु.वि.प्र. २).

**अनुवाद :** किसी दूसरे व्यक्तिको वित्त देकर कराई गई सेवा यह एक प्रकार है और इसी तरह दूसरेका वित्त लेकर की गई सेवा यह दूसरा प्रकार है. इन दोनों प्रकारोंसे की गई सेवा चित्तको भगवत्प्रवण बनानेमें साधिका नहीं बनती – यह अभिप्राय 'तनुवित्तजा' समस्त पदके प्रयोगद्वारा ज्ञापित होता है. इससे सिद्ध होता है कि किसी भी फलाकांक्षा या कपट के बिना जब भगवानके लिये हम अपना सर्वस्व निवेदन करके भगवानके ही लिये अपने देहका भी विनियोग करते हैं तब प्रेम होनेपर चित्तकी भगवत्प्रवणता सिद्ध होती है. (सि.मु.वि. ).

वह वित्त यदि वेतनके रूपमें देकर सेवा कराई जाती है तो चित्तमें ऐसी राजसता = अहंकारको बढा देनेवाली बन जायेगी कि चित्त भगवत्प्रवण हो नहीं पायेगा. यदि वेतनके रूपमें वित्त लेकर सेवा की जाती है तो जैसे ऋत्विक्को यागका फल नहीं मिलता, इसी तरह दूसरेका वित्त लेनेके कारण स्वयंके चित्तके भगवत्प्रवण हो पानेका फल सिद्ध नहीं होगा. यहां यह शंका नहीं करनी चाहिये कि वित्तदान करनेवाले यजमानको जैसे यागफल मिलता है उसी तरह वित्तदान

करके दूसरेसे भगत्सेवा करवा लेनेवालेको भी चित्तकी भगवत्प्रवणतारूप सेवाका फल मिलना ही चाहिये. क्योंकि यज्ञयागके लिये ऋत्विजोंका वरण, उन्हें दक्षिणा देने, आदिका प्रकार शास्त्रविहित है. भक्तिमार्गमें उस तरह अन्यका वरण करके सेवा करवा लेनेका और तदर्थ दक्षिणा दे देनेका प्रकार भगवानने कहा नहीं है. अतः यज्ञयागकी तरह वित्तदक्षिणा देकर सेवा दूसरेसे नहीं करवा लेनी चाहिये किन्तु भगवानने जैसी कही है वैसी ही रीतिसे सेवा करनी चाहिये. तभी साधनरूपा तनुवित्तजा साध्यरूपा मानसी सेवाको सिद्ध करती हुई स्वयं भी फलरूपा बनकर व्रजस्थ भक्तोंकी तरह पर्यवसित हो जायेगी. (सि.मु.वि.प्र.).

**मूल: ''लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्वदेवलकत्वादिसम्पादकत्वात् तद्व्यतिरिक्तेन अनिषिद्धप्रकारेण ऐहिकं मे भवतु इति अनुसन्धाय प्रवृत्तो लोकार्थी''** (सि.मु.वि.प्र. १६).

**अनुवाद:** धनलाभ अथवा गाममें अपनी ख्याति बढ़ानेके प्रयोजनवश की जाती सेवा उपधर्म = पाषण्ड, देवलकता, आदि दोष पैदा करनेवाली होती है. अतः सेवाके वैसे प्रकारसे भिन्न (अर्थात् निषिद्ध जो वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाका प्रकार है वैसे नहीं किन्तु धर्मार्थ भगवत्सेवाके ही) प्रकारसे की जाती सेवा करते समय हृदयके भीतर कोई ऐसी कामना रखे कि इससे मेरा ऐहिक भी कुछ सुधर जाये – ऐसे अनुसन्धानके साथ भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेवालेको लोकार्थी समझना चाहिये. इसे, महाप्रभुके अनुसार, भक्तिसिद्धिकी जगह क्लेशप्राप्ति ही होती है (सि.मु.वि.प्र. १६).

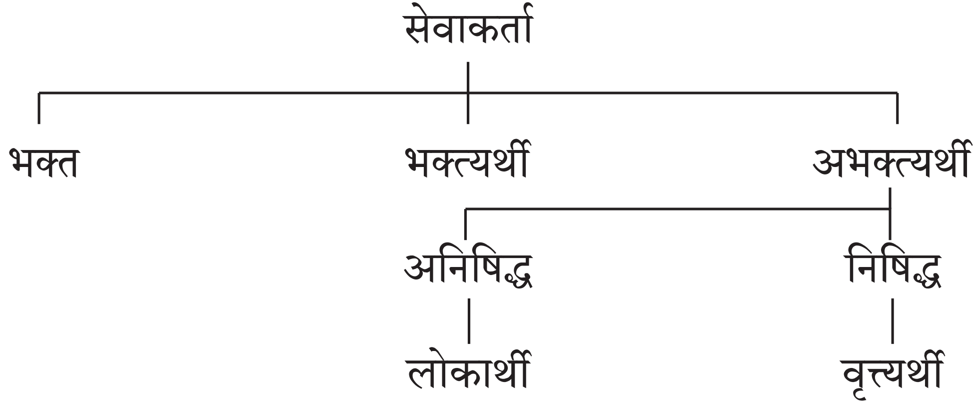
इस विधानपर विमर्शकारने अपना मत यों दिया है:

''प्रकृतमें श्रीपुरुषोत्तमजीके कहनेका आशय यह है कि लाभपूजार्थ की जानेवाली सेवा उपधर्म है. अर्थात् सेवाका दम्भ है. लाभपूजार्थ की जानेवाली सेवा देवलकत्व आदिकी सम्पादिका है. यहां यह ध्यातव्य है कि अपने निर्वाहके लिये की जानेवाली सेवा (प्रारम्भमें वर्णित वृत्त्यर्थ सेवा) महद्विमृग्य भक्तियोगकी दृष्टिसे उपधर्म है या नहीं – यह सन्दिग्ध है. परन्तु इस दृष्टिसे वह परधर्म अवश्य है. वैसी सेवा धर्मशास्त्रानुसार न उपधर्म है और न तो परधर्म है.

क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है. द्रव्य कमाने हेतु...परन्तु वृत्त्यर्थ की जानेवाली भगवत्सेवा देवलकत्वकी सम्पादिका नहीं हो सकती.'' ( विमर्श पृ. ५७-५८ ).

इससे अधिक हास्यास्पद अकाण्डताण्डवकी कल्पना करनी कठिन है !

यहां सर्वप्रथम लोकार्थी अथवा वृत्त्यर्थी द्वारा की जाती सेवाओंके भेदको समझना नितान्त आवश्यक है. तदनुसार एक सारणीपर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा :




पहले परिच्छेदमें 'निरुपधि'विशेषणके अभिप्रायकी मीमांसा करते हुए पृष्ठ ७-११ तक जो विमर्शकारने विचाराडम्बर किया है वह तथा इस देवलकतापर किये गये विचारसे इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि विमर्शकारको लोकार्थी और वृत्त्यर्थी के भेदका लेशमात्र भी भान नहीं है. इसलिये तनुवित्तजाके अखण्डितैक्यनियमसे छटकनेको वहां 'निरुपधि' तिलका ताड बनाया गया है. इसी तरह यहां ''अपने निर्वाहके लिये की जानेवाली सेवा...उपधर्म है या नहीं यह सन्दिग्ध है'' विधानद्वारा ताडको तिल जितना माननेकी बाललीला प्रकट की है. इस विचाररीतिमें कितने दोष हैं ? गिनिये –

**(१)** भक्तिहंसगत **''तत्रापि अर्थाद्यर्थिभिः विहितत्वेन कृतः चेत् तदा स तथा ( कर्ममार्गीयः ) वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवत् लौकिकएव शौचार्थिगंगास्पर्शवत् च. नहि तस्य मलनिवृत्त्यतिरिक्तो धर्म उत्पद्यते प्रत्युत निषिद्धाचरणाद् पापमपि''** ( द्र. इसी ग्रन्थका पृ. ३९०-३९१ ) वचनानुसार अर्थाद्यर्थीद्वारा विहितत्वेन कृत श्रवणादि भक्तिमार्गीय न होनेपर भी कर्ममार्गीय तो हो सकते हैं.वृत्त्यर्थ किये श्रवणादि तो कृषिवत् लौकिक कर्म ही नहीं प्रत्युत निषिद्ध पापाचरणरूप ही होते

हैं. यह भेद भी लोकार्थी और वृत्त्यर्थी का ही है. अतएव लोकार्थीके लिये श्रीपुरुषोत्तमजीने **''तद्व्यतिरिक्तेन अनिषिद्धेन प्रकारेण''** कहा है. इसी तरह वृत्त्यर्थीको यहां 'पाखण्डी' 'देवलक' जैसे कह रहे हैं ऐसे ही भक्तिहंसमें ''निषिद्धाचरणकर्ता पापी'' कहा गया है.

इतने सुस्पष्टभेदके बावजूद विमर्शकारको अपने निर्वाहके लिये की जानेवाली भगवत्सेवा उपधर्म है कि नहीं – यह सन्दिग्ध लग रहा है तो लगता है कि न केवल श्रीपुरुषोत्तमजीके विधानके ही अपितु प्रभुचरणके विधानके प्रामाण्यमें भी विमर्शकारने अपनी संशयात्मता प्रकट कर दी है, आत्मविनाशकी परवाह किये बिना ! क्योंकि विमर्शकार कह रहे हैं कि वृत्त्यर्थ की जानेवाली भगवत्सेवा देवलकत्वादिसम्पादिका नहीं हो सकती जबकि प्रभुचरण स्पष्ट गंगाके पवित्र जलको पायुप्रक्षालनार्थ प्रयोग करनेके पापसे वृत्त्यर्थ भक्तिकी तुलना कर रहे हैं.

(२) शास्त्रमें यजन धर्मार्थ तथा याजन वृत्त्यर्थ होता है – इतना स्थूल भेद भी विमर्शकार समझ नहीं पाये ! किमाश्चर्यमतः परम् !

(३) श्रीयामुनेयाचार्यजीके सारे वचन वृत्त्यर्थ याजनपरक हैं, यजनपरक नहीं – यह भी करतलामलकवत् तथ्य विमर्शकार समझ नहीं पाये हैं.

(४) प्रभुचरण तथा श्रीपुरुषोत्तमचरणद्वारा अभ्युपगत पक्षसे पृथक् महद्विमृग्य भक्तियोगका उल्लेख कर उन्हें पुष्टिमार्गमें महद्विमृग्य भक्तियोगके या तो अनधिकारी अथवा अज्ञानी होनेका छद्म आरोप और लगा दिया है !

(५) ''वृत्त्यर्थ की जानेवाली सेवा देवलकत्वसम्पादिका होती है उसमें कोई प्रमाण नहीं है'' कहना तो विमर्शकारका अपने शास्त्रश्रद्धाराहित्यका ही शुद्ध प्रदर्शन है. क्योंकि देवद्रव्यप्रकरण तथा देवलकप्रकरण के अन्तर्गत तन्त्रादि शास्त्रोंके जितने वचन विमर्शकारने उद्धृत किये हैं उनमेंसे प्रायः अनेकानेक कोटिओंमें आधुनिक पुष्टिमार्गीय गोस्वामी देवलक ही सिद्ध होते हैं. यह हम आगे चलकर दिखायेंगें.

(६) 'वित्तं दत्वा'में श्रीपुरुषोत्तमजीद्वारा व्याख्यात 'वेतनत्वेन' का इतना बावेला मचानेवाले विमर्शकार यदि यहां श्रीपुरुषोत्तमजीद्वारा किये गये विधानका प्रामाण्य सन्दिग्ध मानते हों तो वहां भी वह सन्दिग्ध बन जायेगा कि नहीं ?

(७) आर्त्विज्यार्थ गृहीत दक्षिणाद्रव्यकी निर्दोषताके आधारपर भगवत्सेवार्थ गृहीत भेंट-सामग्रीकी निर्दोषता सिद्ध करनी हो तो फिर पुष्टिमार्गीय गोस्वामी कर्मपुरोहित या देवालयपुरोहित ही सिद्ध होंगें, आचार्य या गुरु नहीं. क्योंकि उपदेशकको दी जाती गुरुदक्षिणा तथा ऋत्विक् = पुरोहितोंको दी जाती कर्मदक्षिणा एक कोटिकी हो नहीं सकती. क्योंकि यदि एक कोटिकी हो सकती हो तो जो आचार्यको गुरुदक्षिणा या स्वसम्प्रदायकी परिभाषाके अनुसार 'गुरुकी चरणभेंट' कही जाती है वह वेतन बन जायेगी. इससे सेवा करना स्वयं विमर्शकारद्वारा निषिद्ध माना गया है. अतएव यदि भिन्न मानते हैं तो आर्त्विज्यके लिये वृत ब्राह्मणको दी जाती कर्मदक्षिणाकी तुलनामें आधुनिक वल्लभवंशज गोस्वामिओंको दी जाती भगवत्सेवार्थ भेंट-सामग्रीका कोई बादरायणसम्बन्ध भी खोजना कठिन काम हो जाता है.

(८) आर्त्विज्यमें वंशवाद नहीं चलता है परन्तु कर्मविधिकी जानकारी ही अभिलषित होती है. अतः गोस्वामिओंकी आनुवंशिक गुरुपदवी खतम हो जायेगी !

(९) पुष्टिमार्गीय गोस्वामिओंके द्वारा यदि आर्त्विज्य किया जाता हो तो सेव्यस्वरूपके बारेमें तथाभिनन्दित पु.सि.सं.शि. चि.हरिरायजीद्वारा गृहीतपक्ष - कि गोस्वामिओंके स्वार्थ-परार्थ उभयार्थ होते हैं - अकाम गलेपतित होगा. ऐसी स्थितिमें निजाराध्य सेव्यस्वरूप भी गोस्वामी तथा वित्तदाता दर्शनार्थी वैष्णवोंकी साझेदारीका होगा. तब भगवत्स्वरूपमूलक पीठाधीशतावादिओंको वित्तदाता दर्शनार्थिओंकी भी पीठाधीशतामें भी साझेदारी स्वीकारनी पड़ेगी.

(१०) आर्त्विज्यमें कर्मफल ऋत्विजको नहीं परन्तु वित्तदाता यजमानको प्राप्त होता है. ऐसे ही चित्तका भगवत्प्रवण बनना रूप फल भी वित्तदाता दर्शनार्थी जनताको मिलेगा, पू.पा.गो.महाराजश्रीको नहीं. इससे

अधिक विडम्बनापूर्ण स्थिति और क्या हो सकती है कि गुरु मुख्यफलसे वंचित और शिष्य मुख्यफलाधिकारी सिद्ध हो रहे हैं !

(११) विमर्शकारद्वारा उद्धृत श्रीयामुनेयाचार्यके वचनोंमें - ''नहि भागवतैः सर्वैः वृत्तयेऽभ्यर्चितो हरिः. दृष्टा हि बहवः स्वार्थं पूजयन्तोपि सात्त्वताः. केचिद् परं सन्तः शाश्वता(ऽ)वृत्तिकर्शिता याजयन्ति महाभागैः वैष्णवैः वृत्तिकारणात्. न तावतैषां ब्राह्मण्यं शक्यं नास्तीति भाषितुम्, न खल्वाध्वर्यवं कुर्वन् ज्योतिष्टोमे पतिष्यति. यदि न प्रतिगृह्णीयुः पूजैव विफला भवेत्, पूजासादुण्यसिद्ध्यर्थमतस्ते प्रतिगृह्णते. अर्चनान्ते हिरण्यं च तस्मै देयं स्वशक्तितः, अन्यथा पूजकस्यैव तत्र पूजाफलं भवेत्, 'हक्त्यल्पदक्षिणो यज्ञः' इत्यादिस्मृतिदर्शनात्. ऋत्विजा धनलुब्धेन स्वयं याञ्चापुरस्सरं, यदार्त्विज्यं कृतं कर्म तदेव हि निषिध्यते.''* ( विमर्श. पृ. ४५-४६ ).

(*वृत्त्यर्थ देवतापूजा नैवेद्यभक्षण आदि हेतुओंके कारण दौर्ब्राह्मण्यके आरोपका खुलासा यह है : सभी भागवत वृत्त्यर्थ ही हरिपूजन करते हों ऐसा नहीं है. अधिकांश सात्त्वत ( वैष्णव ) स्वार्थ ही भगवत्पूजन करते दिखलाई देते हैं. कुछ (अ)वृत्तिकर्शित यदि महाभाग वैष्णवोंद्वारा वृत्त्यर्थ याजन ( यजन नहीं ) करते भी हों एतावता उनमें ब्राह्मणत्व नहीं रहता - यह कहा नहीं जा सकता है. उदाहरणतया ज्योतिष्टोममें आध्वर्यव = आर्त्विज्य करनेवालेका पतन होता है ऐसा माना नहीं जाता. यदि वे पूजाको सफल बनानेके लिये कुछ दक्षिणा वृत्त्यर्थ स्वनिर्वाहार्थ न स्वीकारते हों तो पूजा ही विफल हो जायेगी ( पूजाविधिमें दक्षिणादानके विहित होनेके कारण ). अतः यजमानको अपनी शक्तिके अनुरूप उन्हें हिरण्य दक्षिणाके रूपमें देना चाहिये. अन्यथा पूजाका फल यजमानोंको मिलनेके बजाय पूजाकर्ता ऋत्विक्को मिल जायेगा. ''अल्पदक्षिणाक यज्ञ घातक होता है'' जैसे वचनोंके कारण जो ऋत्विक् धनलोभसे स्वयं अधिक दक्षिणा मांगने लगता है वैसा आर्त्विज्य तो ज्योतिष्टोमादि यज्ञकर्मकी तरह हरिपूजनरूप कर्ममें भी निषिद्ध ही है.)

स्पष्ट है कि परार्थयाजन अर्थात् वृत्तिरूप याजनकी वैधता यहां विवक्षित है, स्वार्थयजन को वृत्त्यर्थ करनेकी अनुमति नहीं. अतएव हिरण्यदक्षिणा न देनेपर पूजाफल यजमानके बजाय पूजाकर्ता ऋत्विक्को मिल जायेगा इसकी विभीषिका यहां दिखलाई गई है. प्रकृत सन्दर्भमें विमर्शकार भी क्या भयभीत है कि गोस्वामिओंका चित्त कहीं भगवत्प्रवण न हो जाय ! क्या एतदर्थ ही वे दर्शनार्थी

वैष्णवजनताको प्रेरित करना चाहते हैं कि पू.पा.गो.म.श्रीओंके सेव्यस्वरूपकी नित्यसेवा और मनोरथसेवामें भेंट-सामग्री प्रदान कर पू.पा.म.श्रीओंके चित्तोंको भगवत्प्रवण होनेसे कथमपि बचा लेना दर्शनार्थी वैष्णवजनताका कर्तव्य है ?

स्वयं श्रीयामुनेयाचार्य भी स्वयंयाचनाका तो निषेध कर ही रहे हैं. मनोरथोंकी भेंट-सामग्रीकी स्वयंयाचनाके पॅम्फलॅट तथा मासिक पत्रिकाओंमें सार्वजनिक याचनाओंकी फॉटॉ प्रतिलिपि प्रकाशित करवानी हो तो एक दलदार पन्नोंका स्वतन्त्र ग्रन्थ ही छप सकता है. कहाड़ीभेंटकी स्वयंयाचनाकी पुस्तिकाके आद्यन्त पृष्ठोंकी फॉटॉकॉपी तो हमने प्रथम भागमें प्रकाशित करवायी ही थी !

इन दोषोंको देखते हुए आर्त्विज्यमें दक्षिणादानके समर्थक वचनोंका हम गोस्वामिओंको लाभ मिल सकता हो – ऐसा मुझे नहीं लगता.

## *(२) जनकपितृतारूप गुरुत्व*

वित्तदाता दर्शनार्थी जन तथा वित्तगृहीता पू.पा.गो.म.श्रीओं के बीच निषेकादि संस्कार अन्नवस्त्रादिद्वारा पालन-पोषणरूप गुरुत्वकी चर्चा तो सर्वथा अकल्पनीय अप्रासंगिक होनेसे उपेक्षणीय ही होनी चाहिये. पुत्रकल्प वैष्णवजनतासे

असमर्थ पितृकल्प गुरुओंके पालन-पोषणकी बात तो कथमपि सोची भी जा सकती है जबकि पूर्ववर्णित अनेकानेक भेंटके प्रकारोंको देखते हुए तो हम गोस्वामिओंका ही पालन-पोषण वैष्णवजनता कर रही है. सो भी हमारे गुरुजनोचित कर्तव्योंसे हमारे विमुख विरत तथा असमर्थ होनेपर भी ! सो इस विषयमें प्राचीन वार्ताओंकी उपसंहारशैलीका अनुसरण करते हुए ''इनकी वार्ता कहां तांई कहीये !'' कहकर हम भी उपसंहार करना चाहेंगे .

## *(३-४) उपाध्यायरूप तथा आचार्यरूप गुरुत्व*

इस उपाध्याय तथा आचार्य के एकैकांशोंको लेकर व्याख्याकार

मेधातिथिने उपाध्यायसे ऊपर आचार्यसे नीचे एक और कोटि सामान्य गुरुत्वकी स्वीकारी है. वे कहते हैं: ''उपाध्यायकी तरह उपनयन-दीक्षा प्रदान किये बिना ही आचार्यकी तरह जो वेदोंका अध्यापन करायें उसे क्या कहना ? उत्तर है- 'अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया' वचनके आधारपर उसे आचार्यसे न्यून परन्तु उपाध्यायसे उच्च गुरुतया मान्य करना चाहिये.''

इन उपाध्याय गुरु तथा आचार्य को अध्यापनकालमें तथा अध्यापनोत्तरकालमें गुरुदक्षिणाका विधान उपलब्ध होता है. कुल्लुक कहते हैं कि आपस्तम्ब सूत्रके अनुसार समावर्तनसे पहले भी नियत न होनेपर भी ब्रह्मचारीको भिक्षामें यदि कुछ गो-वस्त्र-धन-धान्यादि मिलता हो और उसे वह गुरुको देना चाहे तो उसे भी गुरुदक्षिणा ही समझनी चाहिये. समावर्तनके समय गुरुसे आज्ञा मिलनेपर यथाशक्ति अथवा कहींसे याचनापूर्वक भी गुरुदक्षिणा देनेमें दोष नहीं है. इसी अनियमका निरूपण मनुस्मृतिमें, अतएव, इन शब्दोंमें किया गया है:

न पूर्वं गुरवे किञ्चिद् उपकुर्वीत धर्मवित्।
स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्।। (मनुस्मृ. २।२४४).

स्पष्ट है कि वैदिक उपाध्याय गुरु या आचार्य के धर्मभूत यजनमें यागार्थ वस्तु या वित्त प्रदान करनेकी विचारणा न केवल अप्रासंगिक ही है अपितु अकल्पनीय भी. ऐसी स्थितिमें यदि उपाध्याय गुरु या आचार्य मेंसे कोई एक आधुनिक गोस्वामिओंको माना जाय तब भी इनके द्वारा अनुष्ठित यजनस्थानीय भगवत्सेवाकेलिये वित्त या अन्नादि वस्तु का प्रदान आवश्यक नहीं रह जाता है. क्योंकि ऐसे दानका प्रतिग्रह न तो 'उपाध्यायवृत्ति' न 'गुरुवृत्ति' और न 'आचार्यवृत्ति' ही कहलायेगी. गुरुदक्षिणांगभूत उपायन या सत्प्रतिग्रह की बात यहां सोचनेपर प्रासंगिक हो सकती है. इस सन्दर्भमें यह अवधेय है कि दीक्षाप्रदानपूर्वक समग्र शास्त्र या शास्त्रैकदेश का अध्यापन किया हो तभी वह धर्म्य हो पायेगा अन्यथा नहीं. आज लड्डु पूड़ी मठड़ी के विक्रयार्थ किये जाते मनोरथोंके आयोजक हम गोस्वामिओंमें वेदादि शास्त्रोंके अध्ययनार्थ उत्सुक

कितने हैं और अधीत कितने हैं तथा अध्यापनका परिश्रम लेने समुद्यत कितने हैं! यदि शुद्ध शुद्ध गुरुभाव हमारे भीतर होते तो देवद्रव्योपजीवनकी या देवलकताकी वृत्तिकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती! और न उसकी वकालतमें विमर्श जैसे अपसिद्धान्तप्रतिपादक ग्रन्थोंको प्रकट करनेकी आवश्यकता ही!

स्पष्ट है कि अध्यापनके कर्तव्यको निभाये बिना अध्यापककी हैसियतमें उपायन स्वीकारना गुरुदक्षिणारूप उपायन न रहकर ब्राह्मणकी हैसियतमें केवल प्रतिग्रह ही रह जाता है. ''तपस्तेजोयशोनुदम्'' शब्दोंमें इसे ही सर्वथा निन्दित माना गया है. यह तो ठीक ही है कि निन्दित होनेपर भी यह सर्वथा निषिद्ध नहीं है. अतः जब ब्राह्मणकी हैसियतमें हम प्रतिग्रह करते हैं तब उसके सत्प्रतिग्रह होनेकी सावधानी हमें रखनी ही पड़ेगी, सत्प्रतिग्रहनियमविधायक वचनोंके बलपर. तदन्तर्गत पुनः दाताके बारेमें तथा प्रतिग्राह्य धन या वस्तु के बारेमें सदसद्विवेक अनिवार्य हो जाता है. यथा –

**प्रतिग्रहस्तु वृत्त्यर्थं ब्राह्मणस्तु समाचरेद् ।**
**असदेवासतां प्रोक्तं निषिद्धं तद् विवर्जयेत् ।।**

यहां वृद्धहारीतने पाषण्डी–पतित–कुलटादि असद्दाताओंद्वारा दिये जाते दानके प्रतिग्रहकी कड़ी निन्दा की है. इसी तरह सद्दाताओंसे भी मांस–दिरा–घृत–लवणादि द्रव्योंको अप्रतिग्राह्य असद्द्रव्यतया निरूपित किया है.

इस सन्दर्भमें यह नितान्त विचारणीय हो जाता है कि आज पुष्टिमार्गीय सार्वजनिक मन्दिरों या हवेलिओं में बिना शिष्याशिष्यके विवेकके, बल्कि पुष्टिमार्गीय या अपुष्टिमार्गीय के भी सदसद्विवेक रखे बिना, सभी दर्शनार्थिओंसे जो सन्मुख भेंट या असन्मुख (!)भेंट अर्थात् भण्डार पेढ़िओंमें घृतलवणतिलादि तथा गौशालामें घास आदि भी, जो वर्जित द्रव्य माने गये हैं, उनका प्रतिग्रह करना कहां तक उचित है? यदि देवार्थ प्रतिग्रह होनेसे अनुचित न मानते हों तो देवद्रव्यके उपभोगके कारण देवलकता दोष गलेपतित होगा. गोस्वामी महाराजकेलिये प्रतिग्रह मानते हैं; अर्थात् वह गुरुकी हैसियतमें शिष्योंसे गुरुदक्षिणांगभूत उपायनतया लेना स्वीकारते हैं, तो अशिष्योंका कुछ लेनेमें न आ जाय इसकी सावधानी कहां रखी जाती है? यदि ब्राह्मणकी हैसियतमें लेते हैं तो

पुनः सत्प्रतिग्रहका नियम अनिवार्य हो जाता है. वह कहां निभाया जा रहा है ? यथा –

**पाषण्डाः पतिताः पापाः तथैव प्रतिलोमजाः ।**
**कुलटाश्च विकर्मस्था असतः परिकीर्तिताः ।।**

**लवणं तिलकार्पासं चर्म्म च त्रपुसीसकम् ।**
**आयसं मधुमांसं च विषमन्नं घृतं रुजम् ।।**

. . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . .

**तृणकाष्ठं च कूष्माण्डं शिंशपाश्च विवर्जयेद् ।**

(वृद्ध हारीतस्मृ. चतुर्थाध्याय).

वैसे एक दुःखद हकीकत तो यही है कि अधिकांश आचार्यवंशज गोस्वामी महानुभाव महाप्रभु-प्रभुचरणादि विरचित पुष्टिमार्गीय ग्रन्थोंके अध्ययनाध्यापनसे भी बहुधा विरत-विमुख रहते हैं और साथ ही साथ केवल आचार्यवंशज होनेके नाते दीक्षाप्रदान करनेका अपना एकाधिकार भी मानकर गुरुपदोचित गौरवके दावेदार भी बने रहना चाहते हैं. ऐसी स्थितिमें वेदवेदांगादि शास्त्रोंके अध्ययनाध्यापनकी अपेक्षा इस मार्गके अनुयायिओंकी केवल मृगतृष्णा ही सिद्ध होती है. स्वयं विमर्श ग्रन्थ धर्मार्थ यजन और वृत्त्यर्थ याजनके शास्त्रीय दृष्टिमें स्थूलतम प्रभेदका भी विवेक कर पानेमें अपनी अक्षमता प्रकट कर रहा है तो अन्योंकी तो कथा ही क्या ! पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (पार्ला)में गोस्वामी श्रीवल्लभरायजीने ''न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः'' वचन उद्धृत कर कर वेदवेदांगन्यायमीमांसा आदि शास्त्रोंमें निष्णात निरपेक्ष विरक्त शान्त वृद्धोंकी अनुपस्थितिमें लिये गये धर्मनिर्णयको अनिर्णायक माना था (द्र. विस्तृत विवरण पृ.२८८-२९३). क्या विमर्शकार उक्त लक्षणसे युक्त किसी 'गोस्वामी'का निर्देश शृंगग्राहिकावृत्तिसे कर पायेंगे ?

ऐसी स्थितिमें उपायनीभूत गुरुभेंट या सत्प्रतिग्रह दोनोंमेंसे एकके भी सिद्ध न होनेपर –

**मूल : अव्रतश्चानधीयानाः यत्र भैक्षचरा द्विजाः ।**

**तं ग्रामं दण्डयेद् राजा..............**

(अत्रिसंहिता श्लो. २२).

**अनुवाद :** व्रतहीन अनधीत ब्राह्मणोंको जिस गाममें मांगनेपर भीख मिल जाती हो (जैसे मनोरथोंकेलिये मांगनेपर अपने मार्गमें हम गोस्वामिओंको मिल जाती है) उस पूरे गांवको (चोरको प्रश्रय देनेवाले गांवकी तरह) दण्डित करना चाहिये – यह राजाका कर्तव्य है.

इससे सिद्ध होता है कि गुरुत्वके अधिकारसे दर्शनार्थी जनतासे धनादि हम लेते हों तो उस दाताके शिष्य होनेकी शर्त निभानी चाहिये. जैसे महाप्रभु कड़ाईसे इस नियमका पालन करते थे – अशिष्यसे कभी प्रतिग्रह करते नहीं थे. अन्यथा ब्राह्मणत्वके अधिकारसे सत्प्रतिग्रहका नियम सर्वथा अनुल्लंघनीय होता है.

तैत्तिरीय उपनिषद्में आचार्य और अन्तेवासी के सम्बन्धका निरूपण करते हुए कहा गया है कि विद्यादान तथा विद्याग्रहण रूप सम्बन्धका सन्धान प्रवचनात्मना ही होता है; आचार्याराध्य देव या उसके पूजन के वृत्त्यर्थ प्रदर्शनात्मना नहीं.

**मूल : अथाधिविद्यम्. आचार्यः पूर्वरूपम्. अन्तेवासी उत्तररूपम्. विद्या सन्धिः. प्रवचनं सन्धानम्. इत्यधिविद्यम्.**

**अनुवाद :** विद्याके प्रसंगमें आचार्य पूर्वरूप होता है और अन्तेवासी उत्तररूप. इनकी सन्धि विद्या है और विद्याके प्रसंगमें ये दोनों जुड़ते हैं उस विद्या-प्रवचनके उपदेश और श्रवण द्वारा. विद्याके प्रसंगकी यह कथा है.

आज तो यह स्थिति हो गई है कि ''अथाधिपुष्टिम्. आचार्यवंशजः पूर्वरूपम्. दर्शनार्थिमनोरथिजनः उत्तररूपम्. दर्शनभेंटसामग्रीसमाधानं सन्धिः. मठड़ी सन्धानम्. इत्यधिपुष्टिम्!''

यही कारण है कि स्ववृत्तिवादमें श्रीपुरुषोत्तमजीने स्पष्ट शब्दोंमें घोषित किया है– ''तेन गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति. युक्तं च एतद्, अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसंजनात्. किञ्च ऋतोत्तरम् अमृताख्यायाः अयाचितवृत्तेः उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्य तु – एवं संकोचे तस्यामपि प्रशस्तत्वसिद्धिः.''

'गुरुत्व'के साथ 'एव'कार जोड़नेसे गुरुत्वके अलावा अन्य वृत्तिओंका व्यावर्तन तो स्वीकारना ही पड़ेगा. उन अन्य वृत्तिओंमें कण्ठोक्ततया निषिद्ध वृत्ति जो भी हो उसे व्यावर्त्य न मानना तो सर्वथा विसंगतिपूर्ण व्याख्यान ही होगा. सिद्धान्तमुक्तावलीमें ऋत्विग्वृत्ति देवद्रव्योपजीवन या देवलकवृत्ति का कण्ठोक्त निषेध उपलब्ध होता ही है. अतः कमसे कम इन्हें तो व्यावर्तनीय मानना ही पड़ेगा.

शास्त्रतः परार्थ यजन अर्थात् वृत्तिरूप याजनको ब्राह्मणवृत्तितया मान्य किया गया है. भक्तिमार्गके स्वरूपके विचारसे तथा भगवानके द्वारा पुष्टिभक्तिनिरूपणके प्रसंगमें उसके विहित न किये जानेके कारण शास्त्रतः प्रसक्त होनेपर भी आर्त्विज्यवृत्तिका प्रतिषेध किया गया है, ''प्रसक्तस्य प्रतिषेधो'' न्यायेन. अतः सच्चे भक्तकेलिये तो स्वभावतः ही अप्रसक्त होनेसे इसे अनावश्यक भी माना जा सकता था. फिर भी भक्तिसम्प्रदायमें, जैसे अपने ही मार्गमें, कामलोभपूजादिकी दुर्बल मनोवृत्तिके कारण उसे प्रसक्त भी स्वीकारना ही पड़ता है. अतः देवद्रव्योपजीवनकी वृत्तिका तथा देवलकत्वकी वृत्तिका व्यावर्तन 'एव'कारसे किया गया है – यों स्वीकारना ही पड़ेगा. स्वार्थ यजनको वृत्तितया करनेकी बात वैसे तो सिद्धान्तमुक्तावलीकी विवृतिमें प्रभुचरणने अप्रसक्त ही मानी थी. अतएव ''लोकार्थी...''के व्याख्यानमें निषिद्धतया भी उसका उल्लेख उचित नहीं समझा गया. परन्तु निजवंशजोंके इस भवितव्यको दिव्य दृष्टिसे निहारकर ही आपने पूरकांशमें ''ननु कश्चिद् जीविकाद्यर्थमपि भजते...अन्यथा तदसम्भवाद्'' जोड़ा होगा. भक्तिहंसगत ''तत्राप्यर्थाद्यर्थिभिः...निरस्तम्''अंश भी इसी भवितव्यको दृष्टिमें रखकर लिखा होगा.

इसका अधिक विवेचन आगे किया ही जायेगा.

कुल मिलाकर श्रीमद्भागवतके इस दिव्य उपदेशको, वह हमसे निभ पाये या नहीं, हमारे लिये आदर्शभूत कर्तव्यके स्वरूपनिर्धारणार्थ कभी विस्मृत नहीं करना चाहिये –

मूल : **इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम् ।**
**प्रतिग्रहोध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम् ।।**
**प्रतिग्रहं मन्यमानः तपस्तेजोयशोनुदम् ।**
**अन्याभ्यामेव जीवेत् शिलैर्वा दोषदृक्तयोः ।।**
**ब्राह्मणस्य हि देहोयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।**
**कृच्छ्राय तपसे चेह प्रत्यानन्तसुखाय च ।।**
**शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः ।**
**मय्यर्पितात्मा गृहएव तिष्ठन् नातिप्रसक्तः समुपैति शान्तिम् ।।**
**यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा ।**
**धनेनापीडयन् भृत्यान् न्यायेनैव हरेत् क्रतुन् ।।**

(श्रीमद्भाग. ११।१७।४०–५१).

**अनुवाद :** इज्या (=यजन–अर्चन–पूजन–सेवन–भजन) अध्ययन और दान ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य तीनोंके कर्तव्य हैं. याजन अध्यापन और प्रतिग्रह केवल ब्राह्मण ही कर सकता है. प्रतिग्रह करनेपर तप तेज और यश जब क्षीण होता लगता हो तब याजन अध्यापनद्वारा ही जीवननिर्वाह करना उचित हो जाता है. अथवा शिलोञ्छवृत्तिसे भी जीवननिर्वाह कर लेना चाहिये. क्योंकि ब्राह्मणकी देह किन्हीं क्षुद्र ऐहिक कामनाओंकी पूर्तिकेलिये नहीं होती. यह तो कठोर तप तथा पारलौकिक सुखकेलिये ही होती है. शिलोञ्छवृत्तिसे चित्तको परितुष्ट रखते हुए वैराग्यपूर्ण महान धर्मका सेवन करते हुए जो संसारमें अति अनुरक्त हुए बिना भगवानकेलिये आत्मार्पण करता है वह घरहीमें रहनेपर भी दिव्यशान्तिको पा सकता है...अनायास उपलब्ध होनेवाले धनसे अथवा स्वोपार्जित शुक्लधनसे ही अपने पोष्यवर्गको पीड़ा

पहुंचाये बिना न्यायपूर्वक ही क्रतु( अथवा तत्स्थानीय भगवत्सेवा )का अनुष्ठान करना चाहिये.

इस धर्मनिर्णयको प्राप्त करनेकेलिये रागद्वेषविहीन त्रैविद्य हैतुक तर्की नैरुक्त धर्मपाठक त्र्याश्रमी वृद्धोंकी संमति विमर्शग्रन्थलेखनसे पूर्व लेनी क्यों विमर्शकारने आवश्यक नहीं मानी ?

तो आईए, तन्त्रशास्त्रोंकी तान्त्रिक गुरुत्वके बारेमें क्या अभिमति है यह जाननेको आगे बढ़ें !

***

## *सिद्धान्तसार*

**यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सो अधमः इति.**

–सुबो. २।९।१९.

जो स्वार्थ ( वृत्त्यर्थ भूत्यर्थ प्रतिष्ठार्थ ) भगवत्सेवन करता हो उसे अधम ( ऋत्विक् / गुरु / उपाध्याय / आचार्य ) समझना चाहिये.

–महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य.

***

# तान्त्रिक गुरुत्व

राजोवाच

मूल : **कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः ।**
**विधूयेहाशु कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम् ।।**

आविर्होत्र उवाच

**कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः ।**
**वेदस्य चेश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः ।।**
**परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।**
**कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ।।**
**नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोजितेन्द्रियः ।**
**विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ।।**
**वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसंगोर्पितमीश्वरे ।**
**नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ।।**
**य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः ।**
**विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ।।**
**लब्ध्वानुग्रह आचार्यात् तेन सन्दर्शितागमः ।**
**महापुरुषमभ्यर्चेद् मूर्त्याभिमतयात्मनः ।।**

(श्रीमद्भाग. ११।३।४१-४८).

**सुबोधिन्यनुसारि भावानुवाद:** राजाने कहा- हमें वह कर्मयोग समझाईये कि जिसके द्वारा शीघ्र ही कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर परम नैष्कर्म्यको पाया जा सकता हो.

आविर्होत्रने कहा- विहितकर्म, निषिद्धकर्म तथा विहितकर्म के अकरणका स्वरूप वेदैकगम्य है, लोकगम्य नहीं है. वेद स्वयं ईश्वररूप है अतः ज्ञानी भी वहां मोहित हो जाते हैं. बच्चोंको कोई बात समझानी हो तो उनकी समझ पानेकी शक्तिके अनुसार ही समझानी पड़ती है. वैसे

ही वेदमें भी परोक्षवादका सहारा लेकर कई बातें समझाई गई हैं. अतएव कर्मबन्धनसे छुड़ानेको वेदमें कर्मविधान किये गये हैं. उदाहरणतया रोगनिवारक औषधिओंका विधान, रोग तथा औषधि दोनोंसे छुटकारा दिलानेको आयुर्वेदमें किया गया है. अतएव अज्ञानी अजितेन्द्रिय व्यक्ति जब स्वच्छन्दतया वेदोक्तरीतिसे आचरण नहीं करता वह विकर्म या अधर्म के कारण सर्वथा नष्ट हो जाता है. जो निःसंगतया वेदोक्त कर्मोंको ईश्वरार्पणबुद्धिसे करता है उसे ही नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होती है. बाकी तत्तद् कर्मोंके अनुष्ठानसे जो तत्तत् फल मिलनेकी बात वेदमें कही गई है वह फल किसीको अवश्य मिलना ही चाहिये – ऐसा प्रयोजन या अभिप्राय वेदका नहीं है. वैसे अपनी हृद्गत कामग्रन्थिओंसे शीघ्र ही छुटकारा चाहनेवालोंके लिये विभूतिओंका तो नहीं प्रत्युत परमात्मविधिद्वारा ही श्रीकृष्णदेवका भजन पुष्टिमार्ग अथवा तन्त्रोक्त विधानोंसे करना चाहिये. आचार्यका अनुग्रह पाकर महापुरुष = पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी सहस्रावधि मूर्तिओंमेंसे जो मूर्ति यथास्वभाव प्रिय लगती हो उस मूर्तिका भजन करना चाहिये.

यहां सुबोधिनीमें महाप्रभुने कई बातोंका स्पष्टीकरण दिया है जिसका अनुवाद भी देख लेना अच्छी बात होगी :

''इस तरह वैदिक कर्मयोगके स्वरूपको निर्धारित करके अब सुगम सार्वजनीन तान्त्रिक कर्मके स्वरूपको निर्धारित करना यहां अभीष्ट है. लौकिक अनर्थोंकी निवृत्ति लौकिक उपायोंसे ही करनेकेलिये सांख्यादि सिद्धान्त प्रवृत्त हुए हैं. उन सभीमें शीघ्र हृदयग्रन्थिविभेदक वैष्णवतन्त्र हैं. 'परमात्मविधि' कहनेका अभिप्राय यह है कि भगवानकी विभूतिओंके भजनके बजाय केवल पुष्टिमार्गका अनुसरण करते हुए भगवद्भजन करना चाहिये. यदि यह शक्य न हो तो तन्त्रोक्त प्रणालीसे भी श्रीकृष्णका ही भजन करना चाहिये. मर्यादानिर्वाहार्थ पुष्टिमार्ग और तन्त्रमार्गका समुच्चय भी किया जा सकता है. जैसे भी हो, श्रीकृष्णका ही, भजन करना चाहिये. मार्गान्तरसे विरोध होनेकी शंकाको यहां कोई अवकाश नहीं है. क्योंकि जो जिस दीक्षामें दीक्षित हो जाता है वह उस दीक्षानुविहित कर्मोंसे

अतिरिक्त कर्तव्योंको निभानेके उत्तरदायित्वसे मुक्त ही हो जाता है. स्वतः नहीं किन्तु एकतः अनुग्रहीत होनेके कारण देवतान्तरविरोधकी भी शंका रह नहीं जाती है. उपनयनादि (वैदिक गायत्रीमन्त्रदीक्षाकी तरह तान्त्रिक गोपालमन्त्रदीक्षा, गीतोपदिष्ट शरणमार्गीय अष्टाक्षरमन्त्रदीक्षा, भागवतोपदिष्ट भक्तिमार्गीय सगद्यपंचाक्षरमन्त्रदीक्षा)* दीक्षाप्रदाता आचार्य ही होता है. अतः वेदमार्गके विरोधकी भी शंका निरस्त हो जाती है. एक कर्ममें विनियुक्त पुरुषकेलिये अन्य कर्म स्वतः ही विकर्म हो जाते हैं. स्वतः कुछ करनेपर दोष हो भी सकता है परन्तु यहां तो भगवन्मार्गस्थ आचार्यकी आज्ञासे ही जो भी करना है सो करना है. (तुलनीयः "सेवाकृतेः गुरोराज्ञा" – नवरत्न)*. प्रत्येक कर्मकेलिये उस कर्मके द्वारा प्राप्त होनेवाले फलके अभिलाषीको उस कर्मका अधिकारी माना जाता है. जैसे स्वर्गप्राप्तिकेलिये विहित कर्मको करनेका अधिकारी स्वर्गाभिलाषी ही होता है. अतः भक्तिरूप फलकी प्राप्तिके साक्षात्‌हेतुतया जो कर्म उपदिष्ट नहीं हैं उन कर्मोंकी अभिलषित भक्तिकी प्राप्तिमें साक्षात्साधनता नहीं होती. जहांतक कर्ताके शास्त्रीय संस्कारोंसे असंस्कृत रह जानेके भयका सवाल है वह अन्यथा** भी सम्भव है. आचार्यका भी कर्तव्य है कि वह मनघड़ंत उपदेश देनेके बजाय तन्त्रगीताभागवतादि शास्त्रोंके अभिप्रायके आधारपर शिष्यको उसके कर्तव्यका उपदेश दें. इस तरह अहंताममताके निवर्तक प्रकारको अपनानेपर पारलौकिक बाधाओंकी कोई भी शंका रह नहीं जाती है."

(*कोष्ठकान्तर्गत लेखकीय हैं)

(**यावद् देहाभिमान वर्णाश्रमधर्म ही स्वधर्म होता है जबकि भगवद्‌धर्म भी विधर्म या परधर्म. तथा देहादिके संघातसे व्यतिरिक्त आत्मभावनाके दृढ़ होनेपर भगवद्धर्म ही स्वधर्म रह जाता है; अन्य सभी धर्मोंका यथाशक्ति अनुष्ठान अपाषण्डिताकेलिये. इस नीतिके अनुसार यह है.)

इस विस्तृत विवरणको भलीभांति हृदयंगत करनेपर यह समझना कठिन नहीं रहेगा कि पुष्टिमार्गीय गुरुत्वधर्म तान्त्रिक गुरुत्वका अवान्तर धर्म है. जैसे तान्त्रिक गुरुत्वधर्म वैदिक गुरुत्वका अवान्तरधर्म है या स्वयं वैदिक गुरुत्वधर्म भी ब्राह्मणत्वरूप धर्मका अवान्तरधर्म है. ऐसी स्थितिमें तान्त्रिक गुरुत्वरूप धर्म

स्वव्यापकीभूत धर्म ऐसे वैदिक गुरुत्वरूप धर्मसे या तद्व्यापकीभूत ब्राह्मणत्वरूप धर्मसे विरुद्ध हो ही नहीं सकता.

वैसे ''कौण्डिन्यो गोपिका प्रोक्ताः गुरवः साधनं च तत्'' (संन्यासनिर्णय) वचनमें पुष्टिमार्गमें कौण्डिन्य ऋषिको एवं गोपिकाओंको गुरुतया मान्य किया गया है तथा उनके द्वारा अपनाये गये साधनोंको अपनानेकी बात कही गई है. परन्तु वह साम्प्रदायिक दीक्षाप्रदायक गुरु या आचार्यके रूपमें नहीं है; अनुसरणीय आदर्शके रूपमें ही इनके गुरु होनेका उल्लेख है -ऐसा स्वीकारना पड़ता है. यह गोपिकाओंके साथ-साथ महाप्रभुद्वारा कौण्डिन्यऋषिका भी नाम लेनेसे स्पष्ट हो जाता है. क्योंकि न तो कौण्डिन्यऋषिने और न गोपिकाओंने ही दीक्षादिविधिवाले सम्प्रदायके प्रवर्तनपूर्वक किसी भक्तिसाधनाका उपदेश प्रदान करके किसीको शिष्य बनाया था और न ऐसी किसी शिष्यपरम्परामें श्रीमदाचार्यचरणने जन्मग्रहण या विद्याग्रहण ही किया था. जिस पुष्टिभक्तिकी साधनाका मार्गदर्शन करते हुए ''कौण्डिन्यो गोपिका प्रोक्ताः...'' आज्ञा की है उस भक्तिमार्गकी दीक्षाका मन्त्रोपदेश श्रीमदाचार्यचरणको साक्षात् पुष्टिप्रभुने ही किया था -यह सिद्धान्तरहस्य है. अतएव पुष्टिमार्गीय शरणागतिका दीक्षामन्त्र एवं पुष्टिमार्गीय भक्तिका दीक्षामन्त्र श्रुतिगीताभागवतादि शास्त्रप्रमाणक होनेपर भी शास्त्रविहित नहीं है. अतएव पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणाली भी श्रुत्यादिशास्त्रप्रमाणक होनेपर भी श्रुत्यादि शास्त्रद्वारा विहित नहीं है. निष्कर्षरूपेण इस साधनाप्रणालीके प्रमेयरूप भजनीय भगवत्स्वरूप एवं उनकी फलानुभूति भी श्रुत्यादिशास्त्रविहित नहीं है.

इस मार्गका सम्पूर्ण सौन्दर्य इसीमें निहित है कि यह मार्ग श्रुत्यादिशास्त्रविहित न होनेपर भी श्रुति-गीता-भागवत-तन्त्रादि शास्त्रोंसे विरुद्ध नहीं है. अतएव इस मार्गमें आश्रयणीय या भजनीय पुष्टिप्रभुको ''वैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविधिभिर्यः अस्पृष्टो रमते निजभक्तेषु सः मेऽस्तु सर्वस्वम्'' कहकर प्रभुचरणने श्रुत्यादिशास्त्रोंकी विधिमें न बंधनेवाला कहा. परन्तु यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि ऐसे पुष्टिप्रभुका आश्रय या भजन करनेवाले अपनी प्रारंभिक अवस्थामें भी शास्त्रके विधि-निषेधोंके बन्धनसे मुक्त

हो जाते हैं. ''वैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविधिभिर्यम् अस्पृष्टाः रमयन्ति स मेस्तु सर्वस्वम्'' नहीं कहा है.

अतएव इस मार्गके आचार्य और अनुयायी दोनोंकेलिये महाप्रभु आज्ञा करते हैं: ''उपनयनादिकर्ता आचार्यः तदनुग्रहात् न वेदविरोधः...आचार्येणापि आगमएव पञ्चरात्रादिः प्रदर्श्यते'' (सुबो. ११।३।४८) तथा ''यावद् देहोयं तावद् वर्णाश्रमधर्माएव स्वधर्माः भगवद्धर्मादयोपि विधर्माः परधर्माः वा. यदा पुनरात्मानं जीवं मन्यते संघातव्यतिरिक्तं मन्यते तदा दास्यं स्वधर्मः'' (सुबो. ३।२८।२) एवं ''वेदोक्तादणुमात्रेपि विपरीतं तु यद् भवेत् तादृशं वा स्वतन्त्रं चेद् उभयं मूलतो मृषा''(अणुभा.२।२।३६).

अतः सिद्ध होता है कि पुष्टिमार्गीय गुरुत्व या तान्त्रिक गुरुत्व वेदगीतापुराणादिसे विरुद्ध होनेपर अप्रामाणिक ही होते हैं. अतः ''अविहितत्वे सति अविरुद्धत्वम्'' इनके प्रामाणिक होनेकी कसौटी है. विमर्शकारने यत्रतत्र शिष्टाचार तथा महद्विमृग्य भक्तियोगका कुशकाशावलम्बन कर वृत्त्यर्थ भगवद्भजनको प्रामाणिक सिद्ध करनेका जो केसरिया किया है वह स्वयं महाप्रभुकी ''अविहितत्वे सति अविरुद्धत्वम्''की पुष्टिनीतिसे नितान्त अपरिचयका द्योतन है !

उत्सवप्रतानके अन्तर्गत भी अतएव श्रीपुरुषोत्तमजीने जन्माष्टमीनिर्णयमें जहां कलियुगमें सम्प्रदायरीति-शिष्टाचार-सदाचारका प्रामाण्य स्मृतिकी अपेक्षया उत्कृष्ट घोषित किया है वहां भी ''प्राचीन शिष्ट वैष्णवोंका'' ऐसे विशेषणका प्रयोग किया है तथा ''अवतारकालिकशिष्टानाम् अत्र विवक्षितत्वात्'' स्पष्टीकरण भी दिया ही है. अतः न तो शिष्टाचारका बहाना बनाकर शास्त्रविरुद्ध आचरणोंका समर्थन किया जा सकता है न अर्वाचीन शिष्टोंके आचरणको वेदोक्तकी तरह प्रमाण ही माना जा सकता है. स्वयं तन्त्रागमोंमें भी जहां वेदादिशास्त्रसे विरुद्धता प्रकट होती है वहां अपवादतया उनका अप्रामाण्य भी स्वीकारा गया है (द्र. अणुभा. २।२।४२-४५). जबकि उत्सर्गतया तन्त्रोंको 'एकायनश्रुति'के रूपमें माना जाता है. अतः ''साधूनां समयश्चापि प्रमाणं वेदवद् भवेद्''* वचन अतिदेशद्वारा ही केवल स्मृतिकी

अपेक्षया शिष्टाचारको प्रबल मानता है. सो भी कलिवर्ज्यप्रकरणान्तर्गत विलुप्तपरम्पराक धर्मके स्वरूपनिर्णयार्थ व्यवस्थानिरूपक यह केवल स्मार्तवचन है. जबकि मनुस्मृति तथा तन्त्रोंके प्रमाण्यकी स्वीकृतिके वचन तो स्वयं श्रुतिवचन हैं.

(*साधुपुरुषोंके आचरण या वचन भी वेदकी तरह प्रमाण होते हैं.)

ऐसी स्थितिमें पुष्टिसम्प्रदायमें श्रुतिकल्पवचनोंमें हमें महाप्रभु तथा उनके दोंनों आत्मजोंके वचन मान्य रखने चाहिये. स्मृतिकल्पवचनोंमें तदुत्तरकालीन व्याख्याकारोंके वचन तथा शिष्टाचारमें महाप्रभु-प्रभुचरणकालीन शिष्टोंके आचरणानुसारी अद्ययावत् प्रचलित आचरणको ही शिष्टाचारकी कोटिमें मान्य करना चाहिये. ऐसा कोई भी शिष्टाचार जो श्रौतस्मार्तकल्प वचनोंसे विरुद्ध हो उसका पक्ष लेते हुए कण्ठोक्त वचनोंकी अवहेलना बाललीला तो हो सकती है परन्तु विवेकपूर्ण कृत्य तो नहीं. क्योंकि जिस तरहके आचरणके बारेमें उसे जिन शिष्टोंसे चली आ रही किसी परम्परा होनेका अनुमान करके हम उसे शिष्टाचार मान रहे हैं उन्हीं शिष्टोंके वचनोंसे वह आचरण यदि विरुद्ध हो तो विरोधपरिहारार्थ घटक वचन ''साधूनां समयश्चापि प्रमाणं वेदवद् भवेद्'' न रहकर ''ईश्वराणां वचः सत्यं क्वचिद् आचरितं तथा नैतत् समाचरेद् जातु मनसापि ह्यनीश्वरः विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोब्धिजं विषम्''* (श्रीमद्भाग. १०।३३।३२) वचन ही विरोधपरिहारघटकवचन माना जा सकता है. अन्यथा ''यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि'' (तैत्ति. उप. शिक्षा.) वचन निरवकाश ही हो जायेगा. इसका सुविशद विवेचन आगामी प्रकरण वार्ताविमर्शविशोधनिकामें किया ही जायेगा. अभी तो यहां केवल दिशानिर्देश ही किया जा रहा है. अस्तु.

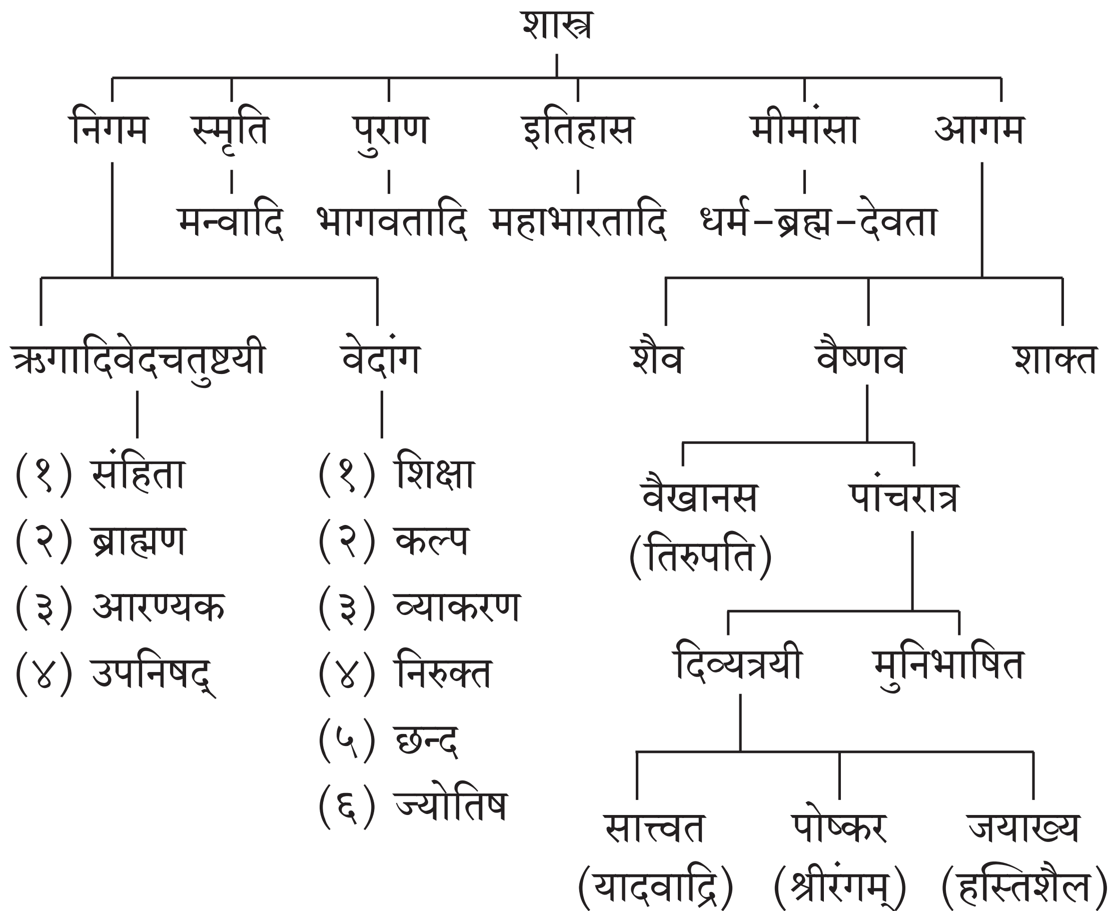
(* जो समर्थ हैं उनके आचरणके बजाय वचनका प्रामाण्य अधिक होता है. उनका अनुकरण असमर्थोंको सोचे-समझे बिना मनसे भी नहीं करना चाहिये. अन्यथा महेश्वर होनेसे महादेवजीने विषपान किया और उनके अनुकरणार्थ कोई अनीश्वर मूढ़ मानव विषपान करना चाहे तो उसका विनाश ही होता है.)

अतः कण्ठोक्त विधानोंसे निन्द्य देवद्रव्योपभोग तथा देवलककवृत्ति का

पूर्वजाचारवश प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता, देवलकोंकी अशिष्टता सकलशिष्टकण्ठोक्ततया सकलसम्मत होनेके कारण ही ! ऐसी स्थितिमें जो शिष्ट ही न हों उनका आचरण शिष्टाचारकी कोटिमें प्रामाण्यका वाहक हो नहीं सकता. केवल पूर्वजताको शिष्टताका पर्याय माना नहीं जा सकता. अन्यथा तपस्वी ऋषिओंके तपस्त्यागपूर्वक अप्सरारमणका भी शिष्टाचारतया प्रामाण्य स्वीकारना पड़ेगा ! ( किमधिकम् अविमृष्टकारिषु विमर्शकारेषु वा ! ).

इससे सिद्ध हुआ कि पुष्टिमार्गीय गुरुत्व या तान्त्रिक गुरुत्वमें भी वामतान्त्रिकता = पाषण्ड न पनपने पाये एतदर्थ ''अविहितत्वे सति अविरुद्धत्वम्''की सूक्ष्मताका भान अपेक्षित है ही. सो पुष्टिमार्गीय गुरुत्वके विचारसे पूर्व अब हमें तान्त्रिक गुरुत्वके विचारार्थ प्रवृत्त होना है.

अनपेक्षित विस्तार भी न हो जाये और तन्त्रागमोंका प्रमाणकोटिमें स्थान भी समझमें आ जाये एतदर्थ अधोलिखित सारणीपर केवल दृष्टिपात कर लेना उचित होगा :



वैसे पांचरात्र शास्त्रके अन्तर्गत २००-२२५ संहिता या तन्त्रागम बताये जाते हैं जिनमेंके बहुत सारे तो प्रकाशित भी नहीं हुए हैं. इन तन्त्रोंका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषदमें भी अनेकविध विद्याओंके परिगणन प्रसंगमें ''ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, आथर्वण, पंचमवेदरूप इतिहास, पुराण, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्यं, एकायन, देवविद्या''के अन्तर्गत हुआ है. एकायनश्रुति 'पांचरात्रोपनिषद्' 'पांचरात्रश्रुति' 'पांचरात्रागम' 'पांचरात्रतन्त्र' आदि अनेक नामोंसे इनका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थोंमें भी हुआ है. वैष्णवतन्त्रकी तरह शैव या शाक्त तन्त्र भी एकदेवप्राधान्यमूलक साधनाओंके उपदेश करते होनेके कारण 'एकायनश्रुति' कहे गये हैं -ऐसी विद्वानोंकी धारणा है. इनमें वैष्णवतन्त्रोंके अनुसारी साधकोंकेलिये 'सात्त्वत' 'भागवत' 'एकायन' 'एकान्ती' आदि नाम प्रयुक्त हुए हैं. वैखानस तन्त्र और पंचरात्र तन्त्र का उपभेद भी अतिसूक्ष्म है. कहीं मिश्रित तो कहीं अमिश्रित रूपमें परस्पर एकदूसरेको कभी मान्य तो कभी अमान्य भी करते हैं.

पंचरात्र आगमोंमें प्रतिपाद्य विषयके निरूपणका एक ही प्रकार नहीं होता. कहीं आगम तन्त्र और तन्त्रान्तरके विभागशः तो कहीं ज्ञानपाद योगपाद क्रियापाद और चर्यापाद के विभागशः प्रतिपाद्य विषयका निरूपण किया जाता है. अहोरात्रमें सम्पन्न होनेवाली साधनाकी पांचकालिकी प्रक्रियातया (१) अभिगमन (२) उपादान (३) इज्या (४) स्वाध्याय (५) योग के रूपमें पञ्चविध कर्मोंके रूपमें उपदेश दिया जाता है.

पाञ्चरात्र तन्त्रोंके अनुसार भगवानके चार या पांच रूप वर्णित हुए हैं: (१) पर (२) व्यूह (३) विभव (४) अवतार (५) अर्चा. तो कहींपर (१) पर (२) व्यूह (३) विभव (४) अर्चा (५) अन्तर्यामी. या फिर (१) पर (२) व्यूह (३) हार्द (४) विभव (५) अर्चा भेद भी निरूपित हुए हैं.

इन भगवद्रूपोंकी आराधनाके तीन प्रकार दिखलाए गये हैं. यथा: (१) मानसपूजन (२) होमपूजन (३) बेर(प्रतिमा)पूजन. भगवानका अर्चारूप भी यथाक्रम त्रिविध स्वीकारा गया है: (१) आत्मलिंग (२) स्थण्डिल (३)

द्रव्यलिंग ( द्र. ''द्रव्यलिंगं शिलाद्यं स्याद् आत्मलिंगं मनोमयम् अथवा स्थण्डिलं चैव विष्णोर्लिंगं प्रकीर्तितम्'' विजयध्वजकृत पदरत्नावलीमें उद्धृत श्रीमद्भाग. ११।३।५१-५२ ). इसके अलावा शालिग्राम यन्त्र और कहीं पूर्ण कलशमें भी देवपूजनकी विधि वर्णित हुई है.

'बेर' 'लिंग' 'बिम्ब' 'मूर्ति' 'प्रतिमा' 'अर्चा' आदि नामोंसे अभिहित होते भगवद्रूपके चार भेद माने गये हैं. यथा – (१) स्वयं व्यक्त (२) दैव (३) सैद्ध (४) मानुष. भगवानके उन अनेक अर्चारूपोंमेंसे किसी भी तरहके रूपकी आराधना देवालय अथवा गृहमें हो सकती है :

**मूल :** **सिन्धुतीरे सरित्कूले ग्रामे वा विपिनादिके।**
**जगता क्षेमलाभाय दुष्कृतां निधनाय च ।।**
**संस्थितो वसुदेवस्तु परार्थ इति कथ्यते।**
**सएव सर्वफलद सर्वेषां मुक्तिदायकम्।**
**तस्मात् सर्वजनैः सेव्यः परार्थः पुरुषोत्तमः ।।**
**ब्राह्मणैः क्षत्रियैः वैश्यैः शूद्राद्यैः स्वस्वसद्मनि।**
**स्थापितो देवदेवस्तु स्वार्थ इत्यभिधीयते ।।**
**पश्वारामगृहक्षेत्रपुत्राद्याः स्वार्थसम्पदः।**
**तन्मात्रदानाद् तद्देव स्वार्थः सम्परिकीर्तितः ।।**
**परार्थः सूर्यसदृशः स्वार्थस्तु गृहदीपवत् ।।**

( श्रीप्रश्नसंहिता ५३।१५१-१५७ ).

**अनुवाद :** सागरतटपर, नदीतटपर, गांवमें या उपवनादि ( पत्तनमें या पर्वतपर )में जो स्वयंव्यक्त दैव सैद्ध अथवा मानुष वासुदेवविग्रह जगतके क्षेमार्थ एवं दुष्कर्मोंके विनाशार्थ संस्थित होता है उसे 'परार्थ' कहा जाता है. वही सर्वफलदाता होनेसे सभीको मुक्ति प्रदान करनेवाला होनेसे भी सर्वजनोंसे सेव्य 'परार्थ पुरुषोत्तम' कहलाता है. ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र आदिके अपने-अपने घरोंमें स्थापित देवदेवको 'स्वार्थ' कहा जाता है. गृह आराम क्षेत्र पुत्र पशु आदि स्वार्थ सम्पदा जो होती है केवल

उन्हींके भगवदाराधनामें विनियोग करनेके कारण ऐसे देवस्वरूपको 'स्वार्थ' कहा जाता है. परार्थ भगवद्विग्रह सूर्यकी तरह होते हैं तथा स्वार्थ भगवद्विग्रह गृहदीपकी तरह होते हैं.

अपने मार्गमें भी यदि सेव्यस्वरूपकी स्वार्थ भगवत्प्रतिष्ठा हो तो सेवार्थ परद्रव्य नहीं लेना चाहिये और परार्थ हो तो ऐसे परार्थ देवालयमें आराधनार्थ प्रदत्त वित्त या वस्तुपर न तो गुरुका पूर्ण स्वत्व स्थापित होता है न भगवद्विग्रहपर ही और न सेवोपयोगी स्थलपर ही कभी.

स्वगृहमें स्थापित भगवन्मूर्तिका गांवमें महोत्सव करना भी निषिद्ध माना गया है. (द्र. नारद. संहि. २५।१४७).

स्वगृहमें स्थापित भगवन्मूर्तिका वृत्त्यर्थ विनियोग करनेवालेको सात्त्वतसंहिता (२१।१९-२०) में 'देवलक' कहा गया है :

**मूल : गृहीत्वा भगवद्बिम्बं वृत्त्यर्थमटतीह यः।**
**नगरापणवीथीषु तस्य देवलकस्य च ।।**
**दर्शनं स्पर्शनं नैव कुर्यात् संभाषणं तथा।**

**अनुवाद :** स्वार्थ प्रतिष्ठापित भगवन्मूर्तिको लेकर जो नगरमें बजारमें गलिओंमे वृत्त्यर्थ भटकता रहता है (पुष्टिमार्गमें इससे भी निम्नकक्षापर जाकर हमने साधारण नागरिकोंको बजारु बनियोंको तथा गलिओंमें रखड़नेवाले लुच्चे लफंगोंको भी स्वगृहमें स्थापित भगवत्स्वरूपकी दर्शन-प्रसाद-भेंट-सामग्री-समाधानात्मिका पंचधा भगति करवानेके लिये अपने घरोंमें रखड़ते बना दिये हैं, वृत्त्यर्थ और केवल वृत्त्यर्थ ही) ऐसे देवलकका दर्शन स्पर्शन या उसके साथ सम्भाषण भी नहीं करना चाहिये.

इस श्लोकोंपर भाष्य करते हुए अलशिंग भट्टने मज़ेदार खुलासा दिया है- ''स्वगृहे समाराध्यं भगवद्बिम्बम् आदाय द्रव्यार्जनार्थं नगरादिषु सञ्चरमाणस्य देवलकस्य दर्शनादिकमपि न कार्यम् इति आह 'गृहीत्वा' इति

सार्धेन. ननु एतद् मन्दिरस्थभगवद्बिम्बविषयमपि स्याद् इति चेत् न, तस्य राजाधीनतया बहिर्द्रव्यार्जनार्थम् आनेतुम् अशक्यत्वात्, तत्र तादृशशंकायाएव अनवकाशात्''. अर्थात् द्रव्योपार्जनार्थ स्वगृहमें समाराध्य भगवत्स्वरूपको लेकर जो नगरादिमें रखड़ता है ऐसे देवलकका मूंह भी नहीं देखना चाहिये यह बात 'गृहीत्वा...' डेढ़ श्लोकसे कही जा रही है. यहां शंका होती है कि मन्दिरमें बिराजमान भगवत्स्वरूपके बारेमें भी यही बात क्यों नहीं कही गई ? इस शंकाका समाधान यह है कि परार्थ प्रतिष्ठापित देवालय सरकारी देखभालमें होते हैं, अतः कोई एक व्यक्ति ऐसे मन्दिरोंमें बिराजमान भगवत्स्वरूपको निजी आजीविकाके उपार्जनार्थ मन्दिरसे बाहर ला ही नहीं सकता है.''

इससे सिद्ध होता है कि तथाभिनन्दित पु.सि.सं.शि.बालककी कविजनोचित कल्पनाचापल्यके विपरीत आंबेडकरस्मृतिके अनुसार ही नहीं अपितु प्राचीन तन्त्रशास्त्रके अनुसार भी परार्थ देवालयपर सरकारी नियंत्रण रहता ही था ! अविमृष्टकारी विमर्शकारने ट्रस्टप्रकरणके अन्तर्गत ''श्रीनाथजीका मन्दिर शास्त्रोक्त विधानसे उत्सृष्ट नहीं अतः वह सार्वजनिक नहीं है, शास्त्रविरुद्ध कल्पित नियमोंसे सार्वजनिकता नहीं होती''(विमर्श पृ.६४-६५) -ऐसा मनघड़ंत कारण सार्वजनिकताका खोज निकाला है ! वैसे शास्त्रत: यदि परार्थ - परद्रव्यसे भगवदाराधनावाला - हो तो सार्वजनिक मानना पड़ेगा तथा सार्वजनिक न मानना हो तो स्वद्रव्यसे भगवदाराधनावाला स्वार्थ मानना पड़ेगा. श्रीनाथजीके मंदिरकी तरह अन्य भी पू.पा.म.श्रीओंके ठाकुरजीको स्वार्थ-परार्थ माननेके पक्षको स्वयं विमर्शकार 'पु.सि.सं.शि.'पदवीसे विभूषित कर चुके हैं. अत: चोर के भग जानेपर चपरासीके जगनेकी ही कथा यहां भी प्रकट हो रही है.

इसमें स्वयं विमर्शकारकी मानसिक द्विधाग्रस्त हृदयग्रन्थि ही प्रकट होती है. एक ओर वे कहते हैं: ''सार्वजनिक ट्रस्टमें सबको अधिकार (अनपेक्षित अधिकार) प्राप्त होनेसे गुरुभक्ति शिथिल होकर बहिर्मुखता प्राप्त होती है'' (विमर्श पृ.६४). विमर्शकारका भय यहां बोल रहा है. दूसरी ओर सेव्यस्वरूप सेवास्वरूप सेवास्थलस्वरूप सेवार्थ विनियोगार्ह वित्तस्वरूप सम्बन्धी सिद्धान्तोंकी सुरक्षाके बजाय ''भगवत्सेवोपयुक्तसम्पत्तिसुरक्षाहेतु केवल ट्रस्टका

बाह्य स्वरूप देनेवालोंपर आक्षेप करना उचित नहीं है'' (विमर्श पृ.६५) विधानद्वारा अपनी निर्दोषतासिद्धिका मोह भी विमर्शकारको सता रहा है; वह ट्रस्ट जिस परद्रव्यांगीकारवश होता है उसके लोभपर काबू न पानेकी विवशताके साथ–साथ !

इसका परिणाम इन्हीं पृष्ठोंपर प्रकट हुआ है: विमर्शकारने ''श्रीनाथजीका मन्दिर वैयक्तिक'' शीर्षकके अन्तर्गत ''तब श्रीआचार्यजी कारीगरसों कहे हमारे ठाकुरको मन्दिर शिखरबन्द–धुजा–कलशको नाहीं'' बस इतनेसे अपूर्ण वचनको उद्धृत करके लालजी जीत्याकी झांझ बजा दी है.

वैसे सम्पूर्ण उल्लेख यों है– ''तब श्रीआचार्यजी कारीगरसों... नंदराईजीके घरकी नांई करो. तब कारीगरने दूसरी बेर घरकी नांई कियो. तब श्रीआचार्यजीके हस्तमें नकसाको कागद आयो. तब उही सिखरबन्द धुजाकलशसहित ! तब श्रीआचार्यजी कहे– सिखरबन्द क्यों किये ? तब कारीगरने कही – महाराज, हम तो घरकी नांई किये हते; सो अब सिखरबन्द धुजाकलशसहित भयो ताको कारण तो हम जानत नाहीं. तब श्रीआचार्यजी कहें – हम बैठे हैं, हमारे आगे नकसा तैयार करो. तब कारीगरने घरकी नांई जैसे श्रीआचार्यजी कहें ता रीतिसों कियो. तब नकसा तैयार भयो तब उही सिखरबन्द धुजा कलश चक्र व्हे गयो. तब श्रीआचार्यजी जानें जो श्रीठाकुरजीकी इच्छा यह है जो जगतमें पूजाय बहोत जीवको उद्धार करेंगे. (तुलना करिये: ''जगतां क्षेमलाभाय दुष्कृतां निधनाय च संस्थितो वासुदेवस्तु परार्थ इति कथ्यते'' श्रीप्रश्न.संहि. ५३।१५१–१५७). सो देवालयकी रीति यहां राखनी उचित है.'' (८४ वैष्णवकी वार्ता २४।१).

इस सन्दर्भमें पौष्करसंहिताके अन्तर्गत परार्थ देवालयोंकी सूचिमें यह वचन भी अवलोकनीय है: ''यत्र तत्र भूभागे यो यः सार्वेश्वरं वपुः . . . गिरौ गोवर्धनाख्ये तु देवः सर्वेश्वरो हरिः संस्थितः पूजिते स्थाने गवां निष्क्रमणेषु च'' (श्रीपौष्कर.संहि. ३६।२९५–३३४).

तुलनीय: ''सो प्रातःकाल भयो तब १०–१५ वृद्ध ब्रजवासी मिलि उह गायके पीछे गये सो गाय उह छेदमें दूध करि पर्वततें नीचे उतरि. . . तब में पूछ्यो

जो तू कौन है ? तब उन कही – में पर्वतको देवता हुं, देवदमन मेरो नाम है. . . पाछे मंदिर समरायवेकी आज्ञा पूरनमलकों करी. . . तब श्रीआचार्यजी सदु पाण्डेसों कहे – और कोउ बिचारो. तब सदु पाण्डेने कही – राधाकुण्ड कृष्णकुण्ड पर बंगाली हैं; कहो तो बुलाउं. तब श्रीआचार्यजी कहे – बुलाओ.'' (८४वैष्णवकी वार्ता ७३।१). अस्तु.

जैसे आराध्य भगवद्विग्रहके स्वार्थ और परार्थ दो प्रकार होते हैं इसी तरह अर्चनाके भी स्वार्थ और परार्थ दो प्रकार स्वीकारे गये हैं :

**मूल :** **वैदिकं ब्राह्मणानां हि राज्ञां वैदिक–तान्त्रिकम्।**
**तान्त्रिकं वैश्यशूद्राणां सर्वेषां तान्त्रिकं तु वा ।।**

(विष्वक्.संहि. ३९।३१६).

**आत्मार्थं वैदिकेनैव तान्त्रिकेनैव वा मुने।**
**परार्थेतान्त्रिकेनैव मिश्रितं वा हरिः परम् ।।**
**अर्चयेत् पूर्ववद् धीमान् राज्ञो राष्ट्रस्य वर्धनम्।**
**परार्थेवैदिकेनैव न कुर्यात् तु कथञ्चन ।।**
**तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मिश्रितं तान्त्रिकेण तु।**
**स्वार्थ आवाहनं कुर्यात्**...............
**अशक्तोऽनधिकारी वा स्वार्थं यः कारयत्यपि।**
**परेण तत्कुलं (तत्कृतं) सर्वं स्वकुलं तारयिष्यति ।।**

(विष्वक्.संहि. २०।३४४–३५०).

**अनुवाद :** ब्राह्मणोंको वैदिक प्रकारसे, क्षत्रियोंको वैदिक–तान्त्रिक–मिश्रितप्रकारसे, वैश्य–शूद्रोंको केवल तान्त्रिक प्रकारसे; अथवा सभीको केवल तान्त्रिक प्रकारसे भी अर्चन अनुमत है. (विष्वक्.संहि. ३९।३१६).

स्वार्थ अर्चनामें केवल वैदिक प्रकार अथवा केवल तान्त्रिक प्रकारमेंसे यथेष्ट प्रयोग अनुमत है. परार्थ अर्चनामें (परके अद्विज होनेपर) केवल तान्त्रिक प्रकार अथवा (द्विज होनेपर) मिश्रित प्रकार

अनुष्ठेय होता है. परार्थ अर्चनामें केवल वैदिक प्रकार कभी भी अपनाना नहीं चाहिये. जो अशक्त अथवा अनधिकारी हो वह किसी अन्य अधिकारीसे अर्चना करवा सकता है. ऐसी स्थितिमें परकुल (परकृत!) भी सब कुछ स्वकुलका तारक हो सकता है. (विष्वक्.संहि. २०।३४४-३५०).

स्पष्ट है कि यह वह अनुमति है जो तन्त्रशास्त्रतः प्रसक्त है कि जिसका प्रतिषेध ''वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका एतादृशेन पुंसा कृता चापरा -एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्'' तथा ''तत्र ऋत्विग्दक्षिणावरणादिवद् अत्र तद्दानादेः भक्तिमार्गेभगवता अनुक्तत्वात्. अतः तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्'' वचनोंद्वारा प्रभुचरण तथा श्रीपुरुषोत्तमजी ने किया है.

ऐसी स्थितिमें तन्त्रशास्त्रके अनुसार पुष्टिमार्गीय भगवद्भजनका प्रकार विहित नहीं है - यह स्पष्ट हो जाता है. साथ ही साथ विरुद्ध भी कहीं न हो जाये कि सारेके सारे पुष्टिमार्गीय गुरु शास्त्रतः अदर्शनीय असम्भाषणीय एवं अस्पृश्य कहीं सिद्ध न हो जायें - इसकी सावधानी भी हमें लेनी ही पड़ेगी. एतदर्थ देवद्रव्य तथा देवलकत्व के विचारांगतया सर्वप्रथम चार तत्त्वोंके स्वरूप आवश्यकतया निर्धारणीय हैं: (अ) द्रव्यदाताका स्वरूप (आ) द्रव्यदानके प्रकारोंका स्वरूप (इ) कर्मीभूत देय द्रव्यका स्वरूप (ई) सम्प्रदानीभूत देवका स्वरूप.

## *(अ) द्रव्यदाताका स्वरूप*

तदनुसार सर्वप्रथम द्रव्यदाताके स्वरूपविचारके अन्तर्गत प्रथम प्रकरणमें हमने देखा कि द्रव्य देनेवाले तथा द्रव्य लेनेवाले दोनोंका दीयमान द्रव्यपर अविभक्त स्वत्व हो तो ऐसे लेने-देनेके कारण देनेवालेके स्वत्वकी निवृत्ति ही नहीं होती और न लेनेवालेके पूर्वसिद्धस्वत्वसे अतिरिक्त नूतन किसी स्वत्वकी उत्पत्ति ही होती है. यह अविभक्तस्वत्व यथाशास्त्र जैसे एक परिवारके सदस्योंके बीच हो सकता है वैसे ही लोकरीतसे कभी-कभी एक परिवारके सदस्य न हों फिर भी आजीविकार्थ सम्भूय समुत्थान(पार्टनरशिप)वश या सख्यादिभावप्रयुक्त

साहचर्यवश भी हो सकता है. इसका थोड़ा–बहुत विचार प्रथम प्रकरणमें हो ही चुका है. अन्य भी कुछ विवक्षित स्पष्टताएं यथाप्रसंग आगे चलकर की ही जानी हैं.

## (आ) द्रव्यदानके प्रकारोंका स्वरूप

द्रव्यदानके किन प्रकारोंमे स्वत्वनिवृत्ति होती है और किन प्रकारोंमें नहीं – यह प्रथम प्रकरणमें सुविशदतया निरूपित किया जा चुका है. अतः पिष्टपेषण अनावश्यक है.

## (इ) कर्मीभूत देय द्रव्यका स्वरूप

देय द्रव्यका स्वरूप शास्त्रोंमें अनेकधा निरूपित हुआ है. उसपर दृष्टिपात अब यहां आवश्यक हो जाता है.

इस सम्बन्धमें कुछ तो शुक्ल – शबल – कृष्णधन तथा सत्प्रतिग्रहके सन्दर्भमें उपक्रम, ब्राह्मणत्व तथा वैदिक गुरुत्वके परिच्छेदोंमें देख ही चुके हैं. अतः उससे आगे बढ़कर अब देय द्रव्यके स्वरूपको समझ लेना प्रसंगोपात्त बनता है.

मनुस्मृतिके प्राचीनतम व्याख्याकार मेधातिथिके अनुसार वैसे श्रौत स्मार्त कर्मके सन्दर्भमें तो देवद्रव्य या देवस्व जैसा कुछ भी होता ही नहीं है. वे कहते हैं – ''देवान् उद्दिश्य यागादिक्रियार्थं धनं यद् उत्सृष्टं तद् देवस्वं, मुख्यस्य स्वस्वामिसम्बन्धस्य देवानाम् असम्भवात्. न हि देवता इच्छया धनं नियुञ्जते. न च परिपालनव्यवहारः तासां दृश्यते. स्वं च लोके तादृशम् उच्यते. तस्माद् देवोद्देशेन यद् उक्तं 'न इदं मम; देवताया इदम्' तद् देवस्वम्. तच्च दर्शपूर्णमासयागेषु अग्न्यादिदेवताभ्यः चोदितं शिष्टसमाचारप्रसिद्ध्यैव गौणोपायदुर्गादियागेषु. ननु चतुर्भुजादिप्रतिमासम्बन्धि लोके देवस्वम् उच्यते... मुख्यं चतुर्भुजादिनां देवत्वं 'प्रतिमा' व्यवहारेणैव अपहृतम्'' (मेधातिथि ११।२५). अर्थात् देवताओंको उद्देश्य बनाकर यागादि क्रियाओंके लिये जो धन उत्सृष्ट हो उसे 'देवस्व' समझना चाहिये. क्योंकि देवताका मुख्य अर्थमें स्वामित्व

तो किसी द्रव्यपर हो ही नहीं सकता है. क्योंकि न तो देवता अपनी इच्छाके अनुरूप उस धनका कहीं विनियोग कर सकते हैं न अपने धनकी सुरक्षा रखने अर्थात् परिपालनका ही वे देवता कोई काम करते हैं. लोकमें द्रव्यपर स्वामित्व उसे अपने पास संभाले रखने या यथेष्ट खरचने के अधिकारपर ही स्वीकारा जाता है. इससे यह सिद्ध होता है कि देवताको उद्देश्य बनाकर 'यह मेरा नहीं; देवताका है' जिस द्रव्यके बारेमें कहा–सोचा जाता हो उसे 'देवस्व' समझना चाहिये. वह जैसे दर्शपूर्णमास आदि यागोंमें अग्नि आदि देवताओंकेलिये कहा जाता है वैसे ही गौणोपासनाओंमें दुर्गा आदिके यागोंमे भी शिष्टाचारवशात् प्रसिद्ध है. यहां शंका होती है कि चतुर्भुजादि–प्रतिमाओंके साथ सम्बन्धवाले द्रव्यको 'देवस्व' कहा जाता है. . . चतुर्भुजादिको जो 'प्रतिमा' कहा जाता है इसीसे सिद्ध हो जाता है कि वे मुख्य अर्थमें देव नहीं हैं.

अतएव यहां व्याख्या लिखते हुए भारुचिने भी यह स्पष्ट किया है कि देवताओंको जब ममता ही नहीं होती तो कोई वस्तु देवस्व कैसे हो सकती है ? अतः शास्त्रोक्त देवस्व तो सम्प्रदानीभूत देवताको सम्प्रदान यजनमात्रकालकेलिये ही क्षणिकमात्र होता है. देवताके उपभोगानन्तर वह देवस्व नहीं रह जाता. इससे यह सिद्ध होता है कि यज्ञार्थ मांगा गया द्रव्य यज्ञार्थ ही उपभोगमें लाना चाहिये. अपने उपभोगमें लानेकेलिये कुछ भी बचाना नहीं चाहिये.

इससे सिद्ध होता है कि श्रौत–स्मार्त कर्मोंमें देवता कर्मांग होता है, अर्थात् देवतांग कोई कर्म नहीं होता है. (द्र.''यागे तु पुनः स्वर्गः फलत्वेन अभिमत इति केवलं देवतायाः उद्देश्यताभावाद् अवान्तरव्यापारविवक्षार्थम्... अतो द्रव्येण प्रीता देवता व्यापारः ...''– सुबो.२।५।१५. अर्थात् श्रौत यागोंमें फलत्वेन अभिमत स्वर्ग होता है अतः केवल देवता उद्देश्य ही नहीं होते, अतः उन्हें अवान्तरव्यापारके रूपमें उद्देश्य बनाया जाता है. द्रव्याहुतिसे प्रसन्न देवता स्वर्गरूप फलप्राप्तिका व्यापार बनते हैं). अतः तन्त्रोंमें परार्थ देवालयोंमें जहां अर्चा–प्रतिमाका पूजन दिखाया गया है वहां न तो पूजनके बाद देवताका विसर्जन किया जाता है न वह मूर्ति पूजनांग देवमूर्ति होती है. अतः श्रौतकर्मोंमें जैसे यज्ञार्थ भिक्षित यज्ञमात्रोपयोगी होता है स्वोपभोगार्ह नहीं, वैसे ही तन्त्रमें जहां पूजनोत्तर स्वयं देवविसर्जन न हो जाता हो वहां देवार्थ याचित–प्राप्त धन देवैकभोगार्ह हो

सकता है, स्वोपभोगार्ह नहीं.

इसमें भी पुनः कोई वस्तु या सामग्री सकृद् उपभोगके बाद पूर्णतः उपभुक्त हो जानेसे पुनः उपभोगार्थ अनिवेदनीय भी हो जाती है. अन्य कुछ असकृदुपभोगसे भी पूर्ण उपभुक्त न होनेसे पुनः पुनः उपभोगार्थ निवेदनीय भी रह सकती हैं. प्रथम प्रकारके देवद्रव्यकी तुलनामें द्वितीय प्रकारके देवद्रव्यकी भिन्न व्यवस्था दिखलाई गई है. यथा –

**प्रश्न : देवद्रव्यं[१] तु किं नाथ देवस्वं[२] च किमुच्यते ।**

**गणान्नं ( देवान्नं )[३] निषिद्धं यद् भक्तानां भक्तवत्सलः ।।**

**उत्तर : यत्कोशे विद्यते किञ्चित् पत्रा( वस्त्रा )लंकारपूर्वकम् ।**

**लग्नं च भवमूर्तौ च तत्प्रसादेन ममान्तरे ।।**

**( लग्नं विभवमूर्तौ च प्रसादे 'न ममा'ऽन्तरे !)**

**विपणे च तदीये च देवद्रव्यं तु विद्धि तत्[१] ।।**

**नगरग्रामपर्यन्तविषये गोगजादयः ।**

**शालिसस्येक्षुपुष्पाद्या दासीदासा कुटुम्बिनः ।।**

**स(त !)त्सम्बन्धं च वाणिज्यं सपुत्रपशुबान्धवम् ।**

**देवस्वं च विरुद्धं यत् सिद्धानामपि पापकृत् ।।**

**स्वदत्तं परदत्तं वै यत्नात् तत्परिवर्जयेत् ।**

**दोषदं चापि माद्यस्मा(क्स्या !)दक्षय्यनरकप्रदम् ।।**

**प्राक्प्रवृत्तमतस्तस्मिन् निर्बन्धा देवतागृहे ।**

**प्रयत्नात् पोषणी( यत्वं याति !)यं च यो नूनं यथायथ( थम् !) ।।**

**प्रवृत्तकार्याकारणात् वैष्णवायतनेषु च ।**

**प्राप्नोति सुमहद् दोषं राजा राजपदेषु च[२] ।।**

. . . . . . . . . . .

**प्रश्न : दानं सम्प्राशनं प्रोक्तं देवान्नस्य पुरा त्वया ।।**

**तस्याधुना जगन्नाथ निषेधः कथ्यते कथम् ।**

**उत्तर : प्राक् साधितं च यागार्थं देवतानां प्रयत्नतः ।।**

तत्सन्तर्पणपर्यन्तं यावद् देवान्नमुच्यते ।
अन्यथा भक्षणं तस्य यदि मोहात् कृतं भवेत् ।।
प्रायश्चित्तशतैः चीर्णैः शुद्धिर्भवति मानवः ।
मन्त्रसन्तर्पणादन्ते याजिनां यजतां वर ।।
पावनं शुद्धिदं पुण्यं भूतिभृत्यभिवृद्धिदम् ।
भक्षणं यद्यपि प्राप्तं नैवेद्यस्य स सर्वदा ।।
गुर्वादीनां तथान्येषां भक्तानां तत्त्वतोऽब्जज !
तत्रापि साधकानां च निषिद्धं वन्दनं विना ।।
प्रश्न : हेतुना केन भगवन् निषिद्धं साधकस्य च ।
मन्त्रपूतं तु नैवेद्यमत्र मे संशयो महान् ।।
उत्तर : नाप्रार्थितं गृहीतव्यं पुष्पमात्रं कदाचन ।
स वै मन्त्रेण विभवाद् ग्राह्यं केचिद् दिगाजिना ( किञ्चिद् द्विजादिना !) ।।
नैवेद्याद्यखिलानां च भोगानां भावितात्मनाम् ।
गुरुणा प्रार्थना कार्या मन्त्रेशस्य पुनः पुनः ।।
स सर्वतः स्वतन्त्रत्वात् तत्सिद्धत्वात् न दोषभाक् ।
. . . . . . . . . . . . . .
फलपर्यवसानं च सेवार्थं यः समुद्यतः ।
न तेन प्रार्थना कार्या स्वल्पेप्यर्थेनृपस्य च ।।
सम्प्रयच्छते प्रसन्नश्चेत् स्वयं तुष्टमथो यदि ।
प्रसादमिति वै ब्रूयात् शिरसा चाभिनन्दयन् ।।
. . . . . . . . . . .
मण्डलावयवेशानां बाह्याधारसशक्तिषु ।।
गुर्वादिकालनाथानां दत्तं यद् विभवे सति ।
दद्यात् तद् ब्रह्मचारीणां भक्तानां भवितात्मनाम् ।।
हृदयादिदिगन्तानामंगानां यत् निवेदितम् ।
श्रियादिमूर्तिकान्तानां तथा व्यूहाख्यमूर्तिषु ।।
विहितं पुत्रकाणां तद्दानकर्मणि सर्वदा ।

**चक्राद्यायुधजातस्य मन्त्रोपकरणस्य च ।।**

. . . . . . . . . . .

**गणचक्रदिगीशास्त्रद्वास्थानां क्षेत्रियस्य यत् ।।**
**दत्तं तत् क्षेत्रियादीनां वैष्णवानां विभज्य च ।**
**एतद्विसर्जनाद् पूर्वं विहितं कमलोद्भव ।।**
**प्रतिषिद्धं च सर्वेषां मन्त्रचक्रे विसर्जिते ।**
**यस्मादायान्ति भूतानि कोटिशः समनन्तरम् ।।**
**विष्णुपार्षदपूर्वाणां तादर्थ्येनाब्जसम्भव ।**

. . . . . . . . . . . .

**दत्तशिष्टमतस्सर्वं दत्तं वाप्यव्ययाक्षयम् ।**
**समभृत्य च निष्पिष्य ह्यगाधेम्भसि यत्नतः ।।**
**अर्चासंरुद्धमन्त्राणां दत्तस्य विहितं सदा ।**
**दानं तदाश्रितानां वै भूतानां पूर्वरूपिणाम् ।।**
**तत्सेवकानां च तथा नृत्तगेयरतात्मनाम् ।**

. . . . . . . . . . . .

**तस्मान्मन्त्रेश दृक्पूतं नैवेद्यं पावनं परम् ।**

. . . . . . . . . . . . .

**यद्यप्येवं महत् तस्य तथापि कमलोद्भव ।**
**प्रदानाच्चोदनाच्चैव श्रेयांस्त्यागो हि पूर्ववत् ।।**
**न येन लोभो लोकस्य दोषस्योपरि सम्भवेत् ।**
**भवेत् तल्लाभमुक्तानामतीव विमला मतिः ।।**[३]

(श्रीपौष्क.संहि. २०।८४-१२१).

विस्तारभयसे अनुवादके बजाय इस लंबी श्लोकावलीका सारांश यह ज्ञातव्य है कि (१) देवद्रव्य (२) देवस्व तथा (३) देवान्न -तीनों ही मुख्यकल्पतया तो भक्तोंकेलिये स्वोपभोगार्थ उत्सर्गतः वर्ज्य ही हैं. फिर भी अपवादतः कहीं किन्हीं को जो छूट दी है उसे भी न लेकर अपनी लोभवृत्तिपर काबू रखा जाये तो मति विमल रह पाती है.

(१) देवमूर्तिको साक्षात् धराये जाते अथवा धराने लायक देवालयके कोशमें रखे हुए वस्त्रालंकारादि अथवा जो देवमूर्तिको ''न मम'' कहकर धराया गया हो ऐसा प्रसाद भी अथवा देवमूर्तिके विपणमें अवस्थित हो उसे भी देवद्रव्य समझना चाहिये.

(२) स्वदत्त या परदत्त नगरग्राम आदिमें गाय हाथी आदि पशु खेत खलिहान वाटिका गोचरभूमि आदिमें उगे गन्ना तृण पुष्प वनस्पति आदि दासीदास उनके कुटुम्बी मानव तत्सम्बन्धी वाणिज्य आदि जड़द्रव्य या सामग्री जो देवाराधनामें परम्परया उपभोगमें आनेवाली हों उन्हें 'देवस्व' कहा जाता है. इनको अपने उपभोगमें लाना सिद्धों( महाभागवतों )केलिये भी अक्षय्य नरकप्रद पापका जनक ही होता है. इनकी सुरक्षा रखना राजा या राज्यका उत्तरदायित्व है ( यह धर्मनिरपेक्ष नहीं, धर्मसापेक्ष कानून है !).

(३) देवान्न जब तक देवोपभुक्त न हो जाये तब तक सर्वथा अग्राह्य ही होता है. देवमूर्तिकी आराधनामें उपभोगके बाद उपभुक्त प्रसादको यथाकथञ्चित् लेनेका हर किसीको अधिकार नहीं होता किन्तु विभव-व्यूह-श्री-मण्डलके भीतरी अथवा बाह्य आवरणमें अवस्थित चक्रादि आयुध-द्वार्स्थ पार्षद आदिको निवेदित अन्नको कौन किस विधिसे ले सकता है और कौन नहीं कैसे नहीं या कब नहीं ले सकता है – इस बारेमें स्वच्छन्दता बरती नहीं जा सकती है. अन्यथा उपभुक्त प्रसादके ग्रहणमें भी दोष लगता ही है.

सत्सिद्धान्तमार्तण्ड( प्रश्न ५।८ )में श्रीगट्टुलालाजीद्वारा उद्धृत नारदवचनके अनुसार भी (१) देवस्व (२) देवद्रव्य (३) देवनैवेद्य (४) देवनिवेदित का भेद भी विष्णुपूजनके सन्दर्भमें ही दिया गया ही है. जैसाकि यहां श्रीपौष्करसंहितामें वचनमें हम देख चुके हैं.

पूर्वप्रकरणमें निवेदन-समर्पण-दानका प्रभेद समझाया ही गया था. तदनुसार जब सकृदुपभोगके बाद निरसनीय अन्नवस्त्रपुष्पादिपर अथवा असकृदुपभोगार्ह सुवर्ण-रजत-पात्र-रत्नालंकार-वस्त्र-गोगजादिपशु-भूमि-क्षेत्र-पण्यादि वस्तुओंपरसे अपना स्वत्व निवृत्त करके निजगृहस्थित या

देवालयस्थित भगवद्विग्रहका स्वत्व कोई स्थापित करता है तब वह द्रव्य देवद्रव्य बन जाता है.

भारुचिने जैसे कि कहा है कि देवतोपभोगकाल क्षणिक होता है, अतः देवस्वत्व केवल सम्प्रदानकालिक अर्थात् क्षणिक ही होता है शाश्वत नहीं - वह यागहोमार्थ मन्त्राहूत देवताओंको लक्ष्यमें रखकर किया गया विधान है. मेधातिथिका भी " 'प्रतिमा'शब्दप्रयोगवशात् प्रतिमामें गौण देवत्व होता है" विधान श्रौतकर्मके सन्दर्भमें है. तान्त्रिक कर्ममें प्रतिमागत देवत्व गौण नहीं माना गया है. अतएव जबतक देवप्रतिमा विद्यमान हो तबतक देवस्वत्व भी विद्यमान रहता ही है. अतएव देवार्चनको आजीविका बनानेसे जैसे देवलकता आती है, वैसे ही देवद्रव्य-देवस्वोपभोगसे भी कथञ्चिद् देवलकता आती ही है. देवस्व या देवद्रव्य के बारेमें स्वदत्त-परदत्तका प्रभेद नहीं है, जैसी कि बाललीला विमर्शकारने प्रदर्शित करनी चाही है.

अतएव श्रीमद्भागवतके एकादशस्कन्धमें सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा है- "यः स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत सुरविप्रयोः वृत्तिं स जायते विड्भुग् वर्षाणामयुतायुतम्. कर्तुश्च सारथेर्हेतोरनुमोदितुरेव च, कर्मणां भागिनः प्रेत्य भूयो भूयसि तत् फलम्" (श्रीमद्भाग. ११।२७।५४-५५). अर्थात् स्वयंदत्त अथवा परप्रदत्त सुरवृत्ति अथवा विप्रवृत्ति का जो हरण करता है वह हजारों वर्ष विष्ठा खानेवाले सुअरकी अथवा विष्ठामें पैदा होनेवाली कृमिकी योनिमें जन्म लेता है. स्वदत्त परप्रदत्त देववृत्ति अर्थात् देवद्रव्य या देवस्व का जो अपहरण करता है, या उसमें सहयोग देता है अथवा (विमर्शसदृश ग्रन्थके प्रकाशनद्वारा) उनका अनुमोदन करता है उसके कर्ताको जो फल मिलता है सो तो मिलता है और अधिक भी मिलता ही है. यहां व्याख्या करते हुए विजयध्वज कहते हैं: "देवस्वापहरणे महान् दोषः इति आहः 'यः' इति. न केवलं प्रतिमादिपूजाकर्तुः उक्तं फलं साहाय्यकर्तृणां यथायथं फलं भवति".

स्पष्ट है कि यह सारा सन्दर्भ काली-भैरव-शिवपूजक धाडीओंके लिये नहीं प्रत्युत वैष्णवोंकेलिये ही है. "वैष्णवद्वारा देवार्थ प्रदत्त गोस्वामी स्वयं ले सकते हैं" इस मान्यताकी भी यहां कठोरतम शब्दोंमें निन्द्यता ही सिद्ध होती है. न

केवल इतना अपितु देवद्रव्य न खानेपर भी विमर्शसदृश ग्रन्थलेखनद्वारा अनुमोदनका भी फल अतिशय निन्द्य ही माना गया है. जिस देवान्नके देवोपभोगानन्तर उपभोगमें निर्दोषता निरूपित की गई है,वह भी अन्न यदि देवार्थ उत्सृष्ट न हो तभी( अर्थात् देवोद्देश्यक देवस्वामिक या देवालयकोशीय द्रव्यसे सिद्ध न किया गया हो तभी) देवस्वापहार दोषसे हमें बचाता है. अतएव याज्ञवल्क्यस्मृति( आचाराध्याय ६।१६३ )में देवकोशोपजीवीकी भी 'सुधाजीवी'के रूपमें निन्दा की गई है.

'देवनैवेद्य'पदमें 'नैवैद्य'पद स्वयं निवेदनक्रियाके विषय होनेके स्वभावको सूचित करता है. अतः व्युत्पत्तिबलसे ही उत्सर्गतया नैवेद्यमें देवस्वामिकता देवनिवेदनसे पहले रहती ही है. अपवादतया, परन्तु, भोगसामग्रीके स्वयं ही देवद्रव्यसे निष्पन्न होनेपर तो वह देवद्रव्य ही रहती है. अन्यथा समर्पित होनेपर देवोपभोगके बाद देवद्रव्यत्व उसमेंसे निवृत्त हो जाता है. अर्थात् सुवर्ण रजत रत्न भूमि क्षेत्र पण्यादि वृत्तिपरसे जब कोई सुवर्णादिके दाताने स्वस्वत्व निवृत्त करके भगवत्स्वत्व स्थापित किया हो तब वे देवस्व बनते हैं. ऐसे देवस्वद्वारा जब भगवानको धरे नैवैद्यका प्रसाद लेना देवस्वापहरण ही होगा. ''प्रसादे 'न ममा'ऽन्तरे'' वचनद्वारा तथा सोनाकी कटोरीके प्रसंगमें तथा संतदास–किशोरीबाई–आशकरणदासजीकी वार्ताओंका भी रहस्य यही था. अतएव श्रीगट्टुलालाजीने ''अथ भगवतः उपायनत्वेन निवेदितं सुवर्णरजतपात्राभरणाश्वभूम्यादिकं तु स्वार्पितं परार्पितं नैव ग्राह्यं, देवस्वत्वात्'' (सत्सि.मार्त. ५।७) कहकर परार्पितकी भी अग्राह्यता स्पष्टतम शब्दोंमे स्वीकारी ही थी परन्तु, अतएव, विमर्शकारको सम्भवतः श्रीगट्टुलालाजी शिष्टत्वेन मान्य नहीं लगते हैं !

मजेदार बात तो यह है: तथाभिनन्दित पु.सि.सं.शि.बालककी तरह स्वच्छन्द कविकल्पना करते हुए विमर्शकार भी पुष्टिमार्गीय भगवत्स्वरूपको देव ही न मानते होते, और अतएव भगवत्स्वरूपको उद्देश्य करके प्रदत्त सुवर्णादिको भी देवस्व न मानते होते तो कुछ बात भी बन जाती. उक्त अभिनन्दनपत्र प्रदान करनेके बाद भी तथा स्वयं विमर्शकारको ''इन दोनों उपायनोंमें ठाकुरजीका ही

पूर्णस्वत्व होता है अतः उन्हें उपायनकर्ता (उपायनकर्ता ही केवल क्यों? यदि देवस्व होता है तो किसीको भी नहीं लेना चाहिये : गो. श्या.म. ) पुनः प्रसादरूपमें ग्रहण नहीं करते. (वैसे हकीकत यह है कि आधुनिक पुष्टिमार्गीय हवेलिओंमें सन्मुख भेंटसे ही सारी मन्दिरव्यवस्था चलाई जा रही है) गुरुघरमें देवदर्शनार्थी वैष्णवोंद्वारा ठाकुरजीके समक्ष ऐसे द्रव्यके उपायन करनेपर गुरु भी उसे ग्रहण नहीं करते'' (विमर्श पृ. १८). इस स्वीकृतिसे फिर गुलांट भी खानी चाही है. वह यों कि ''यहां यह ध्यातव्य है कि ठाकुरजीको उपायनके रूपमें निवेदित वस्तु स्वार्पित होनेपर उसे ग्रहण करनेका प्रश्न ही नहीं आता. परार्पित उस द्रव्यको अर्चकके द्वारा ब्राह्मणको दिये जानेपर उसे ब्राह्मण ग्रहण कर ही सकता है'' (विमर्श पृ.१८). क्या खूब नीति अपनाई है!

एक ओर कहा जा रहा है कि देवका पूर्ण स्वत्व स्थापित होता है अतः उपायनकर्ता ले नहीं सकते और गुरुघरमें ठाकुरजीके समक्ष ऐसे द्रव्यके उपायनको गुरु भी ग्रहण नहीं करते. तब वहां सवाल पैदा होता है – क्यों नहीं करते? परार्पितका भी ग्रहण तो किया ही जा सकता है. फिर सोनेकी कटोरीकी वार्तामें श्रुत हेतु ''वह देवद्रव्य थी''का त्याग करके सर्वथा अश्रुत हेतु – ''तब प्रश्न आता है कि उस सामग्रीसे सम्पन्न महाप्रसादको श्रीमहाप्रभुजीने वैष्णवोंको क्यों नहीं दिया? आज हमने अपनी ओरसे श्रीठाकुरजीको आरोगाया नहीं. उत्तम शिष्य गुरुकी प्रसन्नतामें अपनी प्रसन्नताका तथा गुरुके दुःखमें अपने दुःखका अनुभव करते हैं. . . अतएव श्रीमहाप्रभुद्वारा उन्हें उस प्रसादको ग्रहण करानेका प्रसंग ही नहीं आता'' (विमर्श पृ.२१) – द्वारा सरकसी करतब जैसे समाधान देनेकी क्या आवश्यकता? कहीं ऐसा तो नहीं कि विमर्शकार सन्मुखभेंटमें ठाकुरजीका 'पूर्ण स्वत्व' और असन्मुख(महेताखाना)भेंटमें 'अपूर्ण स्वत्व' ध्वनित करना चाह रहे हों? यदि यह हकीकत हो तो पूर्णता और अपूर्णता की परिभाषा देनी चाहिये थी. अन्यथा देवके पूर्ण स्वत्व स्थापित होनेके बावजूद परार्पित द्रव्यको स्वयं उपयोगमें लाना या कीर्तनिया आदिको देनेका अधिकार मान लेना पुनः देवके अपूर्ण स्वत्वमें पर्यवसित होगा.

लगता है कि विमर्शकार अपनी मानसिक असमंजसताके कारण देवद्रव्यकी सुसमंजस व्याख्या करनेसे कतराना चाहते हैं. अतएव ''ब्राह्मण उसे

ले सकता है''की भूमिगत सुरंगसे भाग जानेका उपाय घड़ रहे हैं. विमर्शकारद्वारा एतदर्थ उद्धृत वचनोंका विशोधन करना, अतएव, आवश्यक हो जाता है. यथा –

(क) ''देवे दत्वा च दानानि देवे दत्वा च दक्षिणा तत्सर्वं ब्राह्मणे दद्यात्.'' यह वचन तो सन्दर्भोल्लेखरहित होनेके कारण विमर्शकारका मनघड़ंत भी हो सकता है. अतः विचारणीय नहीं है.

(ख) ''तन्माल्यं चैव तद् द्रव्यं भक्तानां चैव दापयेत्'' (विष्वक्. संहि. २०।३५३). यह वचन उपायनीकृत पूजोपयुक्त द्रव्यके ही बारेमें है और पूजार्थ समर्पित द्रव्यके बारेमें नहीं – इसमें प्रमाण क्या ? यदि मात्र पूजोपयुक्त द्रव्यको उपायनीकृत द्रव्य ही माना जाता हो तब तो सन्मुख भेंटकी तरह सारी असन्मुख भेंट भी उपायनीकृत होनेसे ठाकुरजीके पूर्णस्वत्ववाली सिद्ध हो जायेगी, जिनके उपभोगसे देवलकता सिद्ध होगी.

(ग) ''त्यक्तं च विष्णुमुद्दिश्य तद्भक्तेभ्यो विशेषतः'' (पद्म. पुरा. पाता.खं. ८०।६५). यहां तो विमर्शकारने अकाण्डताण्डवकी पराकाष्ठा प्रदर्शित की है ! सम्पूर्ण वचन यों है: ''दत्वा नैवेद्यवस्त्रादि नाददीत कथञ्चन त्यक्तं च विष्णुमुद्दिश्य तद्भक्तेभ्यो विशेषतः.'' स्पष्ट है कि यह वचन स्वदत्त परदत्त नैवेद्यवस्त्रादिके पुनर्ग्रहणके निषेधार्थ ही प्रवृत्त हुआ है, न कि ग्रहणार्थ. अर्थात् विष्णुके भक्तकेलिये तो कमसे कम पुनर्ग्रहण कथमपि करना नहीं चाहिये. जो अग्राह्यताका प्रतिपादक वचन है उससे ग्राह्यताका झांसा देना अकाण्डताण्डव नहीं तो और क्या ?

(घ) ''देवे देयानि दानानि देवे देया च दक्षिणा तत्सर्वं ब्राह्मणे दद्यात्...'' (ब्रह्मवै. पुरा. श्रीकृष्णजन्म. १२२।२०). यह ''मुखादग्निश्च'' (पुरुषसूक्त)की तरह ''ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्'' (पुरुषसूक्त) कल्पका अवलम्बन कर अग्निकी तरह ब्राह्मणको भी 'देवमुख' माननेके सन्दर्भमें किया गया विधान है. जिसके चलते साक्षात् ठाकुरजीको भोग धरनेके बजाय ब्राह्मणको भोग लगाया जा सकता है. परन्तु क्या पुष्टिमार्गमें ? विमर्शकार जवाब दें ! वैसे ही यहां भी जो दान या दक्षिणा है वह देवसम्प्रदानक या देवपूजानिमित्तक – यों

इनमेंसे किस अर्थमें लेनी इसका विवेक रखना विमर्शकार भूल गये हैं. ऐसी स्थितिमें ‘‘यद् यद् देवे देयं तद् तद् देवस्वमेव भवति’’ व्याप्तिनियम स्वीकारते हों तो छप्पनभोग-पलना-ंगलभोगादि निमित्तवश दर्शनार्थी जनताद्वारा देय द्रव्यसामग्री भी देवस्व होगी. तब तो उसके अपहारसे पू.पा.गो.म.श्रीओंको देवस्वापहारी देवलक स्वीकारना ही पड़ेगा. अन्यथा देवपूजार्थ प्रदत्त दान देवस्वामिक होनेकी तरह पूजाकर्तृस्वामिक भी हो ही सकता है. अन्यथा पूजाकर्ताका दानकर्ममें भी कर्तृतया अधिकार सिद्ध ही नहीं होगा. अतः पूजाकर्ता अपने स्वामित्वकी जिन सामग्रीओंसे पूजा कर रहा है वह स्वयंके उपभोगमें न लाये और ब्राह्मणको दे दे - यही अर्थ यहां निकलता है. तो सिद्ध हुआ कि जो ब्राह्मणको देय दान एवं दक्षिणा है वह देवनिमित्तक पूजाकर्ताके स्वामित्वकी है.

(ङ) ‘‘पूजोपयुक्तं यद् द्रव्यं हेमरत्नाद्यनुत्तमं तत्सर्वं गुरवे दद्यात्...’’ (शिव. पुरा. उत्त.वा.सं. ३२।६९). पुनश्च पूजोपयुक्त सर्वविध द्रव्य देवद्रव्य ही होते हों ऐसा न होनेसे तथा दाताका संकल्प ही उसे देवद्रव्य बनाता होनेसे विमर्श भ्रान्तिपूर्ण है.

इन (घ-ङ) दोनों वचनोंके बारेमें यह और अवधेय है कि पूजित देवके विसर्जनके बाद स्वयं देवकी ही पूजास्थलपर सन्निधि रह नहीं जाती तो तत्स्वामित्वनिरूपित देवद्रव्य भी कहांसे रह जायेगा? पुष्टिमार्गमें तो देवविसर्जनकी प्रक्रिया ही नहीं अतः देवार्थ याचित परद्रव्यसे देवस्वामित्व भी निवृत्त नहीं हो पायेगा. उदाहरणार्थ कुछ ब्राह्मणवृत्तियां प्राचीन कालमें किसी ब्राह्मणको आजीवन दी जाती थी तो कुछ वृत्तियां आनुवंशिक भी. आजीवन प्रदत्त वृत्ति सम्प्रदानीभूत ब्राह्मणके मरणके बाद उसके वंशजोंके स्वामित्वकी नहीं रहती थी; जैसे आज पॅन्शन. जबकि आनुवंशिक वृत्तियां सम्प्रदानीभूत व्यक्तिके मरणके बाद उसके वंशजोंको भी अनुप्रदेय हो जाती थी; जैसे एन्यूईटी. वंशके ही समाप्त होनेकी तो कथा और हो सकती है. जैसे श्रीनाथजीके रथके रुकनेपर सिंहाड़ गाम तत्कालीन गोस्वामी तिलकायित महाराजश्रीको जबतक श्रीनाथजी वहां बिराजते हैं तब तक निजस्वामिकतया उपभोगार्थ सशर्त भेंट किया गया था. घसियाड़ गाम जबकि श्रीनाथजीको भेंट किया गया होनेसे वहां रहकर श्रीनाथजीकी सेवा करनेपर तत्कालीन बहुजीको वंशोच्छेदकी भीति हुई थी सो

पुनः सिंहाड़ पधराये थे. यह ऐतिहासिक तथ्य है.

(च) ''रिक्तहस्तो न पश्येच्च राजानं देवतां...'' (मे. तं. १०।६५५). इस नियमको बन्धनकारी माननेपर स्वयं विमर्शकार अपने ठाकुरजीको प्रतिदिन भेंट धरते हैं या नहीं ? यदि नहीं तो वैष्णवसे यह अपेक्षा क्यों रखी जाती है; यदि देवद्रव्यलालसा न हो तो !

कितने शिथिल वाचनिक आधारपर कितने वज्रलेपायित दोषोंका निराकरण विमर्शकारने करना चाहा है – यह विस्मयजनक बात है !

वैसे देवस्व हो या देवद्रव्य, देवनैवेद्य हो या देवनिवेदित, किसी तरहके निर्धारण करनेकेलिये ''दाताद्वारा देवार्थ स्वत्वपरित्यागपूर्वक देवस्वत्व-स्थापनानुकूल संकल्पका विषय होना ही'' देवद्रव्यका सामान्य लक्षण है. नैवेद्य जो इस तरहके द्रव्यसे धरा गया न हो तो देवार्थ विनियोगके बाद उसमेंसे देवस्वत्व निवृत्त हो जाता है. उपभोगजन्य स्वत्वनिवृत्तिके कारण वह भक्तके लिये उपभोगार्ह भी बन जाता है. परार्पित होनेपर अर्पणकर्ताकी अनुमति आवश्यक होती है (गुरुकी नहीं) यह सत्सिद्धान्तमार्तण्ड(प्रश्न ५।१७)के ''यत्र प्रतिमादौ बहवः स्वस्वसत्ताकवस्तुनिवेदकाः भवेयुः तत्र स्वयमर्पितमेव स्वेन उपभोक्तव्यं नतु निवेदकानभ्यनुज्ञातं परार्पितमपि'' (अर्थात् जहां बहुत सारे निवेदनकर्ताओंने अपने-अपने स्वत्ववाली वस्तुओंका प्रतिमादिको निवेदन किया हो वहां अपनेद्वारा निवेदित वस्तु ही स्वयं प्रसादत्वेन उपभोगार्ह होती है; परनिवेदित वस्तु पराई अनुमतिके बिना उपभोगार्ह हो नहीं सकती, परस्व होनेसे) वचनसे सिद्ध है.

सर्वप्रथम इस विवेकका पालन पुष्टिमार्गीय हवेलिओंमें आज कहां होता है ? दूसरे विमर्शकार कहते हैं – गुरुघरमें गुरुके ठाकुरजीको कुछ भी सन्मुख भेंट या असन्मुखभेंट-सामग्री पराये दर्शनार्थीओंद्वारा धरते ही गुरुका उसपर अपूर्ण या पूर्ण स्वत्व उत्पन्न हो जाता है, सो गुरु चाहे जो कर सकता है. जबकि दर्शनार्थी निवेदकोंकी अनुमतिकी कथा तो दूर, अनेक बार नाराजगी प्रकट होनेपर भी आधुनिक पू.पा.गो.म.श्री अपने कामकाज या शोख-मौजको पूरा करते हैं. निवेदक दर्शनार्थी कहते हैं – उनके निवेदितद्रव्यसे चलती हवेलिओंको शॉपिंग

कॉम्प्लॅक्स नहीं बनाना चाहिये था. और पू.पा.गो.म.श्री कहते हैं– हमारी अनुपस्थितिमें मन्दिर पुनर्निर्माण समितिके सदस्योंने शॉपिंग कॉम्प्लॅक्स बना दिया है, हम क्या करें ! जैसे शॉपिंग कॉम्प्लॅक्स कोई अल्लाउद्दीनके जादुई चिरागसे पलभरमें बन न गया हो !

मूलमें श्रीगट्टूलालाजीका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि देवालयमें अनेक निवेदकोंके द्वारा प्रदत्त या अर्पित नैवेद्यादि अर्पणीय पदार्थके बारेमें प्रत्येक निवेदकका भाव या संकल्प ही प्रमाण होता है. अर्थात् नैवेद्य उसने स्वसत्ता निवृत्त करके भगवन्मूर्तिको निवेदित किया है या स्वसत्ता रखते हुए. अतः उसकी अनुमतिके बिना लेनेसे देवस्वापहार या परस्वापहार का महद्विगर्ह्य पातकदोष लग सकता है. इसे विमर्शकार महद्विमृग्य उद्धारकभक्तिके प्रकारमें खपाना चाहतें हो तो वह कथा शास्त्रमूलक नहीं परन्तु स्वार्थमूलक है.

## *(ई) सम्प्रदानीभूत देवका स्वरूप*

सम्प्रदानीभूत देवस्वरूपके विषयमें यह अवधेय है: तान्त्रिक देवार्चन, क्योंकि (१) मानसपूजन (२) होमात्मक पूजन (३) बेर=प्रतिमापूजन (४) मण्डलाद्यर्चन –यों अनेक प्रकारोंसे सम्पन्न किया जा सकता है, अतः पूजनप्रकारके स्वरूपानुरोधवश देवस्वरूप भिन्न भिन्न प्रकारके होते हैं. फलरूपेण तत्पूजनार्थ प्रयुक्त द्रव्य–सामग्री तथा पूजावशिष्ट नैवेद्य भी अनेक प्रकारके हो सकते हैं. यथा –

(१) मानसपूजनमें पूज्य देवकी प्रतिमाकी तरह पूजांगद्रव्य भी मानस ही होंगें. अतः देवद्रव्य बनता ही नहीं; और बनेगा भी तो मानसद्रव्य ही, बाह्यवस्तुरूप द्रव्य नहीं.

(२) होमात्मक पूजनमें पूजनीय देव क्योंकि मन्त्रमय होता है, जिसे देय हविद्रव्यकी आहुति मन्त्रोच्चारपूर्वक देवमुखतया मान्य अग्निकुंडस्थित मन्त्राहित अग्निमें देनी होती है, अतः देवार्थ उत्सृष्ट आहुति तो स्वयं भस्म ही हो जाती होनेसे देवद्रव्यके अन्यके द्वारा उपभोगकी कथा ही अप्रासंगिक बन जाती है. देवार्थ उत्सृष्ट द्रव्यप्रदानके बाद यज्ञोच्छिष्ट द्रव्य यद्यपि देवद्रव्य नहीं होता, फिर

भी उसे ग्रहण करनेका अधिकार द्विजाद्विज सभीका नहीं होता. अतः यथाविधि यज्ञोच्छिष्ट या होमोच्छिष्ट प्रसादका वितरण धर्म्य माना जाता है. यह अधिकारीविशेषकेलिये विहिततया ग्राह्यता तथा अधिकारीविशेषकेलिये निषिद्धतया अग्राह्यता उसके देवस्व होनेका प्रमाण नहीं होती.

(३) प्रतिमापूजनमें: आवाहन-पूजन-विसर्जनकी प्रक्रियाद्वारा जब पूजनीय देवका विसर्जन हो जाता है तब पूजास्थल या पूजनानुष्ठान में स्वयं देवके ही विसर्जित हो जानेके कारण तद्देवनिरूपित स्वामित्व पूजांगभूत द्रव्य-सामग्रीपर रह ही नहीं जाता. ऐसी स्थितिमें देवद्रव्य कैसे उत्पन्न हो सकता है ? और यदि कुछ उत्पन्न हुआ भी तो वह देवविसर्जनके साथ ही विसर्जित भी हो ही जाता है – ऐसे स्वीकारना पड़ेगा. प्रतिमामेंसे देवत्व यदि विसर्जित नहीं किया गया हो तो, वह पूजाकर्ताके निजगृहमें स्थित हो या परार्थ देवालयमें, उस प्रतिमाके पूजनार्थ समर्पित स्रग्गन्धवस्त्रालंकारस्वर्णरजतनैवेद्यादिका भक्त उपभोग कर सकते हैं. यदि स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक प्रतिमास्वत्वस्थापनानुकूल संकल्प किया गया हो तो स्वयं या अन्य भी कोई उसका उपभोग कर नहीं सकते, दत्तापहारदोषका उत्पादक होनेसे. यही नियम ''यः स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत ... भूयसि तत्फलम्'' (भाग. ११।२७।५४-५५) तथा ''देवस्वं च विरुद्धं यत् ... स्वदत्तं परदत्तं वा यत्नात् तत् परिवर्जयेत्'' (श्रीपौष्क.संहि.      ) वचनोंमें प्रतिपादित हुआ है.

''देवे देयानि . . . ब्राह्मणे दद्याद्'' - ''तन्माल्यं चैव तद्द्रव्यं भक्तानां चैव दापयेत्'' - ''पूजोपयुक्तं यद्द्रव्यं तत्सर्वं गुरवे दद्याद्'' वचनोंमेंसे तीनों ही विधिओंमें 'दद्याद्' और 'दापयेत्' द्वारा सूचित दानविधि या दापनविधि में देय सामग्रीका स्वामी ही दानकर्ममें अधिकारी है, गुरु नहीं. इससे सिद्ध होता है – इन वचनोंद्वारा भी यजमानका ही स्वत्व इन वचनोंमें विवक्षित है,ब्राह्मण गुरु या देवमूर्ति का स्वत्व नहीं. यथा पाणिग्रहणविधिमें कन्याका पिता ही कन्यादानार्थ अधिकारी होता है, वर या पुरोहित नहीं. दानविधिद्वारा स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोत्पादनानुकूल संकल्पवशात् पाणिग्रहणार्थ वर ही अधिकारी होता है, अन्य कोई पुरोहित या वरके पिता आदि नहीं. अतः विधिनिर्दिष्ट स्वत्वानुमित

देवद्रव्यता इन वचनोंसे निवृत्त हो गई. इसी तरह क्रमशः ब्राह्मण भक्त तथा गुरुकी स्वत्वोत्पत्तिके अनुकूल संकल्प करनेकी ही ये विधियां स्वयं इस बातका प्रमाण है कि इन पूजांगभूत द्रव्योंके बारेमें यजमानको देवतोद्देश्यक स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक देवस्वत्वोत्पत्तिका संकल्प ही नहीं करना है. अतः स्वप्रदत्त देवद्रव्यके स्वपरोपभोगके निषेधवचनोंका विमर्शकाराभिमत अन्यथानयन इन वचनोंकी दुहाई देकर शक्य ही नहीं है.

तिसपर भी ''तन्माल्यं चैव तद्द्रव्यं भक्तानां चैव दापयेद्'' वचनमें 'एव'कारसे व्यावृत्त्य कौन-कौन हैं यह भी जान लेना एक मज़ेदार बात होगी. क्योंकि ''भक्तोंको ही दिलवाना चाहिये'' कहनेपर ''अन्योंको नहीं'' यह अर्थ निकलता है. और वे अन्य कौन हैं इसका निरूपण इसी प्रसंगमें यों मिलता है –

**मूल :** **काकश्वानादिजन्तूनां पाषण्डिनां तथैव च ।**
**वेदविक्रयकानां च वेदनिन्दकमेव च ।।**
**शूद्रान्नतत्पराणां च नास्तिकानां विशेषतः ।**
**एवमादीनिजातीनां भक्षणार्थं न दापयेत् ।।** (वहीं ३५४-३५५).

**अनुवाद :** कौआ कुत्ता आदि जन्तुओंको पाषण्डी (द्र. ''लाभपूजार्थयत्नस्योपधर्मत्व... सम्पादकत्वात्'') वेदविक्रय करनेवाले, वेदनिन्दकों, शूद्रान्नतत्पर (जैसे बहुधा हम गोस्वामी अपनी हवेलिओंके भण्डारोंमें अद्विजोंसे घी-तैल-दाल-आटा-चावल-गुड़-चीनी स्वीकार लेते हैं) नास्तिकों या ऐसे जातिवालोंको भक्षणार्थ नहीं देना चाहिये.

ऐसी स्थितिमें भक्तोंको प्रसाद दिलवा देनेकी तान्त्रिक आज्ञाका लाभ हम गोस्वामिओंको मिल सकता हो ऐसा लगता नहीं है.

आगे चलकर ३५८-३६०वी कारिकाओंमें कैसे भक्तोंको देना उसके अन्तर्गत भी त्रैवर्णिक द्विजातिओंको ही दिलवानेकी आज्ञा है. तो हमारे मन्दिरोंमें क्या वह नियम पाला जाता है, जब हम प्रसादका विक्रय या समाधान करते हैं ?

जबकि वहां स्पष्ट ये शब्द आये हैं : ''तस्मात् सर्वप्रयत्नेन वर्जितानां न दापयेत्'' (वहीं ३६०). अर्थात् किसी भी तरह वर्जितोंको नैवेद्य मिल न जाये उसकी अत्यन्त सावधानी रखनेको कहा गया है. वर्जितोंमें हम नहीं है यह तो हम कह ही नहीं पायेंगे. इस तरह विमर्शकारद्वारा प्रदत्त वचन विमर्शकारके मतका कैसे निरसन कर रहा है – यह चमत्कार हमने देखा !

इस प्रसंगमें यह भी देख लेना अनुचित नहीं होगा कि तन्त्रशास्त्रने इस विषयकी सम्पूर्ण व्यवस्था क्या–कैसी निरूपित की है.

नारदीयसंहितामें यह निरूपण मिलता है कि अर्चनार्थ सम्पादित हविमेंसे एक (क)भाग अर्चा = मुख्यप्रतिमाको निवेदित करना चाहिये तथा उस नैवेद्यमेंसे एक चतुर्थांश निवेदित प्रसाद विश्वक्सेनको भोग लगाना चाहिये. तीन चतुर्थांश गुरु दीक्षित यति तथा द्विज वैष्णवोंकेलिये (यह नियम पुष्टिमार्गमें पाला नहीं जाता तो भक्तोंको देनेके नियमका लाभ हम पुष्टिमार्गीओंको कैसे मिल पायेगा ?) रखना चाहिये. द्वितीय (ख)भागसे होम करना चाहिये. जिस होमकी आहुतिओंका अवशिष्ट अंश द्विजशिष्योंको देना चाहिये. (यह होमप्रणाली हमारे यहां है ही नहीं) तृतीय (ग)भाग प्रथमावरण देवताओंको भोग लगाना चाहिये. चतुर्थ (घ)भाग यजमानके जो दीक्षित बन्धु–बान्धव हों उनके साथ यजमान स्वयं ग्रहण कर सकता है. (हमारे मन्दिरोंमें दीक्षितोंको ही प्रसाद मिले इसकी भी सावधानी कहां रखी जाती है ? . द्र. नार.संहि. १२।५३–५७).

न केवल इतना अपितु हविःशेषसे ही शरीरयात्रा अनिवार्य बताई गई है. जो जिस मूर्तिकी अर्चना करता है उसे उस मूर्तिके हविःशेषका ही भोजन करना चाहिये. क्योंकि दूसरे किसी व्यक्तिका अन्न खानेपर पूजाफल पूजाकर्ताके बजाय पूजाकर्ताने जिस व्यक्तिका अन्न खाया हो उसे मिल जाता है (नार.संहि. ११।९१–९३).

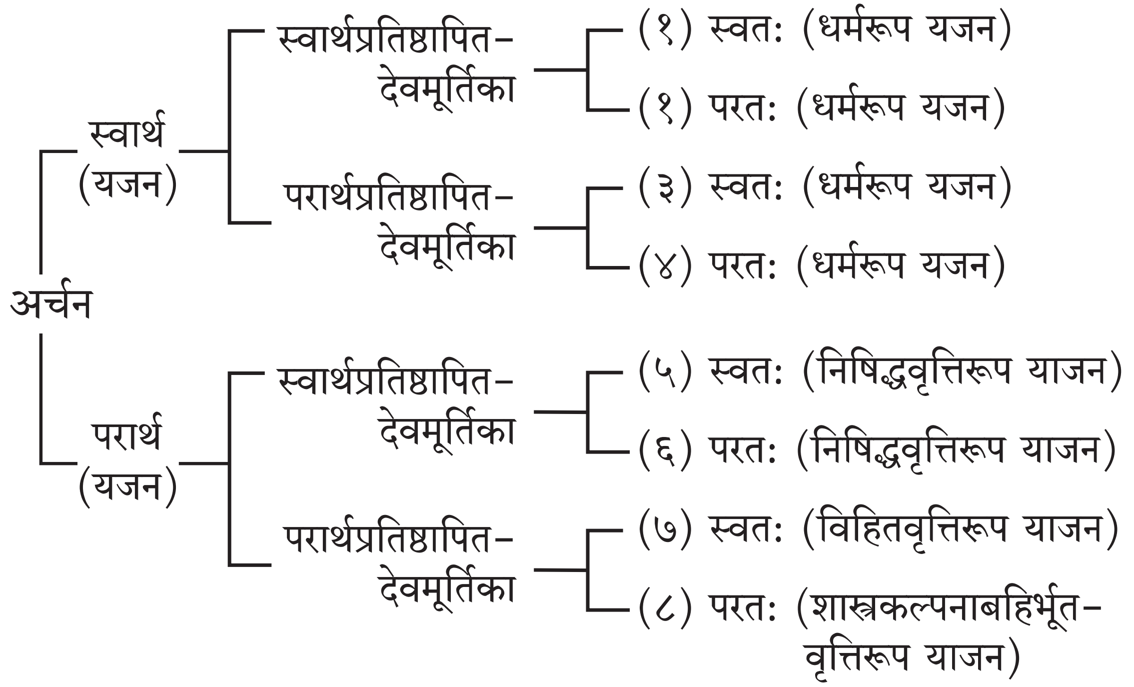
जो नैवेद्य सामग्री सिद्ध की जाती है उसमेंसे तीनचतुर्थांश देवार्थ होता है, जो पूजनकर्ता यजमानको नहीं मिलता. केवल एकचतुर्थांश अनिवेदित हविःशेष ही यजमान और उसके बन्धु–बान्धव ग्रहण कर सकते हैं. ऐसी स्थितिमें मुखिया–

भीतरिया आदिको हम अर्चक मानतें हों तो उन्हें ठाकुरजीके सन्मुख भोग धरी हुई सामग्री दे देनी चाहिये. सेवाके यजमान हम गोस्वामिओंको भोग न धरी हुई अवशिष्ट सामग्री ही ग्रहण करनी चाहिये. यदि हम गोस्वामी अपनेआपको पुजारी मानते हों और वैष्णव दर्शनार्थीओंको यजमान, तो कमसे कम उन्हें तो सन्मुख भोग धरी हुई सामग्री देनी नहीं चाहिये. इसके साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पांचरात्रागमिक अर्चकको जहां अर्चनासे पूर्व या पश्चात् परान्नभोजन निषिद्ध हो वहां सेव्यसन्तोषजनिका सेवाका बहाना बनाकर नेगभोगके मिथ्या नियमोंका आडम्बर करके द्विजाद्विज स्वमार्गीय-परमार्गीय सभी दर्शनार्थी जनताके द्रव्यसे लड्डु-पूड़ी-मठड़ीका चक्कर चलाना शास्त्रीय नहीं अपितु घोर निन्दनीय कृत्य ही ठहरता है.

यदि पूजोपयुक्त द्रव्योंको इन वचनोंके आधारपर लेना हो तो इन वचनोंमें बंधना पड़ेगा. यदि बंधना न हो तो इन वचनोंसे मिलते लाभके भी अधिकारी हम नहीं रह जायेंगें. और न हमारी सेवाप्रणाली ही और न हमारे अद्विज शिष्य ही.

(४) मण्डलाद्यर्चनमें पूजनीय देवताके पूजनके बाद विसर्जन हो जानेसे तन्निरूपित देवस्वत्व पूजोपयुक्त द्रव्योंमें आता ही नहीं है, जो कि पूजासे पहले हो सकता था.

पूजनीय देवताके स्वरूपविचारके प्रसंगमें अतः स्वार्थप्रतिष्ठा अथवा परार्थप्रतिष्ठा, तथा ऐसे देवका स्वतः अर्चन अथवा परतः आचार्य, गुरु, ऋत्विक् द्वारा अर्चनके भेदोपभेदोंको सरलतासे बुद्धिगत करनेकेलिये इस सारणीपर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा :




(१) इसमें इस प्रथम कल्पमें भगवदर्चनविधिका जानकार अर्चक स्वगृहमें स्वार्थप्रतिष्ठापित देवप्रतिमाका पूजन स्वार्थ, अर्थात् स्वधर्मतया ही, करता है.

(२) इस कल्पमें यजमान भक्तिमान होनेपर भी भजनविधिका या तो विज्ञ नहीं अथवा रोगादि उपद्रववशात् असमर्थ हो जानेसे स्वतः पूजन करनेमें समर्थ रह नहीं गया हो ऐसा है. अतः उसे परतः पूजन करवाना पड़ता है. एतदर्थ आचार्य गुरु या ऋत्विक् ब्राह्मणका वह वरण करके तदर्थ उन्हें दक्षिणादि प्रदान करता है. विष्वक्सेनसंहितामें अतएव कहा गया हैं: ''कुञ्जरं वा तुरंगं वा ग्रामं दासीगणः तथा गाश्चैव विविधं वस्त्रं हिरण्यं वापि शक्तितः आचार्याणां तु देयं स्यात् यथावित्तानुसारतः (विष्वक्.संहि. २२।१९१-१९२). इसी तरह विमर्शकारद्वारा उद्धृत वचन ''वृत्तिं कृत्वा तु विप्रेण दीक्षितेन विधानतः अन्येन पूजयेद् देवमशक्तः स्वयमर्चने'' (विमर्श पृ.४७) भी अवधेय है. इसी कल्पके सन्दर्भमें यत्र-तत्र तन्त्रशास्त्रमें कहीं वृत्त्यर्थ अर्चनतया तो कहीं याजनतया इसे ब्राह्मणकी वृत्तिके रूपमें मान्य किया है. जो ब्राह्मण आर्त्विज्य या अर्चनविधिमें आचार्यत्व करता है, वह अपना स्वधर्मरूप भगवदर्चन वृत्त्यर्थ नहीं करता,

जैसाकि हम गोस्वामी करते हैं, क्योंकि वह तो कल्पनातीत अधःपात है. यह तो याजन है, अर्थात् वृत्त्यर्थ भगवदर्चन करवाना न तो स्वधर्मरूप यजनका विकल्प है और न अनुकल्प ही, प्रत्युत स्वधर्म भलीभांति निभ पाये एतदर्थ शास्त्रद्वारा नियत ब्राह्मणकी नित्यवृत्ति है.

(३) इस कल्पमें परार्थ प्रतिष्ठापित प्रतिमाकी पूजाका प्रकार है. जैसे जगदीश पंढरपुर श्रीरंग तिरुपति वरदराज बदरीनाथ द्वारकाधीश रणछोड़रायजी आदि परार्थ देवालयोंमें; महाप्रभुके ही शब्दमें, ''जगन्नाथे विठ्ठले च श्रीरंगे वेंकटे तथा यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्परः'' (त.दी.नि. सर्वनि. २५५), पूजन किया जा सकता है. इसी शास्त्रीय कल्पको लक्ष्यमें रखकर पूर्णमल्ल क्षत्रियको देवालयनिर्माण तथा श्रीनाथजीके श्रीअंगपर चंदन धरानेकी अनुज्ञा श्रीमहाप्रभुने दे दी थी.

(४) इस कल्पमें पूर्वोक्त परार्थप्रतिष्ठापित देवालयोंमें वहां नियुक्त अर्चकोंद्वारा स्वार्थपूजन करवानेका प्रकार है, इन अर्चकोंको दक्षिणादानपूर्वक. यह शास्त्रानुमोदित होनेपर भी मर्यादामार्गीय प्रकार है. पुष्टिमार्गीय था नहीं परन्तु अब अर्थलोलुपतावश हमने अपना तो रखा है !

(५) स्वार्थप्रतिष्ठापित देवप्रतिमाका परार्थपूजन, सो भी आजीविकाके उपार्जनार्थ ! शान्तं पापं !! यही तो वह दुष्कर्म है जिसकी उपमा प्रभुचरणने मलप्रक्षालनार्थ गंगाजलके उपयोगसे दी है !!! विमर्शकारने ''देवार्चनपरो नित्यं वित्तार्थी वत्सरत्रयम् असौ देवलको नाम देवस्वग्राहकोपि च'' जो वचन उद्धृत किया है वह इसी कल्पपर पूर्णतया लागू होता है.

विमर्शकारने ''लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्व-देवलकत्वादि-सम्पादकत्वात्'' वचनको पूर्वपक्षांगतया उद्धृत करके उसके समाधानतया ''उपधर्मस्तु पाषण्डो दम्भो वा''-''वेदविरुद्धत्वं पाषण्डत्वं'' वचनोंका अवलम्बन लेकर सेवाके दम्भको ही केवल दोषरूप मानकर कुशकाशावलम्बन करना चाहा है. वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाकी, परन्तु, प्रभुचरणद्वारा की गई कठोरतम शब्दोंमें निन्दाके बावजूद वृत्त्यर्थसेवाकी वकालत करना भी एक गर्ह्यतम दम्भ

कहा जा सकता है कि नहीं – यह प्रत्येक निष्ठाशील पुष्टिमार्गीयकेलिये विचारणीय विषय है ही !

इसी तरह देवलकताके स्वरूपका विचार करते हुए विमर्शकारने तीन भेद (पृ. ३९–४७ पर) बताये हैं: (१) कर्मदेवलक (२) कल्पदेवलक तथा (३) शुद्धदेवलक. इनमें ''आगमोक्तविधानज्ञो रुद्रकाल्युपजीवकः शुद्धदेवलको नाम सर्वकर्मविगर्हितः'' (विमर्श पृ.४२). इस वचनको इस बातका प्रमाण माना कि रुद्रपूजक या कालीपूजक ही केवल देवलक होते हैं. वस्तुतः ऐसा नहीं है. क्योंकि तब कर्मदेवलक और कल्पदेवलक से शुद्धदेवलकका भेद ही सिद्ध नहीं होगा. क्योंकि देवलक केवल रुद्र–कालीके पूजक ही ठहरेंगे.

ऐसी स्थितिमें ''देवार्चनपरो नित्यं वित्तार्थी वत्सरत्रयम् असौ देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हितः'' जैसे सामान्य वचन भी वृत्त्यर्थ विष्णुपूजा करनेवालोंके बारेमें न होकर वृत्त्यर्थ रुद्र–कालीपूजन करनेवालोंके ही बारेमें ठहरेंगे. अतः यह निर्णय विमर्शकारने कैसे ले लिया यह समझमें नहीं आता ! क्योंकि सामान्य वचन देवलकोंके तीनों प्रकारोंका संग्राहक होना चाहिये था – केवल शुद्धदेवलकोंका नहीं.

अतएव ''शर्वं सूर्यं तथा चन्द्रं दुर्गादी रौद्रदेवता योऽर्चयेत् पणपूर्वं तु स वै देवलको स्मृतः'' (विमर्श पृ.३९) वचन भी इस बातका प्रमाण है कि केवल रुद्र–कालीपूजनको आजीविका बनानेवाले ही नहीं प्रत्युत सूर्य–चन्द्रके पूजनको आजीविका बनानेवाले भी देवलक ही होते हैं. उल्लेखनीय है कि गोस्वामिओंके यहां विवाहमें ग्रहशान्तिकर्ममें चन्द्रसूर्यादिग्रहोंका पूजन गोस्वामिवर्गके उपाध्यायजी करवातें ही हैं, जिसकी दक्षिणा भी लेते ही हैं, पणपूर्वक. एतावता वे यदि देवलक हो जाते होते, अर्थात् हव्य–कव्यमें बहिष्काराई हो जाते होते, तो उन्हें उपाध्याय बनाया ही क्यों जाता ?

स्पष्ट है कि इन देवोंका स्वधर्मरूप यजन या पूजन उपाध्यायजीकी आजीविका नहीं है. परन्तु ब्राह्मणवृत्तिरूप याजन उपाध्यायजीकी आजीविका है, जो शास्त्रानुमोदित ही है. इसी तरह रुद्र–काली–गणपति–कार्तिकेयादि

देवताओंके भी पूजनकर्ता उनका स्वधर्मतया पूजन करते हों एतावता देवलक नहीं बन जाते. न किसी दूसरे शिवादि देवताओंके भक्तोंको शास्त्रविहित ब्राह्मणवृत्तितया याजन करवानेमात्रसे ही उनमें देवलकता आती है. गोस्वामिओंके विवाहकर्ममें रुद्रको भी आहुति उपाध्यायजी दिलवाते ही हैं; एतावता वे देवलक नहीं बन जाते. देवलकता आती है गोस्वामिओंकी तरह स्वधर्मको आजीविकाका उपाय बनानेपर. क्योंकि इसे ही 'देवपूजनका दम्भ' कहा जाता है.

इससे सिद्ध होता है कि ''चण्डिकायाश्च दुर्गाया ज्येष्ठाया भैरवस्य च रुद्रस्य पूजकाः ये तु ते वै देवलकाः स्मृताः'' (विमर्श पृ.३९) वचनसे भी न तो चण्डिकादि देवताओंके पूजनको स्वधर्मरूप यजनतया करनेवालोंमें और न ब्राह्मणवृत्तिरूप याजन करनेवालोंमें ही देवलकत्व दोष आता है. देवलकत्वदोष आता है चण्डिकादि देवताओंके स्वस्वधर्मरूप पूजनको आजीविकार्थ उपाय बनानेवाले दम्भिओंमें ही.

अतएव ''येन केन प्रकारेण विष्णोराराधनं परं तस्माद् देवलकत्वं तु न विष्णुविषये क्वचित्'' (विमर्श पृ.३९) वचनमें ''येन केन प्रकारेण''की छूटमें दम्भ या पाषण्ड की छूट दी गई हो – ऐसा तो माना नहीं जा सकता. अतः ''येन केन प्रकारेण''का अर्थ – स्वधर्मतया यजन अथवा स्ववृत्तितया याजन ही लेना चाहिये. अर्थात् यजनको याजन बनाना अथवा याजनमें यजनका सन्तोष मानना ही दम्भ है! इस वचनमें यजनकी विष्णुसमाराधनरूपता तो निर्विवाद है परन्तु याजनको भी जो विष्णुकी आराधनाका दरज्जा दिया जा रहा है वह ''स्व(वर्णाश्रम)कर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'' न्यायसे समझना चाहिये. अन्यथा वह दम्भपर्यवसायी होगा ही.

यहां यह शंका उठ सकती है कि स्वयं शास्त्रतः ही जब यजन स्वधर्मतया तथा याजन स्ववृत्तितया विहित ही है तब कौन ऐसा मूर्ख होगा जो याजनके देवलकत्वापादक होनेकी शंका कर सकता हो! ऐसी स्थितिमें ''तस्माद् देवलकत्वं तु न विष्णुविषये क्वचित्'' वचन अप्रसक्त प्रतिषेध हो जायेगा!

यहां, परन्तु, धैर्ययुक्त चित्तसे विचारणीय यही है कि कोई वैष्णव स्वधर्मरूप यजन = विष्णुपूजनमें केवल तत्पर हो अथवा कोई वृत्तिकर्शित प्रतिमाके बाह्यपूजनमें असमर्थ हो (त्यागी-संन्यासी-वानप्रस्थ-वैखानस या अकिंचन होनेके कारण) ऐसा भक्त यदि शास्त्रविहित आजीविकारूप याजन = परार्थ विष्णुपूजनमें ही तत्पर हो एतावता उसे विष्णुपूजनका दम्भ करनेवाला नहीं कहा जा सकता है. क्योंकि ऐसे अकिंचन भक्त स्वधर्मरूप यजन = विष्णुपूजनके मानसप्रकारका अवलम्बन भी कर सकते हैं, तथा आजीविकार्थ शास्त्रविहित याजन = परार्थ विष्णुपूजन भी कर ही सकते हैं. अतः इस तरह प्रसक्त दम्भकी आशंकाका निरसन यहां किया गया है. हम गोस्वामिओंकी तरह परन्तु सेव्यसन्तोषजनक भजनका बहाना बनाकर स्वधर्मरूप भगवद्भजनको आजीविकाका उपाय बनाना अवश्य ही दम्भ है. मंगला-पलना-राजभोग-फूलमण्डली-हिंडोला-कुंडवारा-छप्पनभोगके सार्वजनिक विज्ञापन छाप छापकर वित्तजासेवाकी सार्वजनिक याचना करना निश्चय ही पूर्ण पाषण्डिता है; ऐसा पाषण्ड जो ''अर्थार्थी कालनिर्देशी यो देवं पूजयेत् सदा कर्मदेवलको नाम सर्वकर्मबहिष्कृतः'' (विमर्श.पृ.४१) वचनके विषयीभूत कर्मदेवलक हमें सिद्ध करता है. आश्चर्य यह है - विमर्शकारने यहां स्वप्रदत्त वचनका भी तात्पर्यावगाहन समुचिततया किया नहीं है !

श्रीयामुनेयाचार्यजीके द्वारा उद्धृत शाण्डिल्यवचन ''वृत्त्यर्थं याजिनः सर्वेदीक्षाहीनाश्च केवलं कर्मदेवलका एते स्मृता ह्यत्र पुरा मुने तांश्च संवत्सरादूर्ध्वं न स्पृशेत् न च संविशेत्''का विचार करते हुए विमर्शकारने यहां 'कर्मदेवलक'की परिभाषामें: 'श्रद्धाभक्तिविरहितकेवलवृत्त्यर्थ' विशेषण 'देवपूजन'के साथ जोड़कर बच निकलनेका प्रयास किया है. परन्तु 'केवल वृत्त्यर्थ' तथा 'श्रद्धाभक्तिसहितवृत्त्यर्थ' ऐसे दो तरहके वृत्त्यर्थ पूजन यहां यामुनेयाचार्यको विवक्षित हों -ऐसा लगता नहीं है. क्योंकि श्रीप्रश्नसंहितामें ''परार्थयजनं दीक्षाम् आचार्यपदपूर्विकां'' (श्रीप्रश्न. संहि. १६।१४७) (अर्थात् परार्थयजन = याजनके अधिकारी आचार्यतया दीक्षित व्यक्ति ही हो सकते हैं, सभी नहीं) - यह नियम स्थापित किया है.

उस आचार्यकेलिये स्पष्टतम शब्दोंमें यह विधान भी किया गया है कि वह शिष्यको समयी-पुत्रक-साधककी कक्षाओंके क्रमसे आगे बढ़ाते हुए आचार्यपदवीतक ले जा सकता है. इसी तरह आचार्यत्वमें भी श्रोत्रिय, पूर्ण, गुरु, भट्टारक और भट्टाचार्यके क्रमसे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट पदवियां हैं. कहीं-कहीं समयी दीक्षित चक्रवर्ती अभिषिक्त आचार्य भगवान पदवियां भी वर्णित हुई हैं. तदनुसार समयी और पुत्रक की कक्षाओंतक पहुंचनेवाले साधकको याजन = परार्थयजनका अधिकारी नहीं माना गया है: ''न चास्य विहितो होमो धर्मार्थं पूजनं विना'' (जया.संहि. १७।१४), अर्थात् धर्मार्थपूजनके अलावा वह होम भी नहीं कर सकता है.

इसके बाद क्रमशः आगे बढ़नेपर शास्त्राज्ञा है-''मन्त्रसिद्धिस्तु वै तस्य विज्ञाता गुरुणा यदा, गुरुणा वै सोभिषेच्यः ततः शिष्यः प्रसादतः कृत्वा यागं चतुर्थं तु तद्वित्तेन पूर्ववत् . . . ततोभिषिच्य विधिना स्वाधिकारं निवेदयेत्. गृहीत्वा तेन कर्तव्यं गुरुत्वमितरेषु च, पूजाग्निहवने चैव जपध्यानान्वितं सदा, भक्तानां संशयच्छेदं कुर्याच्छास्त्रं विना तु वै, अनुग्रहं च शापं च मन्त्रारम्भणमर्पणं, न लोभेन न रागेण न स्वार्थेन न नामतः, स्वकल्पोक्तविधानेन कुर्यात् सर्वेष्वनुग्रहमर्थ्यर्थितस्तदा विप्रः यजनं च पवित्रकम्, नातीव संग्रहं कुर्यात् मात्रा वित्तस्य नारद, नित्यमभ्यस्यति त्यागमनित्यं भावयेद् भवम्'' (जया. संहि. १७।४७-६२). अर्थात् जब समयी पुत्रक और साधक क्रमसे शिष्यको मन्त्रसिद्धि हो गई है ऐसा गुरुको लगने लगे तब उसे 'आचार्य'पदके लिये दीक्षित करना चाहिये. एतदर्थ शिष्यके वित्तसे उसे चतुर्थयाग करवाकर आचार्य अपने आचार्यत्वके अधिकारसे शिष्यको अभिषिक्त करें. तब वह शिष्य भी इतरोंको जपध्यानान्वित पूजा अग्निहोम करवा सकता है. शास्त्रोपदेश किये बिना अशिष्य भक्तोंके संशयोंका निरसन भी कर सकता है. आचार्योचित अनुग्रहशापादिदान भी कर सकता है. परन्तु यह सारे कृत्य उसे लोभ-राग-ख्याति-स्वार्थकी वृत्तिसे रहित होकर स्वकल्पोक्तविधिसे ही करने चाहिये. किसीके प्रार्थना करनेपर इन आचार्यकर्तव्योंका अनुग्रहपूर्वक पालन करना चाहिये (अर्थात् मासिकपत्रोंमें छप्पनभोगका विज्ञापन प्रकाशित करवा कर नहीं). अतीव संग्रह कभी करना नहीं

चाहिये प्रत्युत त्यागका ही अभ्यास करना चाहिये, जीवनकी अनित्यताकी भावना करते हुए.

इससे सिद्ध होता है कि 'केवल'का अर्थ केवल श्रद्धाभक्तिरहित होना नहीं है. आचार्यपदपर दीक्षित न होनेपर भी याजन = परार्थयजन कराना केवल वृत्त्यर्थ ही होता है, स्वकर्तव्यपालनार्थ नहीं. इसकी निन्दा यहां की गई है.

ऐसी अवस्थामें पांचरात्रकी आचार्यपददायिनी दीक्षा हम गोस्वामिओंको होती नहीं. फिर भी मासिकपत्रों तथा पॅम्फ्लॅटॉ में सार्वजनिक वित्तजसेवायाचनाके विज्ञापनोंके कारण हमारा अर्थार्थितया कालनिर्देशी होना तो सिद्ध होता ही है. यदि गोस्वामिवर्ग वृत्त्यर्थ भगवत्सेवा न करता होता, विमर्शग्रन्थके प्रकाशनकी भी आवश्यकता ही न पड़ती. अतः वृत्त्यर्थिता भी सिद्ध होती ही है. अतः ''आचार्यदीक्षाविहीनत्वे सति वृत्त्यर्थित्वे सति देवपूजकत्वम्'' कर्मदेवलकका लक्षण हम गोस्वामिओंपर मूसलधार बरसकर देवलकताके गर्तमें हमें डुबो रहा है – यह भी सिद्ध हो ही जाता है !

रही बात कल्पदेवलकताकी, तो अन्य अपठित गोस्वामी तो कथञ्चित् बच भी सकते हैं कि श्रीमहाप्रभुके ही सारे ग्रन्थ वे जब पढ़ नहीं पाये तो पांचरात्रतन्त्रका अध्ययन करके पांचरात्रविधानज्ञ तो कहांसे हो पायेंगें ! परन्तु विमर्शकारसदृश सुपठित तथा तन्त्रवचनोंके आधारपर चर्चा करनेमें समर्थको तो पांचरात्रविधानज्ञ स्वीकारना ही पड़ेगा. वृत्त्यर्थिता भी 'विमर्श'ग्रन्थप्रकाशनसे सिद्ध होती ही है. सार्वजनिक विज्ञापनोंके कारण मासिक पत्र-पॅम्फ्लॅट द्वारा यशोर्थिता भी यदि सिद्ध न भी होती हो तो भी सम्भावित तो है ही. ऐसी स्थितिमें ''पांचरात्रविधानज्ञत्वे सति चतुर्वेदाधिकारित्वे सति तान्त्रिकदीक्षाविरहितत्वे सति वृत्त्यर्थित्वे सति यशोर्थित्वे वा सति भगवदाराधकत्वम्'' लक्षण भी देवलकतादोषक्लिन्न हमें करता है या नहीं – यह विचारणीय है !

यदि कहा जाये कि कल्पदेवलकके लक्षणमें जो प्रमुख घटक है, पांचरात्रविधानानुसार पूजन करना = ''ये कल्पोक्तं प्रकुर्वन्ति'', वह छूट गया है, जबकि पुष्टिमार्गमें तो वह है नहीं. तब तो घट्टकुट्टीमें प्रभात हो गया ! क्योंकि

वृत्त्यर्थ पूजन भी फिर उन्हींकेलिये दोषावह नहीं होगा, पुष्टिमार्गिओंके लिये तो होगा ही. कमसे कम पांचरात्रतन्त्रवचनोंके आधारपर तो यही सिद्ध होगा.

शुद्धदेवलक वैसे रुद्र-कालीपूजनकर्ताओंको माना गया है; और पुष्टिमार्गीय पू.पा.गो.म.श्री रुद्र-कालीका पूजन वृत्त्यर्थ नहीं करते (उज्जयिनीमें महाकालका पूजन धर्मार्थतया तथा कभी-कभी निजगृहमें भी फोकटरंजनोंके पौरोहित्यसे चण्डीयाग करवाते हैं. ऐसी कथा कर्णोपकर्ण तो सुनाई देती है. उसे यहां चर्चाका विषय न बनाना ही ठीक है). तब भी इतना तो विचारणीय है ही कि रुद्र-कालीके पूजकोंका देवलक होना रुद्र-कालीआदि देवताओंको इष्टदेव बनानेके अपराधवश नहीं है. क्योंकि शैवशास्त्रोंमें शैवोंकेलिये वह विहित है. बालबोध तथा सर्वनिर्णय निबन्धादि ग्रन्थोंमें भी इनकी ब्रह्मबुद्धिसे आराधनाको निर्दुष्ट कहा ही है. परन्तु पांचरात्रविधानज्ञ वैष्णवोंद्वारा जब वृत्त्यर्थ इनका पूजन किया जाता है तो वह आर्षेयोक्तविधानानुसारी नहीं होता. अतः ऐसी अवैदिकवृत्ति ही उनके पूजनप्रकारमें देवलकत्वापादक दोष पैदा करती है - यह स्वीकारना पड़ेगा. ऐसी स्थितिमें पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणाली भी, क्योंकि वेदविहित तो है नहीं अतः अवैदिक ही हुई. अतएव ''यस्तु वेदोदितं धर्मं त्यक्त्वा विष्णुं समर्चयेत् स पाषण्डित्वमापन्नो नरकं प्रतिपद्यते''(बृहद् हारीतस्मृ.)के अनुसार पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणाली, जो ब्राह्मणवृत्तितया वेदविहित नहीं है, उसे वृत्त्यर्थ करनेपर हम गोस्वामिओंमें शुद्धदेवलकत्व भी सिद्ध क्यों नहीं हो सकता - यह विमर्शकारको विचारना चाहिये था!

न तो हम गोस्वामी ऋषिप्रोक्त वैदिक विधानसे भगवत्सेवा करते हैं कि स्मृतिमुक्ताफलोक्त ''आर्षेयोक्तविधाने तु देवलत्वं न विद्यते तस्मात्सर्वप्रयत्नेन वैदिकेनैव पूजयेत्'' (विमर्श पृ.४२) वचन हमें देवलक सिद्ध होनेसे बचा पाये.

न ''पञ्चरात्रसिद्धदीक्षासंस्कारविरहितानां ब्राह्मणानां देवकोशोपजीवन-वृत्त्यर्थपूजनादिकम् उपब्राह्मणत्व-देवलकत्वावहम् इति निश्चीयते'' (विमर्श पृ.४७) यह आगमप्रामाण्यवचन ही हम गोस्वामिओंको देवलक सिद्ध होनेसे बचा पाता है. क्योंकि पांचरात्रदीक्षाविधिके अनुसार हमें आचार्यपद मिला नहीं है. देवकोश तो नाथद्वारामें 'कृष्णभण्डार'नामसे ही सिद्ध हो जाता है. अन्यत्र

ठाकुरजीके नामोंकी रसीद फाड़नेसे सिद्ध होता है. तब ऐसे भण्डारोंमेंसे भोग धरी सामग्रीका प्रसाद लेनेसे देवकोशोपजीवन भी सिद्ध हो ही जाता है. ठाकुरजीके नामकी भेंट-सामग्रीकी रसीद फाड़नेके कारण नित्य तथा मनोरथ की सेवाकेलिये दर्शनार्थीजनसे द्रव्य ऐंठनेके कारण वृत्त्यर्थपूजन भी हम कर रहें ही हैं. (अन्यथा विमर्श प्रकाशित करनेकी भी आवश्यकता नहीं थी). फलतः आगमप्रामाण्यके वचनद्वारा भी हम गोस्वामी उपब्राह्मण देवलक सिद्ध हो रहे हैं.

विमर्श पृ.४९ पर ''मनुष्यस्थापित देवतास्थलमें देवलकता''शीर्षकके अन्तर्गत ''इदं मनुष्यस्थापितदेवताविषयमिति भाति'' धर्मसिन्धुके वचनका ''मज्जतः फेनावलम्बनम्'' किया है. परन्तु 'सन्मनुष्याकृति'में 'श्रीकृष्णास्य-अपरकृष्णावतार' महाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा पुष्ट किये स्वरूपोंको मनुष्यस्थापित न भी मानें तो भी अन्य अनेकानेक स्वरूपोंकी जनतासे भेंट-सामग्री लेकर चलाई जाती हवेलियां हमारी देवलकताका ही कीर्तन गा रही हैं.उन्हें कैसे चुप करना ! यदि हम अपने सभी गोस्वामिओंको पुरुषोत्तमभावसे मण्डित होनेके कारण किसी भी गोस्वामिद्वारा पुष्ट किये स्वरूपको मनुष्यस्थापित नहीं मानते तो रुद्र-कालीपूजक भी अपने-अपने गुरुओंको मनुष्य न मानकर शिवावतारतया मान्य कर अदेवलक सिद्ध हो जायेंगें !

''देवलकसम्बन्धी वृद्धहारीतस्मृतिके वाक्य'' (विमर्श पृ. ५०) शीर्षकके अन्तर्गत तथा तन्मूलक '''वैखानस'शब्दार्थपर पांच प्रकारके सम्भावित पक्ष'' (विमर्श पृ.५१) शीर्षकोंके अन्तर्गत किया गया समूचा प्रतिपादन ''चोरी करके चोरके भग जानेपर चपरासीके जग जाने'' जैसी बात है. क्योंकि वृद्धहारीतने अपना फैंसला सुना ही रखा है कि रुद्र-कालीके वृत्त्यर्थी पूजक ही नहीं अपितु विष्णुके भी पूजक जब अवैदिकविधिसे विष्णुपूजन करते हों तो उन्हें पाषण्डी नरकगामी मानना चाहिये. इस वृद्धहारीतस्मृतिद्वारा प्रदत्त श्रापसे बचनेका एकमात्र उपाय यही सम्भव था कि यह अवैदिकविधिसे वृत्त्यर्थ विष्णुपूजकोंकेलिये कही गई बात है. अतः पुष्टिमार्गीय पूजाप्रकारपर लागू नहीं होती. सो वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाकी वकालतद्वारा स्वयं विमर्शकारने हम

गोस्वामिओंद्वारा की जाती सेवा वृत्त्यर्थ है इस पापांगीकारके चोरको पुष्टिभावोंकी चोरी करके भाग जानेकी खुली छूट दे ही दी है !

फिर ‘‘यस्तु वेदोदितं धर्मं त्यक्त्वा विष्णुं समर्चयेत् स पाषण्डित्वमापन्नो नरकं प्रतिपद्यते’’ तथा ‘‘आर्षेयोक्तविधानेन देवलत्वं न विद्यते तस्मात् सर्वप्रयत्नेन वैदिकेनैव पूजयेत् वैदिकेनैव विधिना दम्भलोभविवर्जितः पूजयेद् भक्तितो विष्णुं स हि देवलको न वै’’ ( विमर्श पृ.४० ) वचनोंके साथ समन्वय करनेपर ‘‘वैखानसास्तु ये विप्राः हरिपूजनतत्परा: न ते देवलकाः ज्ञेयाः हरिपादाब्जसंश्रयात्’’ ( विमर्श पृ.५० ) वचनगत ‘हरिपूजनतत्परा:’में ‘वैदिकेनैव विधानेन हरिपूजनतत्परा:’ अर्थ विवक्षित है ऐसे स्वीकारना पड़ेगा. इसे स्वीकारते ही ‘वैखानस’ शब्दकी पांच या पचीस जितनी भी अर्थसम्भावनायें हों, बनी रहें; वे हमें देवलकतासे बचा नहीं पाती है. अतएव ये सारेके सारे पक्ष भी चोरके भग जानेपर चपरासीके जग जानेकी वार्ता है ! तासों कहां तांई कहिये !

‘वैखानस’शब्दके अर्थोंको समझनेकेलिये जितने पक्ष सम्भावित हैं और जितने करतब दिखाने थे उन्हें दिखानेसे पहले एकबार स्वयं महाप्रभुसे विमर्शकारने पूछ लिया होता कि उन्हें इस ‘वैखानस’शब्दसे कौनसा अर्थ विवक्षित है तो इतनी स्याही और समय की व्यर्थ ही बरबादी न होती !

‘‘ ‘वैखानसा’इति विखानसा ब्रह्मणा यानि भगवद्‌भजनादीनि वैखानससूत्रे उपदिष्टानि, वने स्थित्वा तत्कर्मकर्तारो वैखानसाः दैवाद् आगतवृत्तिजीविनः’’ (सुबो. ३।१२।४२). अर्थात् विखनस = ब्रह्माजीने भगवद्‌भजनादिके जिन वैखानससूत्रोंका उपदेश दिया है तदनुसार वनमें रहकर दैवाद् आगतवृत्तिपर अवलम्बित होकर भजनादिकर्म करनेवाले ‘वैखानस’ कहे जाते हैं. इस सुपरिभाषित एक अर्थमें विमर्शकारद्वारा उत्प्रेक्षित पांचमेंसे चार पक्ष तो एकवद्‌भावापन्न हो ही जातें हैं.

पांचवे पक्षमें यह विचारणीय हो जाता है कि वैखानसोंको उद्देश्य बनाकर अदेवलकताका विधान विमर्शकारको अभीष्ट है अथवा अदेवलकोंको उद्देश्य बनाकर वैखानसताका विधान ?

अर्थात् ''जो-जो वैखानस होते हैं वे अदेवलक होते हैं'' ऐसा व्याप्तिनियम है या ''जो जो अदेवलक होते हैं वे सभी वैखानस होते हैं'' ऐसा ? प्रथमकल्पमें कोई वैखानस दम्भ-पाषण्ड-हिंसादि दुर्वृत्तिशील भी वृत्त्यर्थ हरिभजन करता होगा तब भी उसे अदेवलक ही स्वीकारना पड़ेगा. द्वितीय कल्पमें चार्वाक-जैन-बौद्ध-मुसलमान-ईसाई-यहूदी ही नहीं अपितु गोगर्दभगजादि पशुओंको भी वे वैखानस हैं - ऐसे स्वीकारना पड़ेगा.

इस उभयतःपाशसे बचनेकेलिये उक्तविधानोंको व्याप्तिघटित न मानकर अव्याप्तिघटित भी माना जा सकता है. अर्थात् ''कुछ वैखानस देवलक नहीं होते''. (चाहें कुछ अन्य होते भी हों) तब पुनः सभी वैखानस अदेवलक नहीं होंगें. अतः वृत्त्यर्थ हरिभजनमें तत्पर हम गोस्वामी भी चाहे ''ये नखाः ते वैखानसाः'' वचनका 'वैष्णव' अर्थ कथञ्चित् खींच-तानकर निकाल भी लें तब भी बच नहीं पायेंगें. अतः ''वैखानसास्तु ये प्रोक्ता हरिपूजनतत्पराः न ते देवलका ज्ञेया'' (विमर्श पृ.५३) के वृद्धहारीतवचनके साथ समन्वयके सरकसद्वारा गोस्वामिओंकी अदेवलकताके प्रयासकी भ्रूणहत्या तो हो ही जाती है. क्योंकि विधान स्वयं व्याप्तिनियमघटित नहीं है !

(६) जो बात स्वार्थप्रतिष्ठापित देवप्रतिमाके वृत्त्यर्थ-स्वतः-परार्थ-पूजनके बारेमें कही गई है वह परतः परार्थपूजन करनेपर तो और भी अधिक गर्हणीय बन जायेगी. प्रायः जिन हमारी हवेलिओंमें हम नहीं रहते हैं वहां हमारे माथे बिराजते भगवत्स्वरूपोंकी सेवा उस गामकी दर्शनार्थिजनताके द्रव्यसे मुखिया-भीतरिया-बालभोगियादिकी बटालियनोंसे करवाते हैं. या समाधानीद्वारा अथवा ट्रस्टिओंद्वारा हम परतः करवाते हैं. यह तो बिचारे शास्त्र भी सोच नहीं पाये कि हॅडक्वार्टर जैसे मन्दिरोंकी ब्रान्च जैसे मन्दिरोंद्वारा भी देवलकताकी आजीविकाका व्यापार इतना कभी पनप जायेगा ! अतः ''एकविज्ञानेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति'' न्यायसे अधिक विवेचनकी अपेक्षा नहीं है.

(७) परार्थप्रतिष्ठापित देवविग्रहका स्वतो वृत्तिरूप याजन (४)कल्पका

पूरक है. तन्त्रशास्त्रानुमोदित ब्राह्मणवृत्ति है. विमर्शकार इस बारेके वचनोंको ही (५) और (६) कल्पके समर्थनार्थ दुरुपयोग कर रहे हैं. यह विशोधन हमने सुविशदतया कर ही लिया है.

(८) इस कल्पकी भी सूचना, जहांतक मेरी समझका सवाल है, शास्त्रमें मिलती नहीं है. वैसे अगाध अपार शास्त्रविस्तारमें केवल मेरी समझपर ही अवलम्बित होकर उत्प्रेक्षा करनेके बजाय यावद्वचनोपलब्धि धैर्यधारण ही एक उपाय लगता है. वेसे इसका स्वरूप कुछ कुछ हमारे यहां पंड्याजीके द्वारा जैसे उपाध्यायजी कर्म करवाते हैं वैसा है. इसमें ब्राह्मणवृत्तितया दोष दिखलाई नहीं देता परन्तु आधुनिक अनेक पुष्टिमार्गीय हवेलिओं बैठकजी आदिसे आती भेंट और मन्दिरोंमें आती सन्मुखभेंट बटोरनेवाले झापटियाजीकी नियुक्ति भी ठेकेपर की जाती है. ऐसे ठेकेसे आती भेंटके प्रकार भी हैं ही. अतः देवद्रव्यकी साक्षात् लाभहानि उन्हीं ठेकेदारोंको होती है. हम गोस्वामी अपना ठेका लेकर अपना लाभ सुरक्षित कर लेते हैं. यह तो शास्त्रकी कल्पनाके भी बहिर्भूत भगवद्भजनका एक विचित्र आधुनिक प्रकार है. यह अत्यन्त विलक्षण प्रकार है. शास्त्रकारसदृश ''गजाः यत्र मौनावलम्बनेन पलायन्ते तत्र मादृशानां मशकोपमानां तु का कथा !''

इस सारणीके आधारपर आठों कल्पोंके विचारके बाद अब अवशिष्ट रहता है विमर्शकारद्वारा पृष्ठ ४३-४७पर उद्धृत वचनोंका विचार.

तदन्तर्गत सर्वप्रथम पाद्मसंहिता चर्यापादके २१वें अध्यायके १३-२४ श्लोकोंके अन्तर्गत -

**पञ्चकालं यथाशास्त्रं गृहे वा मन्दिरेऽपि वा ।**
**भगवत्पूजनं कार्यमद्यप्रभृति नान्यथा ।।**
**यूयं भागवतास्तेन जाता भगवदर्चनात् ।**
**भगवद्भक्तिकरणाद् वंशजाताश्चतुर्मुख ।।**
**आत्मार्थं यजनं विष्णोः कल्पतेऽभ्युदयावहम् ।**
**तथा परार्थयजनं ग्रामे वा पत्तने पुरे ।।**
**स्वगृहे वा स्वतन्त्रे वा कार्यं भागवतैः नरैः ।**
**आत्मनश्च परेषां तन्निःश्रेयसकृद् भवेत् ।।**

**अभागवतवंशैस्तु दीक्षितैरपि मानवैः ।**
**आत्मार्थमेव यजनं न परार्थं कदाचन ।।**
**परार्थयजनं तेषां गर्हितं विप्रसत्तमाः ।**
**अभागवतवंश्योपि दीक्षितः शास्त्रवर्त्मना ।।**
**परार्थयजनं कुर्याद् अपि भागवताज्ञया ।**

आदि वचनोंमें कहा है कि आत्मार्थ यजन स्वधर्मरूप है तथा परार्थ यजन ब्राह्मणकी आजीविका है. जो बात यहां मोहवशात् कभी भी सोचनी नहीं चाहिये वह यही है कि आत्मार्थ यजनको परार्थ नहीं बनाना अर्थात् धर्मको आजीविका नहीं बनाना चाहिये. इसी तरह परार्थ यजनको आत्मार्थ मानकर सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये. अर्थात् आजीविकाको धर्मकी पदवीपर 'सेव्यसुखजनक भजन' जैसे शब्दाडम्बरों द्वारा प्रतिष्ठापित नहीं कर देना चाहिये. साथ ही साथ यह भी नितान्त अवधेय है कि 'भागवतवंश' शब्द सामान्य प्रयोग नहीं परन्तु पारिभाषिक प्रयोग ही है. जैसे कि हमने देख लिया है कि समयी दीक्षित चक्रवर्ती अभिक्ति आचार्य और भगवान –ये उत्तरोत्तर उत्कृष्ट पदवियां हैं. इनमें भगवान पदवीधारिओंके पुत्र 'भागवत' कहे जाते हैं और उनके वंशको 'भागवतवंश' कहा जाता है. एतावता हम गोस्वामी अपने–आपको इस पारिभाषिक अर्थमें भागवतवंश मान नहीं सकते. अतः उन्हें मिली किसी भी तरहकी छूटके अधिकारी हम नहीं हो सकते. जैसे अवधूतचर्यामें विचरनेवाले परमहंसको दिगम्बर होनेकी जो छूट है वह हम गृहस्थिओंको मिल नहीं सकती.

अतएव स्वयं विमर्शकारद्वारा उद्धृत वचन यहां मननीय हैं –

**परार्थयजनं कुर्युः विप्रा मुख्यानुकल्पयोः ।**
**नैवाधिकारिणस्ते च गौणाः संस्कारवर्जिताः ।।**
**यथैव दीक्षिणीयेभ्यो जायन्ते ब्राह्मणादयः ।**
**तथैव दीक्षाविधिना जायमाना यथोदिताः ।।**
**पूजाविधौ भगवतः प्रकल्प्यन्तेऽधिकारिणः ।**

(पाद्मसंहि. चर्यापाद अ.१।७–९).

विमर्शकारका कर्तव्य था कि इन श्लोकोंका अनुवाद कमसे कम दे देते ताकि सारा चित्र साफ-साफ उभरकर सामने आ जाता. अनुवाद दिये बिना २१वें अध्यायकी १३-२४वीं कारिकाओंका प्रतिपाद्यविषय निर्भूमिक ही रहता है. विमर्शकारने छोड़ दिया है तो चलो हम इसे यहीं छोडकर आगे चलते हैं.

विमर्शके पृष्ठ ४४-४५ पर तन्त्रशास्त्रके उस पारिभाषिक 'भगवान' 'भागवत' 'भगवद्वंशजात' शब्दोंको सामान्य अर्थमें प्रयुक्त मान करके ''अनन्यशरण भगवद्भक्त उत्तम वैष्णव'' अनुवाद करनेकी बाललीलासे और अधिक हास्यास्पद कृत्य प्रकट किया है इन श्लोकोंके व्याख्यानमें. पहले श्लोक देख लें -

मूल : **भगवद्वंशजाता ये ते वै भागवता स्मृता ।**
**यद् यद् तैः विष्णवे दत्तं समन्त्रं वाप्यमन्त्रकम् ।।**
**शुचिभिः सर्वदा दक्षैः सदाप्यशुचिभिस्तु वा ।**
**तत्सर्वं आत्मसात्कृत्वा प्रीतो भवति केशवः ।।**
**आलयो हृदयं तेषां परमं परमात्मनः ।**
**तेनैव सर्वदा......................**
**तेषां सम्पूजनादेव पूजितो भगवान् भवेत् ।**
**................ज्ञेयास्ते वैष्णवोत्तमाः ।।**
**न दोषाय भवेत् तेषां भूत्यर्थमपि पूजनम् ।**
**प्राप्तौ च गतिमात्रं वै वेतनार्थं न पूजयेत् ।।**
**भूतिमूलं यजेद् देवं न रक्षापोषणं विना ।**

**भावानुवाद :** यथोक्तोक्त दीक्षाविधिके अनुसार जो 'भगवान' पदवीधारी हों उनके वंशजोंको भागवत समझना चाहिये. ये भागवत शुद्धिपूर्वक या शुद्धिके बिना ही मन्त्रके साथ या बिना मन्त्रके ही जो भी विष्णुको निवेदित करते हों उसे प्रीतिपूर्वक भगवान स्वीकारते ही हैं. (जैसे गोविन्दस्वामीको श्रीनाथजी जब घोड़ा बनाकर सवारी करते थे तब अशुचिकर मूत्रोत्सर्ग भी उन्होंने कर दिया था, इसी तरह जैसे

बजारकी जलेबी श्रीनाथजीको भोग धरी गई थी. या जैसे गोविन्दस्वामीने श्रीनाथजीको कंकड़ मारे, या जैसे कुम्भनदासजीको सूतकमें दर्शनकी आज्ञा दी गई.) इनके हृदयमें प्रभु बिराजते होनेसे इनका पूजन भगवत्पूजन ही होता है. (जैसे आशकरणदासजी या श्रीचैतन्य महाप्रभुको अनप्रसादी खिलाया गया). इन भागवतवंशजोंका वैभवयुक्त पूजनसे करनेसे भी इनमें कोई विकारदोष नहीं प्रकट होता. इनके द्वारा जब भगवत्पूजन करवाना हो तो इन्हें केवल वेतन देनेकी बुद्धिसे भगवत्पूजन न करे. क्योंकि सारी भूतिओंके (वैभवोंके) मूल भगवानका पूजन, इन भक्तोंके रक्षण-पोषण किये बिना नहीं करना चाहिये.

यही कारण था आशकरणजीको अनप्रसादी खिलानेपर श्रीनवनीतप्रियजीने दोबार राजभोग स्वीकारनेकी बात कही थी! परन्तु देवलकतामोहित विमर्शकार यहां विधान कर रहे हैं- ''यहां 'पूजयेयुः'के स्थानपर 'पूजयेत्' पदप्रयोग आर्ष है . . . यहां रक्षापोषणके बिना देवपूजा करनेका निषेध होनेसे उक्त वाक्य परार्थ पूजनसे ही सम्बन्धित है. इससे सिद्ध हुआ कि पांचरात्रागमज्ञ लोगोंके लिये वृत्त्यर्थ परार्थ भगवत्सेवा निषिद्ध नहीं परन्तु वेतनार्थ परार्थ भगवत्सेवा निषिद्ध है'' (विमर्श पृ.४५).

शान्तं पापं! शान्तं पापं!! कहांकी बात कहां जाकर भिड़ा दी है!!! इसे भी एक आर्षप्रयोग कहना चाहिये!

जब पूर्वपंक्तिमें- ''तेषां सम्पूजनादेव पूजितो भगवान् भवेत् सर्वावस्थायुतान् सर्वान् देवमुद्दिश्य पूजयेत्''द्वारा वाचनिक सन्दर्भ भगवत्पूजनका नहीं अपितु वैष्णवोत्तम भागवतोंके पूजनका ही है, तब अकस्मात् ''अनन्यशरणा भक्ता ज्ञेयास्ते वैष्णवोत्तमा न दोषाय भवेत् तेषां (कर्मणि षष्ठी है, कर्तरि षष्ठी नहीं!) भूत्यर्थमपि पूजनम्'' देवपूजनविधि कैसे सिद्ध हो जायेगी! यहां अन्वय यों है: वैष्णवोत्तमानां भक्तानां वैष्णवेन कृतं भूत्यर्थमपि पूजनं दोषाय न भवेत्. 'पूजयेत्' क्रियापद यहां दो बार प्रयुक्त हुआ है. (१) ''सर्वावस्थायुतान् सर्वान् (तान् भागवतान्) देवमुद्दिश्य पूजयेत्''. (२) ''प्राप्तौ च गतिमात्रं वै वेतनार्थं न

पूजयेत्''. यहां दोनों क्रियापदोंमें एकवचन प्रयुक्त हुआ है और इसका कर्ता सामान्य वैष्णव है, उल्लिखित बहुवचननिर्दिष्ट भागवत नहीं. इसी तरह ''तेषां भागवतानां रक्षापोषणं विना भूतिमूलं देवं न यजेत्''में भी एकवचननिर्दिष्ट कर्ता सामान्य वैष्णव ही है, वे भागवत नहीं. परन्तु पित्तविकारवश जब श्वेतशंख भी पितिमायुक्त दिखलाई देता है तो वह रोगस्वभावजन्य विवशता है– ''स्वभावस्यान्यथाभावो न वै शक्यः कथञ्चन'' !

इसके बाद आगमप्रामाण्यके वचनोंके उद्धरणोंमें भी श्लोकमें कहा है:''केचित् यदि परं सन्तः शाश्वतावृत्तिकर्शिताः याजयन्ति महाभागैः वैष्णवैः वृत्तिकारणात्, न तावतैषां ब्राह्मण्यं शक्यं नास्तीति भाषितुम्, न खल्वाध्वर्यवं कुर्वन् ज्योतिष्टोमे पतिष्यति, यदि न प्रतिगृह्णीयुः पूजैव विफला भवेत्, पूजासाद्गुण्यसिद्ध्यर्थम् अतः ते प्रतिगृह्णते.'' इस वचनका भाव यों है: कुछ भागवत याजनरूप आजीविकाके अंगतया पूजनकी दक्षिणाका द्रव्य लेते हैं (न कि स्वधर्मरूप यजनके अंगतया). क्योंकि यदि वे दक्षिणाका प्रतिग्रह न करते हों तो पूजा विफल हो जायेगी. यह विफलता यजनरूप धर्मकी विफलता है क्योंकि पूजार्थ वित्तजासेवा यजमानकी होती है और वाक्तनुजासेवा याजककी. अतः याजकद्वारा अनुष्ठित वाक्तनुजासेवाका दक्षिणाप्रदानद्वारा यजमान परिक्रय करता है ताकि पूजाफल यजमानको मिले. क्या पू.पा.गो.म.श्रीओंको भय सताता है कि उनका चित्त अपने माथे बिराजते ठाकुरजीमें कहीं चोंट न जाये! एतदर्थ उन्हें विवश होकर दर्शनार्थी जनतासे धन लेना पड़ता है? क्या ''यदि न प्रतिगृह्णीयुः सेवैव विफला भवेत् सेवासाद्गुण्यसिद्ध्यर्थमतस्ते (गोस्वामिनः) प्रतिगृह्णते'' श्लोक विमर्शकारकी विवक्षा है? अन्यथा पुष्टिमार्गीय तनुवित्तजा सेवामें तनुजा+वित्तजाको खीरकी कारणसामग्री माननेपर पराये वित्त लेनेकी आवश्यकता क्या है? सेव्यसुखजननकेलिये! तो क्या पद्मनाभदासजीके छोलासे उनके सेव्यको परिश्रम था? सेवकोंके उद्धारकेलिये! तो महाप्रभुने–प्रभुचरणने प्रत्येक ग्रामोंमे, जहां–जहां आप यात्राके अन्तर्गत पधारे, उद्धारार्थ हवेलियां क्यों नहीं खोली? इससे लगता है– उद्धारका यही एकमात्र उपाय तो नहीं होना चाहिये. यदि कहा जाये कि महाप्रभु एवं प्रभुचरण अकेले थे और आचार्यके सेव्यस्वरूपकी वित्तजा सेवाके बिना उद्धार नहीं हो सकता तो इसको प्रमाणित

करनेवाला आचार्यवचन कौनसा है ? यदि कहा जाये कि गुरु अव्यावृत्त होकर सेवा करते हैं अतः उनकी स्वधर्माचरणरूपा सेवा उनके सेव्यको अधिकाधिक सुखजनिका हो जाये एतदर्थ स्वार्थ भगवद्भजनमें परद्रव्य अंगीकाराई बनता है तो वह तो अपनी चरणभेंटसे या वैष्णवोंके घर बिराजते ठाकुरजीकी मुखियागिरी भीतरियागिरी बालभोगियागिरी दूधघरियागिरी फूलघरियागिरी शाकघरियागिरी कीर्तनियागिरी या पखावजियागिरी भी पू.पा.गो.म.श्री करते होते तो भी परार्थ यजनकी तरह शास्त्रानुमत होता ही. यदि वैष्णवोंके माथे बिराजते ठाकुरजी वैष्णवके उद्धारार्थ हैं, पू.पा.गो.म.श्रीओंके उद्धारार्थ नहीं, तब पू.पा.गो.म.श्रीके माथे बिराजते ठाकुरजी भी पू.पा.गो.म.श्रीओंके ही उद्धारार्थ होने चाहिये, वैष्णवोंके उद्धारार्थ नहीं. पू.पा.गो.म.श्रीओंके ठाकुरजी स्वयं गुरुके तथा वैष्णवोंके दोनोंके उद्धारार्थ हैं अतः वैष्णवोंसे द्रव्य लेना पड़ता हो तो जिनके स्वयंके माथे सेवा बिराजती हो, कमसे कम, ऐसे वैष्णवोंसे तो द्रव्य नहीं लेना चाहिये !

बालकबुद्धिप्रसूत इन सारी युक्तिओंके मूलमें श्रीयामुनेयाचार्यजीके ''ऋत्विजा धनलुब्धेन स्वयं याञ्चापुरस्सरम् यदार्त्विज्यं कृतं कर्म तदैव हि निषिद्ध्यते'' वचनद्वारा प्रतिषिद्ध निषिद्धाचरणकी दुर्वृत्ति ही काम करती दिखलाई देती है.

कुछ अपठित गोस्वामी विधान करते हैं कि निजघरमें ठाकुरजीकी सेवा करनेसे वैष्णवोंको रासस्थ गोपिओंकी तरह सौभाग्यमद पनप सकता है, ऐसा कि जिससे स्वयं भगवानको ही तिरोहित होना पड़े. अतः दैन्यभावके निर्वाहार्थ सार्वजनिक हवेलिओंमें वैभवके साथ बिराजते ठाकुरजीके दर्शन करनेका विप्रयोग तथा दर्शनके समय गोस्वामिओंके भण्डारोमें अधिक वैभवकी अभिवृद्धिकेलिये भेंट-सामग्री जमा कराते रहना चाहिये (ताकि अधिकाधिक वैभवके साथ बिराजते ठाकुरजीका अधिकाधिक विरह होता रहे और दैन्य बढ़ता रहे !). परन्तु इस नियमके सच होनेपर सर्वप्रथम गोस्वामिओंको अपनी हवेलीमें सेवा बन्द करके सर्वाधिक वैभवके साथ बिराजते श्रीनाथजीका विरह करना चाहिये. अन्यथा गोस्वामिओंमें भी सौभाग्यमदके प्रकट होनेपर श्री बढ़ेगी परन्तु

श्रीनाथके तिरोहित होनेकी सम्भावना रहती है! अतः ऐसे अनर्गलप्रलापकी अधिक क्या चर्चा करनी ?

कुल मिलाकर इस तरह तन्त्रशास्त्रके अनुसार भी गोस्वामिवर्ग आज जिस तरह दर्शनार्थिवर्गसे रुपये ऐंठ रहा है उसे धर्म्य नहीं कहा जा सकता है – यह सिद्ध हुआ.

इसके बाद अब हमें साम्प्रदायिक ग्रन्थोक्त निर्देशोंके विचारपूर्वक क्या साम्प्रदायिक गुरुत्वके अन्तर्गत वृत्त्यर्थ भगवद्भजन धर्म्य हो सकता है ? – इस प्रश्नके समाधानको खोजनेको आगे बढ़ना है.

*

## *सिद्धान्तसार*

**यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सो अधमः इति.**

– सुबो. २।९।१९.

**जो स्वार्थ (वृत्त्यर्थ भूत्यर्थ प्रतिष्ठार्थ) भगवत्सेवन करता हो उसे अधम (अर्चक) समझना चाहिये.**

– महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य.

***

# साम्प्रदायिक गुरुत्व

**मूल :**

**(क)**

**नमः पितृपदाम्भोजरेणुभ्यो यन्निवेदनात् ।**
**अस्मत्कुलं निष्कलंकं श्रीकृष्णेनात्मसात्कृतम् ।।**

(ललि. त्रिभं. स्तो. १).

**भुवि भक्तिप्रचारैक कृते स्वान्वयकृत्पिता ।**
**स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्यः स्मयापहः ।।**

(सर्वो. स्तो.).

**(ख)**

**माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम् ।**
**शास्त्राणामुपयोगोऽत्र तत्राकांक्षा गुरोर्भवेत् ।।**
**कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम् ।**
**श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादरात् ।।**
**देहद्रोण्या यियासूनां परं पारं भवाम्बुधेः ।**
**गुरुणा कर्णधारेण उत्तार्या स्वोपदेशतः ।।**

(साध. दीपि. ९-११).

**(ग)**

**गुरुश्च भक्तिमार्गीयः कृष्णसेवापरायणः ।**
**श्रीभागवततत्त्वज्ञो दम्भादिरहितो नरः ।।**
**तदभावे तथाभूतोपदेशोऽत्र नियामकः ।**
**अथाधुनिकतीर्थानामतथाभूततोपि हि ।।**
**उपदेशस्तथाभूतगुरोरिव फलिष्यति ।**
**यदि दुःसंगदोषेण नान्यथा चेद् भवेन्मतिः ।।**

(स्व. शर. सम. से. स्वरू. निरू. ४९-५१).

**अदम्भः सर्वथापेक्षारहितः करुणापरः ।**
**विचार्य वरणं श्रीमदाचार्यपदसंश्रयः ।।**
**स्वसेवकाय शुद्धाय सततं प्रयतात्मने ।**
**प्रयच्छेत् तत्स्वरूपं तु फलरूपतया पुनः ।।**

(स्वमा. स्वरू. स्था. प्रका. १६-१७).

**(घ)**

''एवं धनस्यापि भगवद्भक्तेषु आनत्यर्थं श्रवणादिसिद्ध्यर्थम् उपदेशनार्थं वा देयम् अपेक्ष्यते. साधनरूपश्रवणादिकं तादृशैरेव भवति'' (सुबो. २।३।३) इति तत्रापि धनदातुः सत्फलं प्रतिगृहीतुस्तु संसारोत्पत्तिः ''भिक्षाशया'' ( ) इतिवाक्यात्. यदि तु तत्त्वविचारार्थम् उदरभरणोपयोग्यन्नमात्रं गृह्णाति तदा तु तीर्थपर्यटितृवत् न दोषः इति बोध्यम् . . . ननु ब्रह्मवैवर्तेश्रीकृष्णजन्मखण्डे ''कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमंगलं कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिता'' इति ब्रह्माणं प्रति पृथिवीवाक्यात्, ''मन्नामविक्रयी विप्रो न हि मुक्तो भवेद् ध्रुवं मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते'' श्रीनन्दं प्रति भगवद्वाक्यात् च नामविक्रयस्य दोषत्वे शिष्येभ्यो भगवन्नामोपदेशस्यापि दोषत्वापत्तिः. तत्र शिष्योपढौकितग्रहणेन नामविक्रयसम्भवाद् इति चेत् सत्यम्. तथापि गुरुत्वस्य साहजिकब्राह्मणवृत्तित्वेन अत्याज्यत्वात्..श्रुतावपि...जनकेन ''हस्त्यृषभसहस्रं ददामि'' इति उक्ते याज्ञवल्क्येन ''पिता मे मन्यत नाननुशिष्य (वित्तं) हरेद्'' इति उक्त्वा पूर्णा ब्रह्मविद्या उपदिष्टा . . . किञ्च गीतायामेव सहजकर्मात्यागम् उक्त्वा...असक्तबुद्धित्वादिभिः तत्कर्मसंन्यासेन नैष्कर्म्यसिद्धिप्राप्तिं कथयता भगवता तद्दोषपरिहारस्य उक्तत्वात् च तथाकरणे दोषाभावाद् इति. एवञ्च यत् प्रभुचरणैः उक्तं ''विचार्यैव सदा देयं कृष्णनामविशेषतः अविचारितदानेन स्वयं दाता विनश्यति'' इति तत्रापि स्वस्य शिष्यस्य च उद्धारं विचार्यैव देयम्. लोभाद् अविचारितदाने तु नामविक्रयापत्त्या दाता स्वयम् अपराधभाग् भवति.

(श्रीपुरु.कृत जलभेदविवृति ३-४).

तेन गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति. युक्तं च एतत्, अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसंजनात्. किञ्च ऋतोत्तरम् अमृताख्यायाः अयाचितवृत्तेः उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्य तु -एवं संकोचे तस्यामपि प्रशस्तत्वसिद्धिः.

(श्रीपुरु.कृत स्ववृत्तिवाद).

गुरुणा वेशादिना मार्गरुचिं परीक्ष्य जिज्ञासां च अवगत्य प्रश्नान्तरं सेवादिकम् (न तु वृत्त्यर्थं प्रदर्शितव्यं किन्तु) उपदेष्टव्यम् इति.

(त.दी.नि. सर्वनि. आव.भं.२५५-२५६).

**(ङ)**

**यो वदत्यन्यथावाक्यम् आचार्यवचनाज्जनः ।**
**संसृतिप्रेरको वापि तत्संगो दुष्टसंगमः ।।**
**यश्च कृष्णे रतिर्नित्यं बोधयत्यप्रयोजनाम् ।**
**निरपेक्षः सात्त्विकश्च तत्संगः साधुसंगमः ।।**
**एवं निश्चित्य सर्वेषु स्वीयेष्वन्येषु वा पुनः ।**
**महत्कुलप्रसूतेषु कर्तव्यः संगनिर्णयः ।।**
**श्रीमदाचार्यचरणे मतिः स्थाप्या सदा स्वतः ।**
**ततएव स्वकीयानां सिद्धिः कार्यस्य सर्वदा ।।**

(शिक्षापत्र ३।९-११).

**अनुवाद: (क)** जिन महाप्रभुके द्वारा श्रीकृष्णको निवेदित करनेके कारण श्रीकृष्णने अंगीकार करके हमारे कुलको निष्कलंक बनाया ऐसे महाप्रभुके चरणकमलोंकी रेणुओंको मेरे नमस्कार! (ललि. त्रिभं. स्तो.).

भूतलपर पुष्टिजीवोंकेलिये पुष्टिभक्तिके प्रचार करनेके हेतुसे ही मेरे पिता महाप्रभुने पुष्टिमार्गके प्रवर्तनके साथ-साथ स्ववंशको भी प्रकट किया. एतदर्थ अपना अशेषमाहात्म्य अपने वंशमें स्थापित किया. अतएव किसीको भी स्मय करनेका कोई कारण नहीं रहने दिया है (सर्वो. स्तो.).

(ख) भगवन्माहात्म्यके ज्ञापनार्थ भगवानके गुण-कर्मोंका श्रवण कराना पड़ता है, इसीलिये शास्त्रोंकी उपयोगिता है. शास्त्रोंके इस ज्ञानकेलिये गुरुकी आकांक्षा रहती है. कृष्णसेवापर दम्भादिरहित श्रीभागवततत्त्वज्ञ जो हो ऐसे नरका गुरुके रूपमें सादर भजन करना चाहिये. इस देहकी डोंगीसे भवसागरके जो पार उतरना चाहते हों उन्हें गुरु अपने सदुपदेशद्वारा कर्णधार बनकर पार पहुंचाये (साध. दीपि.).

(ग) गुरु भक्तिमार्गीय कृष्णसेवापरायण श्रीभागवततत्त्वज्ञ दम्भादिरहित नर होना चाहिये. ऐसा गुरु न मिलता हो तो ऐसे महाप्रभुके उपदेशको ही इस भक्तिमार्गपर अपना नियामक मान कर प्रवृत्त हो जाना चाहिये. आधुनिक गुरुपदाधिष्ठितोंमें यदि यह लक्षण दिखलाई न भी देते हों तो भी, यदि महाप्रभुके वास्तविक सिद्धान्तोंका उपदेश वे करते हों तो, वैसे लक्षणवाले गुरुके उपदेशकी तरह ही फलीभूत होगा. शर्त उसमें यही है कि दुःसंगदोषसे मति अन्यथा न हो गई हो तो. (स्व.शर.सम.से.स्व.निरू.).

किसी भी तरहके दम्भके बिना - किसी तरहकी अपेक्षा रखे बिना श्रीआचार्यप्रकटित मार्गमें इस जीवका वरण हुआ है बस इसी एक करुणाके भावको रखते हुए -आचार्यचरणके दृढ आश्रयको मनमें रखकर पुष्टिभक्तिमार्गपर सतत प्रयत्नपूर्वक अग्रसर होना चाहनेवाले अपने शुद्ध सेवकको पुष्टिभक्तिके फलरूपतया पुष्ट किया हुआ स्वरूप पधरा देना चाहिये. (स्वमा.स्वरू.स्था.प्रका.).

(घ) ‘‘भगवद्भक्तोंको नमनार्थ, वे उपदेश प्रदान करें एतदर्थ, श्रवणादिभक्ति सिद्ध हो पाये एतदर्थ भी धनकी अपेक्षा तो रहती है. साधनरूप श्रवण तो इसी तरह होता है’’ (सुबो. २।३।३) -इस वचनके अनुसार भी धनदाताको सत्फल होता है परन्तु धनप्रतिगृहीताको संसार ही बढ़ता है. ‘‘भिक्षाशया’’ ( )वचनके आधारपर तीर्थपर्यटननियमकी तरह तत्त्वविचारार्थ केवल उदरभरणोपयोगी मात्र

अन्नका यदि प्रतिग्रह किया जाता हो तो दोष नहीं होता . . . ब्रह्मवैवर्तके श्रीकृष्णजन्मखण्डमें ''भगवानके मंगलमय नामोंका जो विक्रय करते हैं उनके भारसे पृथ्वी पीड़ित रहती है'' ब्रह्माजीके प्रति पृथ्वीके वचन तथा ''मेरे नामका विक्रय करनेवाला विप्र कभी मुक्त नहीं हो सकता. मरते समय भी ऐसोंको मेरा नाम कभी याद आ नहीं सकता'' ऐसे श्रीनन्दरायजीके प्रति भगवद्वचनके आधारपर नामविक्रयके दोषरूप होनेसे शिष्यको नामोपदेश करना भी दोषरूप बन जायेगा, क्योंकि शिष्योंद्वारा धरी गई भेंट स्वीकारनेपर भी नामविक्रयकी सम्भावना हो सकती है. ऐसी शंका यदि उठती है तो वह एक हकीकत है. (श्रीपुरुषोत्तमजीने ''इति चेत् न'' कहनेके बजाय ''इति चेत् सत्यम्'' कहा है). फिर भी गुरुत्व ब्राह्मणकी साहजिकवृत्ति होनेसे इसे छोड़ी नहीं जा सकती. श्रुतिमें भी...जनकने याज्ञवल्क्यको दान देना चाहा तब याज्ञवल्क्यने यही कहा कि मेरे पिताने मुझे यह समझाया है कि ''उपदेश दिये बिना किसीका वित्त नहीं हर लेना चाहिये''. यह कहकर ब्रह्मविद्याका उपदेश किया . . . गीतामें सहजकर्मोंका त्याग न करनेकी बात कहकर...अनासक्तबुद्धिसे कर्म करना ही सच्चा कर्मसंन्यास है जिससे नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होती है – ऐसा कहा है. अतः गुरुत्वकी वृत्ति भी अनासक्तबुद्धिसे करनेपर दोष नहीं लगेगा. इसी तरह प्रभुचरणकी ''दान सर्वदा पात्रापात्रके विचारपूर्वक ही करना चाहिये. विशेषतः 'कृष्ण'नामका दान तो, क्योंकि बिना पात्रापात्रके विचार किये हर किसीको नामदीक्षा देनेपर दीक्षादाताका स्वयंका विनाश हो जाता है'' इस आज्ञाके अनुसार भी अपने तथा शिष्यके स्वस्वकर्तव्यपालनद्वारा ही केवल उद्धार सम्भव है, अन्यथा नहीं – इसी विचारसे नामदीक्षाका प्रदान करना चाहिये. लोभवश (हर किसीको 'श्रीकृष्ण'नामकी दीक्षा देकर गलेमें कण्ठी बांधकर भेंट–सामग्री धरनेवाले मोड़ा पैदा करनेके चक्करमें) तो नामविक्रय होता ही है और देनेवाला अपराधी बनता ही है. (श्रीपुरु.कृत. जलभेदविवृति).

इससे ( अर्थात् कलियुगमें याजनवृत्तिका आदर्शरूपमें निर्वाह सुकर नहीं रह गया होनेसे ) गुरुत्व ही केवल वृत्ति बची रह गई है. यह उचित भी है क्योंकि किसीका कुछ भी उपकार किये बिना निरर्थक धन ले लेनेसे उसका ऋणी बनना पड़ता है, जो बन्धनकारी होता है. वैसे भी ऋतवृत्तिके बाद बिना मांगे जो मिले उससे निर्वाह चलानेकी अमृतवृत्ति अपनानेको कहा गया है. इस अमृता वृत्तिको भी बिना मांगे जो अपने शिष्योंसे मिलता हो उसीसे निर्वाह चलानेका, अर्थात् जो अपने शिष्य न हों उनका धन न लेनेका व्रत रखना ही प्रशस्तवृत्ति है. ( स्ववृत्तिवाद ).

गुरुको चाहिये कि वेश–भाषा–व्यवहार–भाव आदिद्वारा आनेवाले व्यक्तिकी पुष्टिमार्गमें रुचि है कि नहीं –यह अच्छी तरह परीक्षा कर लेनेपर तथा आनेवाला सचमुचमें जिज्ञासु है यह जान लेनेपर उसके प्रश्नके अनुरूप उसे सेवादिक ( वृत्त्यर्थ प्रदर्शन नहीं प्रत्युत केवल ) उपदेश करना चाहिये. ( त.दी.नि. सर्वनि. २५५–२५६ ).

(ङ) जो महाप्रभु–प्रभुचरणके वचनोंसे ( तनुवित्तजाकी जगह तनुजा + वित्तजा जैसी ) विपरीत कोई बात करता हो, या सांसारिकताको बढ़ानेकी बात करता हो ( जैसे आधुनिक कई अपठित गोस्वामी आजकल कहते हैं– घरमें सेवा करनेसे गर्व हो जायेगा सो रासलीलाकी तरह भगवान छिप जायेंगे, अतः मन्दिरमें दर्शन करने आनेकी विरहोत्कण्ठा रखनी चाहिये. ताकि भेंट–सामग्रीकी उनकी दुकान चलती रहे ! परन्तु इस विधानमें यदि सत्यनिष्ठा हो तो स्वयं गोस्वामी क्यों भगवत्सेवा छोड़कर दर्शनविरहोत्कण्ठा बढ़ाते नहीं है ? ) ऐसोंका संग दुष्टसंग होता है. जो अपने निजी स्वार्थके बिना कृष्णभक्तिका बोध प्रदान करता हो, जो स्वयं निरपेक्ष ( वृत्त्यर्थी या कीर्त्यर्थी नहीं ) हो तथा ( इस निरपेक्षतावश अहंकारी न होकर ) सात्त्विक हो उसका संग साधुसंग होता है. इन बातोंको ध्यानमें रखकर ही अपने–पराये और महत्कुलप्रसूत गोस्वामी बालकोंके साथ भी संग करने या न करनेका निर्णय लेना चाहिये. श्रीमदाचार्यचरणके हार्दको

समझकर ( पुष्टिमार्गको अनुसरनेके प्रयासमें परमुखापेक्षिता नहीं रखनी चाहिये ) स्वतः वहां अपनी मति स्थापित करनी चाहिये. इसीसे सभी पुष्टिमार्गीयोंके सारे कार्य सिद्ध हो जायेंगें. ( शिक्षापत्र ).

ये सारे वे वचन हैं जिन्हें शुद्धभावसे सुनने–पढ़ने सोचने–समझने तथा मतिकृतिरतिमें उतारनेपर विमर्शग्रन्थके ९० प्रतिशत पृष्ठ – स्याही कागज तथा समय की शुद्ध बरबादी लगने लगते हैं.

**(क)**

''अस्मत्कुलं निष्कलंकम्'' कारिकापर श्रीहरिरायजीकी भाषाटीकाके आधारपर उसके अनुसार संस्कृत व्याख्या लिखनेवाले श्रीरघुनाथात्मज श्रीव्रजनाथजीने अतीव मननीय व्याख्या लिखी है. वे कहते हैं– ''यत्कृतनिवेदनेनैव अस्मत्कुलं निष्कलंकं ज्ञात्वा सदानन्देन प्रभुणा स्वाधीनीकृतम्. सकलंकत्वे अर्पणायोग्यत्वात् निवेदनं न कुर्युः, उत्तमानामेव पदार्थानां तद्योग्यत्वात्. श्रीमदाचार्यकृतस्वीयत्वभावनयैव निष्कलंकत्वं कुले ज्ञेयम्. कलंको अत्र भगवद्वैमुख्यं ज्ञेयम्''. अर्थात् महाप्रभुने अपने 'दारागारपुत्राप्तादि' के निवेदनके अन्तर्गत क्योंकि अपने समग्र कुलका ही पुष्टिप्रभुको निवेदन–समर्पण किया है, अतः श्रीवल्लभवंशको निष्कलंक समझना चाहिये. पुष्टिप्रभुने भी ''ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिर्हि'' वचनके अनुरूप निवेदिततया निर्दिष्टको निष्कलंक मानकर अंगीकार किया है. क्योंकि यदि यह कुल सकलंक होता तो निवेदनायोग्य होनेसे महाप्रभु इसे भगवानको निवेदित–समर्पित ही नहीं करते. क्योंकि उत्तम पदार्थ ही निवेदनयोग्य होते हैं. महाप्रभुद्वारा इस कुलको स्वीय मानना ही उस कुलकी निष्कलंकता है. भगवानसे विमुख होना ही यहां कलंक है.

यदि सोनाकी कटोरीकी वार्ताप्रसंगके आधारपर हम यह खोजनेका प्रयास करें कि कब महाप्रभु हमें अपना = स्वीय मानना चाहेंगें और कब वे अपना = स्वीय माननेसे इन्कार कर देंगें तो ये सुस्पष्ट शब्दावली सामने आती है – ''जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहीं अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो

षसो कबहू देवद्रव्य न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो. तातें वा प्रसादमेंते भोजन करवेको अपनो अधिकार न हतो. वाकेलिये गौअनकों खवायो और श्रीयमुनाजीमें पधरायो.'' बावजूद इसके विमर्शकारने पृष्ठ २१ पर ''महाप्रभुके भूखे रहनेके कारण उनके शिष्योंने प्रसाद ग्रहण नहीं किया'' ऐसी कुकल्पना प्रस्तुत की है तथा ''देवद्रव्य होनेके कारण नहीं परन्तु महाप्रभुने अपनी ओरसे ठाकुरजीको कुछ नहीं आरोगाया इसलिये नहीं आरोगे'' –ऐसा कुविमर्श किया है. जबकि महाप्रभुने स्पष्ट शब्दोंमें 'अपनो' शब्द वापरा है जिसका अर्थ है सकुटुम्ब महाप्रभु और संबोधित किये जाते सेवक वैष्णव भी. देवद्रव्यभक्षणका यह मोह भगवद्वैमुख्य नहीं तो और क्या है ? निश्चित ही वल्लभकुलके ५०० वर्षके इतिहासमें इससे अधिक कलंकास्पद विधान किसी गोस्वामी बालकने कभी किया नहीं होगा !

महाप्रभुके प्राकट्यहेतुको झुठलानेका यह षडयन्त्र है. महाप्रभु भूतलपर प्रकट हुए पुष्टिजीव उनके निजफलरूप निजगृहस्थित भगवत्स्वरूपकी तनुवित्तजा सेवा( द्र. ''भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्'' –पु.प्र.म. )से वंचित न रह जाये एतदर्थ ही. स्वयं प्रकट हुए तथा अपने बाद भी पुष्टिभक्तोंके हितार्थ पुष्टिभक्तिका प्रचार चलता ही रहे तदर्थ गार्हस्थ्य स्वीकार कर वंश स्थापित किया. निर्दोष ब्रह्मकी दोषरहित सेवा दोषाक्रान्त होनेसे पुष्टिजीव भी कैसे कर पायेगा एतदर्थ पुष्टिप्रभुसे वचन भी लिया कि ''ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिर्हि'' ( सि.र. ). यह अशेषमाहात्म्य आपने अपने वंशमें स्थापित भी किया. फिर भी अपनेमें स्थापित उस माहात्म्यके साथ विद्रोह कर देवद्रव्योपजीवन तथा देवलकतावृत्ति का अवलम्बन करनेवाले स्ववंशज महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण या प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथचरण को क्या कभी स्वीय लग सकते हैं ? नहीं; सर्वथा नहीं.

श्रीहरिरायजीने यद्यपि इसी माहात्म्यके आत्मविश्वासका अवलम्बन करके इन नामोंकी व्याख्या कुछ इस तरहसे की है कि आधुनिक आचार्यवंशज उस वचनकी दुहाई देकर अपने सर्वविध अकाण्डताण्डवोंको अपने अशेषमाहात्म्यतया निरूपित करना चाहेंगे. तदर्थ एकबार उस अंशके अप्रकाशित

होनेसे यहां पहले उसे उद्धृत करके बादमें उसके निगूढ़ अभिप्रायका अन्वेषण करेंगें :

**मूल :**

**'स्ववंश'पदेन 'स्थापित'पदेन च कालादिभ्यो बाहिमुर्ख्यस्य अन्यदर्शनप्रतीत्यापि नान्यथा भविष्यति इति ज्ञापितम्. यथा शैलादिमूर्तिषु महापुरुषस्थापितासु न कदाचिदपि तत्कृपया भगवत्सान्निध्यं गच्छति. तत्र साक्षात्प्रभुस्थापने किं वक्तव्यम् इति भावः. यथा शालिग्रामशिलामूर्तौ स्थापनव्यतिरेकेनापि भगवत्सान्निध्यमस्ति, पुष्टिभक्तसेवनेन पुरुषोत्तमाविर्भावो यथा भवति, तथा अत्रापि तद्वंशत्वेन माहात्म्यम् अस्त्येव परन्तु स्वमाहात्म्यं पुरुषोत्तमात्मकं स्थापितम् इति भावः. 'अशेष' इतिपदेन तत्कृतनिवेदनान्तरं सर्वेषां तथैव साक्षात्कारादि स्वस्य च लीलात्मकस्वरूपादिकम् इति भावः.** (''भुविभक्तिप्रचार...स्मयापहः'' की श्रीहरिरायजीकृतव्याख्या).

**अनुवाद :** 'स्ववंश'पद तथा 'स्थापित'पद के प्रयोगसे यह सिद्ध होता है कि किसीको कालादिके कारण आचार्यवंशजोंमें बहिर्मुखता प्रतीत भी होती हो तो भी आचार्यवंशजोंमें बाहिर्मुख्य सम्भव नहीं है – यह ज्ञापित होता है. जैसे महापुरुषद्वारा स्थापित शैलादिमूर्तिमें महापुरुषोंपर कृपाविशेषके कारण कभी भगवत्सान्निध्य निवृत्त नहीं होता है. ऐसी स्थितिमें साक्षात् प्रभुद्वारा की गई किसी स्थापनाके बारेमें कुछ कहनेकी आवश्यकता रहती ही नहीं है – यह भाव है. जैसे शालिग्रामकी शिलामूर्तिमें स्थापनाके बिना ही नित्य भगवत्सन्निधान रहता है और पुष्टिभक्तके द्वारा सेवन किये जानेपर वहां पुरुषोत्तमका भी आविर्भाव हो ही जाता है, वैसे ही यहां भी आचार्यवंशत्वेन तो माहात्म्य है ही, उसके अलावा पुरुषोत्तमात्मक माहात्म्य स्वयं आचार्यचरणद्वारा स्थापित किया गया है – यह आशय है. 'अशेष'पदके कारण यह भी द्योतित होता है कि वंशजोंद्वारा आत्मनिवेदनकी दीक्षा दिये जानेपर लेनेवाले पुष्टिजीवको भगवत्साक्षात्कारादि तथा स्वयंका लीलात्मक

स्वरूप भी सिद्ध होगा ही. (''भुविभक्तिप्रचार... स्मयापहः''की श्रीहरिरायजीकी व्याख्या).

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक आचार्यवंशजोंमें, श्रीहरिरायजीके अनुसार, स्वयं वंशकर्ता महाप्रभुद्वारा पुरुषोत्तमत्व स्थापित किया गया होनेसे कालादिदोषवश प्रतीत होती देवद्रव्योपजीविता या देवलकता, अर्थात् बहिर्मुखता भी, दोषात्मक न होकर पुरुषोत्तमलीलात्मक ही हैं ऐसे मानना चाहिये. तब तो स्थापित पुरुषोत्तम होनेके दावेके कारण अन्य भी अनेकविध शिष्टविगर्हित कृतियां भी हमारी पुरुषोत्तमकी लीला ही माननी पड़ेगी. बात आगे बढ़नेपर कभी कोई आचार्यवंशज स्वयं आचार्यचरण-प्रभुचरण या स्वयं श्रीहरिरायचरणोंके वचनोंको प्रामाणिक न माने तो उसे भी पुरुषोत्तमलीला ही माननी पड़ेगी. तब इनके वचनोंका कोई आचार्यवंशज खण्डन करे उसे भी पुरुषोत्तमलीला माननी पड़ेगी ! ऐसी स्थितिमें स्वयं श्रीहरिरायचरणद्वारा निर्दिष्ट ''...एवं निश्चित्य सर्वेषु स्वीयेष्वन्येषु वा पुनः महत्कुलप्रसूतेषु कर्तव्यः संगनिर्णयः'' कसौटी भी आचार्यवंशजोंपर लागू होगी कि नहीं ? स्पष्ट है कि श्रीहरिरायचरणके ही दोनों वचन हैं जिनमेंसे एकको प्रमाण और अन्यको अप्रमाण तो माना नहीं जा सकता है. अतः 'व्यवस्थित विकल्प'न्यायका समाश्रयण करना पड़ेगा.

इसीका निरूपण श्रीविठ्ठलेशात्मज श्रीवल्लभजी(वदनानलदास)ने इन्हीं नामोंपर लिखी अपनी व्याख्यामें किया है. यह व्याख्या भी अभी प्रकाशित नहीं हो पाई है अतः उस अंशको अविकल उद्धृत करके ही कुछ विचार करना उपयोगी होगा :

(१) ननु वंशीयानां तथासामर्थ्याभावात् कथं तत्प्रचार इत्यतः 'स्ववंशे'इति. स्वभूतेषु (स्वभूते!) पुत्रपौत्रादिरूपवंशे स्थापितम् अशेषं ''नमामि हृदये शेषे''इति कारिकोक्तं स्वहृदयस्य अन्तरंगलीलाधारत्वेन यत् शेषत्वं तद्व्यतिरिक्तं स्वस्य उपदेशेन जनोद्धारार्थम् अवतीर्णस्य तावन्मात्रं नामदानेन जनोद्धाररूपं माहात्म्यं येन तादृश इति अर्थः. तत्र तावद् वंशस्थापनेन अन्यदापि तद्द्वारा जनान् उद्धरति गुरुस्तु स्वयमेव. (२) 'स्थापित'पदेन आगन्तुकत्वम् उक्तम्. तेन प्रयोजनसिद्धौ ''यावदधिकारमवस्थिति-

राधिकारिकाणाम्’’न्यायेन पृथुवत् तत् तिरोभवति इति सूचितम्. तस्य भगवद्धर्मत्वेन अपहतपाप्मत्वात् न आधारदोषसम्बन्धः. (३) जनोद्धारार्थमेव तत्स्थापनात् स्वोद्धारार्थं तु पृथुवत् तेनापि यत्नः कर्तव्यएव. (४) उपदेशार्थमेव एतत्स्थापनात् तदनधिकारवति स्त्रीपुत्र्यादौ न तत्स्थापनम् इति ज्ञेयम्. न च ‘नर’पदस्य जीवगतपुंस्त्ववाचकत्वेन तत्रापि अधिकार इति वाच्यं, कृष्णसेवा-दम्भादिराहित्य-श्रीभागवततत्त्वज्ञतान्यथानुपपत्त्यैव एतत्प्राप्तेः ‘नर’पद(स्य !)म् अनर्थकत्वं स्यात्. नच पुत्रेष्वपि धर्मान्तरत्रयाभावे न अधिकारः स्याद् इति वाच्यं, ‘‘प्राचाम् आचार्याणाम्’’* इति भक्तिहंसोक्तन्यायेन तदुपपत्तेः. नच नरत्वाभावेपि तथा स्याद् इति वाच्यं, नरत्वस्य स्वरूपान्तर्गतत्वेन स्वरूपयोग्यतापा-दकधर्मत्वात्. अतएव तत्र स्नेहस्यैव कृष्णसेवादिधर्म-कारणीभूतस्य प्राचीनगतत्वेन उपपत्तिः उक्ता नतु नरत्वस्य. अतो नरत्वं तु अपेक्षितमेव इति ज्ञेयम्. अतएव टिप्पणान्तरे(श्रीगोकुलनाथकृते)पि ‘वंश’पदं पुत्रपरत्वेन व्याख्यातं नतु पुत्रीपरम् इति भावः. (५) ननु एवं सति जनोद्धारेपि वंशीयानां तु स्वस्मिन् तादृशमाहात्म्यज्ञानेन प्रत्युत गर्वरूपो दोषएव सिद्धः इत्यत आहुः ‘स्मयापह’ इति, गर्वनिवर्तक इति अर्थः. स्वरूपबलेनैव दोषं निवर्त्य जनानि च तान्यपि उद्धरिष्यति इति भावः. (श्रीविठ्ठलेशात्मज ‘वदनानलदास’ श्रीवल्लभजीकृत ‘‘भुवि भक्तिप्रचार...स्मयापहः’’की व्याख्या).

(*‘‘आधुनिकानाम् उपदेष्टृणामपि स्नेहाभावेपि तन्मूलभूतानां प्राचाम् आचार्याणां तद्वत्त्वेन तदनुगृहीतत्वेन सर्वोपपत्तेः’’ - भक्तिहंस.)

कुल मिलाकर इसमें इतनी बातें कही गई हैं: (१) महाप्रभुकी तरह उनके वंशजोंमें पुष्टिभक्तिमार्गके प्रचारोपयोगी सर्व शक्तियां नहीं हैं. ‘‘नमामि हृदये शेषे’’ कारिकामें वर्णित भगवानकी अन्तरंगलीलाका आधार बन पाये ऐसा शेषात्मक हृदय न होनेपर भी महाप्रभूपदिष्ट सिद्धान्तोंको दोहराते हुए पुष्टिजनोंके उद्धारार्थ ‘कृष्ण’नामवाली अष्टाक्षरमन्त्र तथा ब्रह्मसम्बन्धमन्त्र की दीक्षा देनेके अधिकारी होनेका माहात्म्य अपने पुत्र-वंशमें महाप्रभुने स्थापित किया है. अर्थात् अपने बाद अपने वंशद्वारा भी पुष्टिजीवोंका उद्धार करनेका सामर्थ्य महाप्रभुमें होनेसे वे ही गुरु हैं (वंशज नहीं). (२) ‘स्थापित’पदके प्रयोगके कारण यह

माहात्म्य भी उनमें आगन्तुकधर्म है, स्वयंसिद्ध नहीं. अतः प्रदान करते समय तात्कालिक प्रकट कर बादमें तिरोहित रहता है. जैसे पृथुमें विष्णुका आवेश प्रकट होता तथा तिरोहित होता माना गया है. जनोद्धारकता धर्म आधुनिक वंशजोंका धर्म न होकर भगवद्रूप आचार्यचरणका ही धर्म होनेसे अपने आधारीभूत आधुनिक गोस्वामिओंके निजी दोषोंसे दूषित नहीं हो पाता. (जैसे अपवित्र मलिन वस्तुओंमें भी व्यापकतया रहनेपर भी सर्वव्यापी परमात्मा मलिन अपवित्र नहीं होता). (३) अतएव आत्मोद्धारार्थ तो महाप्रभुके वंशजोंको भी महाप्रभूपदिष्ट प्रकारको अनुसरते हुए निजप्रयत्न करने ही पड़ेंगें!** (४) यह माहात्म्य केवल मन्त्रोपदेशार्थ ही स्थापित होनेसे (अर्थात् हवेलिओंमें भटकती दर्शन-मनोरथ-मठडी-मोहनथालार्थी पुष्टिमार्गीय जनताके वित्तको अपने तनरूपी मोरी='कन्ड्यूईट पाईप'द्वारा पुष्टिप्रभु तक पहुंचानेको निजवंशमें माहात्म्यस्थापन नहीं किया गया है) मन्त्रोपदेशका जिन्हें अधिकार नहीं ऐसी महाप्रभुके वंशकी पुत्रिओं तथा पत्निओं में वह माहात्म्य नहीं होता. अतएव गुरुके लक्षणमें 'नर'पदका प्रयोग किया गया है. वंशज पुत्रिओंमें गुरुत्वलक्षणघटक कृष्णसेवापरता दम्भादिरहितता भागवततत्त्वज्ञता हो परन्तु नरत्व न हो तथा वंशज पुत्रोंमें गुरुत्वलक्षणघटक नरत्व हो परन्तु कृष्णसेवापरता दम्भादिरहितता भागवततत्त्वज्ञता न हो - इन दोनों स्थितिओंमें वास्तविक गुरु तो महाप्रभु ही निजस्वरूपबलसे बनते हैं.ऐसी स्थितिमें पुत्री या पत्नी में दीक्षादानका अधिकार जो मान्य नहीं किया गया है, उसमें हेतु यही है कि महाप्रभूपदिष्ट गुरुलक्षणान्तर्गत 'नरं'पदके साथ प्रभुचरणनिर्दिष्ट ''भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत् स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्य:''पदावली पुष्टिमार्गीय गुरुकी स्वरूपयोग्यताके निरूपणार्थ है. (अर्थात् फलमुखयोग्यता तो कृष्णसेवापरता दम्भादिरहितता भागवततत्त्वज्ञता के कारण ही आती है). अन्यथा फलमुखयोग्यताके निरूपणमें 'नरं'पदका प्रयोग निष्प्रयोजन ही सिद्ध होगा. (५) वंशज पुत्रोंमें भी अपने उस स्थापित माहात्म्यके कारण, यदि गर्व-''हम पुष्टिजीवोंके उद्धारक हैं''ऐसा पैदा होता हो तो, यह उन्हें समझ लेना चाहिये कि यदि वे श्रीभागततत्त्वज्ञ दम्भादिरहित कृष्णसेवापरायण भी हों तब भी पुष्टिजीवको ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा प्रदान कर पुष्टिप्रभुके पुष्टिमार्गीय भजन करने योग्य बनानेका

उनका माहात्म्य स्वयंसिद्ध न होकर महाप्रभुद्वारा स्थापित ही है. अतः जब वंशज भागवततत्त्वज्ञ न हों, या कृष्णसेवापरायण न हों, या दम्भादिरहित न हों तब साधारण पुष्टिजीवोंके जैसे इन निजवंशजोंके भी दोषोंको स्वरूपबलसे निवृत्त करनेका सामर्थ्य स्मयापहर्ता स्वयं महाप्रभुका ही है. अतएव गुरुलक्षणके बाद महाप्रभुने ''तदभावे स्वयं वापि...परिचर्यां सदा कुर्याद्'' (त.दी.नि. सर्वनि. २२८) उपदेश दिया है.

(**कुछ पहलवानछाप बुद्धिवाले अपठित आचार्यवंशज आजकल वैष्णवोंको बरगलाते हैं कि षोडशग्रन्थके आदेश तो सारेके सारे वैष्णवोंकेलिये ही महाप्रभुने प्रकट किये हैं, अपने वंशजोंकेलिये तो केवल शिक्षाश्लोकी है. इसमें मूल कारण यही है कि तनुवित्तजा और गृहसेवा के सिद्धान्तमुक्तावली और भक्तिवर्धिनी में उपदिष्ट नियम गोस्वामिओंपर कहीं लागू न हो जायें! परन्तु यही बात भी यदि सच मानकर चलें तो सिद्ध हो जाता है कि महाप्रभुको वैष्णवोंके बहिर्मुख होनेकी आशंका नहीं थी अतः केवल भक्तिमार्गीय कर्तव्योंका उपदेश उन्हें दिया तथा वंशजोंके बहिर्मुख होनेकी प्रबल सम्भावनाओंका विचार कर शिक्षाश्लोकीका उपदेश किया होना चाहिये.)

इस तरह श्रीवल्लभजीकी व्याख्याके सविवरण भावानुवादके पांचों अंशोंको हृद्गत करनेपर यह सिद्ध होता है कि श्रीहरिरायजीद्वारा वर्णित पुरुषोत्तमता स्वरूपयोग्यताके निरूपणार्थ ही है, फलमुखयोग्यताके निरूपणार्थ नहीं. जैसे शालिग्राममें नित्य भगवत्सन्निधान होनेके बावजूद पुष्टिभक्तद्वारा सेवित होनेपर ही पुष्टिपुरुषोत्तमता प्रकट होती है – ऐसा श्रीहरिरायजीने स्वीकारा है, ठीक

उसी तरह श्रीभागवततत्त्वज्ञता कृष्णसेवापरायणता दम्भादिरहितता गुण आचार्यवंशजोंमें हों तभी ऐसे वंशजोंका संग फलमुख साधुसंग हो सकता है. अन्यथा स्वयं बुद्धके जैसे साक्षात् भगवदवतार होनेपर भी उनके नास्तिक्यपूर्ण उपदेशोंके ग्रहणार्थ उनका संग साधुसंग न होकर दोषपूर्ण संग माना गया है, वैसे ही महाप्रभुके इन वंशजोंकी पुरुषोत्तमताकी गति भी समझनी चाहिये. यह बात स्वयं श्रीहरिरायजीके (ग) तथा (ङ) भागोंमें संकलित वचनोंके आधारपर स्पष्ट हो जाती है.विशेषतः, ''तदभावे तथाभूतोपदेशोऽत्र नियामकः अथाधुनिकतीर्थानामतथाभूततोपि हि''–''अदम्भः सर्वथापेक्षारहितः करुणापरः'' –''महत्कुलप्रसूतेषु कर्तव्यः संगनिर्णयः''शब्दावलीके निगूढ़

भावोंका अवगाहन करनेपर भी यह स्पष्ट हो जाता है.

अतएव लेखकार श्रीविठ्ठलेशात्मज श्रीवल्लभजीकी भी अप्रकाशित सर्वोत्तमस्तोत्रकी व्याख्यामेंसे इन नामोंकी व्याख्याके अंश भी यहां मननार्थ हम उद्धृत करना चाहेंगें :

**मूल : 'भुवि' इति. नित्यलीलायां तु स्वस्य आस्यरूपत्वेन स्वदर्शनबलाद् वाक्यवेणुनादादिभिः भक्तानां भक्तिः भवति. भुवि तु तदभावाद् अन्वयेनैव सा भवतीति तदैकप्रचारार्थम् अन्वयकर्ता नतु लोकवद्, अलौकिकत्वात्. ...'अन्वय'पदेन स्वपुत्रद्वारापि परम्परया वंशजननेच्छा सूचिता. वंशो द्विविधो – विद्यया जन्मना च. तत्र विद्यया शिष्यरूपो जन्मना पुत्ररूपः. तत्र विद्यावंशे तु आरोपितसामर्थ्येन सर्वोद्धारः तथा भवेद् इति तदर्थम् आहुः 'पिता' इति. स्वजनक इति अर्थः. एतेन स्वस्य भुवि भक्तिप्रचारकर्तृत्वम् उक्तम्. तेन साक्षात्पुष्टिसम्बन्धस्तु साक्षाद्वंशेनैव भवति; शरणसम्बन्धस्तु अपरेणापि भवति इति सूचितम्. अतएव पुरुषोत्तमदासादीनां शरणदानाज्ञा. ननु साक्षाद्वंशेपि तद् आरोपितं भवेद् इति आशंक्य आहुः 'स्ववंशे...' इति. 'स्व'पदेन पुत्ररूप वंश उच्यते, तत्रैव अशेषमाहात्म्यं स्थापितम्. 'स्व'पदेन साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धि निरूपितम्. तेन अशेषमाहात्म्यं श्रीअग्निकुमारेष्वेव शेषं तु सर्वत्रैव इति सूचितम्. यद्वा अशेषमाहात्म्यं सर्वत्रापि अन्यथा तद्द्वारा पुष्टिभक्तिप्रचारो न स्यात्, कालस्य बाधकत्वात्. तस्मिन् स्थापिते तस्य अबाधकत्वम्. यद्वा ''दीपाद् दीप'' इति न्यायेन स्वस्मिन् सिद्धमेव अशेषमाहात्म्यं, स्थापनं तु स्वातिरिक्तेष्वेवेति 'स्थापितम्' इति उक्तम् . . . यद्वा स्मयो = गर्वो ''वयमेव जगदुद्धारका'' इति; तस्य तथा. स्वमाहात्म्यस्थापनादेव तथात्वं न स्वतः इति.** (लेखकार श्रीवल्लभजीकृत ''भुवि भक्तिप्रचार...स्मयापहः''की व्याख्या).

**भावानुवाद :** वंशस्थापनाकी आवश्यकता भूतलपर है,

क्योंकि नित्यलीलामें तो मुखारविन्दरूप होनेसे महाप्रभु अपने दर्शन-वचन-वेणुवादनादि द्वारा भक्तिभावको पोषित करते ही हैं. भूतलपर उस रूपमें अवस्थित न होनेके कारण ही वंशद्वारा भी भक्तिका प्रचार करते हैं. स्वयं अलौकिक होनेके कारण केवल उसी प्रयोजनसे आपने वंशस्थापना की है-किसी लौकिक प्रयोजनकी पूर्तिकेलिये नहीं. 'अन्वय'पदके प्रयोगसे यह भी सूचित होता है कि अपने पुत्रके वंशद्वारा भी आगे भक्तिके प्रचारका कार्य चलता रहे. वंश दो तरहसे चलता है - एक विद्यासे दूसरा जन्मसे. विद्यावंशमें शिष्य प्रकट होते हैं, जन्मवंशमें पुत्र. विद्यावंशमें प्रकट हुए शिष्यमें गुरु अपने सामर्थ्यका आरोपण करता है ताकि शिष्य भी सर्वोद्धारक बन पाये. ऐसा परन्तु महाप्रभुने पुष्टिमार्गमें करना चाहा नहीं इसलिये प्रभुचरणने 'भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत्' नामके साथ 'पिता'नाम भी जोड़ा है. अर्थात् महाप्रभु स्वयंके जनकपिता हैं. इससे सिद्ध होता है कि प्रभुचरणका प्राकट्य भी भक्तिप्रचारार्थ ही है. साक्षात्पुष्टिसम्बन्ध साक्षाज्जात पुत्रवंशसे होता है तथा शरणसम्बन्ध विद्यावंशसे भी. अतएव पुरुषोत्तमदासजी आदि वैष्णवोंको शरणमन्त्रकी दीक्षा प्रदान करनेकी आज्ञा दी गई थी. साक्षात्पुत्रवंशमें निजसामर्थ्यको आरोपित क्यों नहीं माना जाता? इसलिये कि साक्षात्पुत्रवंशमें आपने अपना पुरुषोत्तमसम्बन्धी अशेषमाहात्म्य स्थापित किया है. प्रभुचरणमें ही पुरुषोत्तमसम्बन्धी यह अशेषमाहात्म्य स्थापित किया है, अन्यत्र तो शेषमाहात्म्य ही स्थापित किया गया है. अथवा सर्वत्र अशेषमाहात्म्यकी स्थापना महाप्रभुने की है - ऐसा भी स्वीकारा जा सकता है. क्योंकि महाप्रभुके अशेषमाहात्म्यके स्थापित हुए बिना कोई पुष्टिभक्तिका प्रचार कर नहीं पायेगा. क्योंकि कलिकालके बलवान होनेके कारण (वंशज भी तनुवित्तजा सेवाकी जगह आजीविकोपार्जन और भावसंगोपनके उपयोगी निजगृहकी जगह भावप्रदर्शनकी दुकान ही चला पायेंगे अतः) भक्तिमार्गके प्रचारमें बाधा उपस्थित हो ही जायेगी. अथवा दीपसे जुड़ते दीपकी तरह प्रभुचरणमें तो अशेषमाहात्म्य स्वयंसिद्ध है परन्तु अन्यत्र वह स्थापित हो तभी सम्भव है . . . ''हम जगतके उद्धारक हैं (जिस मोहसे पनपी भ्रान्तिके वश

आज पुष्टिजीवैकधर्मको 'विश्वधर्म'के रूपमें प्रचारित किया जा रहा है)'' –ऐसा घमंड महाप्रभुने दूर कर दिया है. क्योंकि महाप्रभुसे अतिरिक्त सभी पुष्टिभक्तिमार्गके प्रचारकोंमें वह माहात्म्य स्वयंसिद्ध न होकर स्थापित हो तब ही हो सकता है अन्यथा नहीं.

इससे भी यही सिद्ध होता है कि केवल महाप्रभुके वंशमें जन्म लेनेसे ठाकुरजीको उद्देश्य करके पराये लोगों, अर्थात् दर्शनार्थी जनों, द्वारा धरी गई भेंट–सामग्रीपर गुरुत्वके बलपर स्वच्छन्दतया पूर्ण स्वत्व स्थापित नहीं हो सकता. वह तो देवद्रव्य रहेगा ही कि जिसके उपभोग करनेपर महाप्रभु भी अपना वंशज माननेसे भी इन्कार कर देंगें – ''मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहू न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो.'' इससे बड़ा कलंक या लांछन भक्तिप्रचारार्थ प्रकट किये गये वंशपर और क्या लग सकता है !

उल्लेखनीय है कि विमर्शकार भी स्वमुखसे यह तो स्वीकारते ही हैं कि ''परन्तु ठाकुरजीको उपायनके रूपमें निवेदित वस्तुको ठाकुरजीकी आज्ञाके बिना (इन शब्दोंपर ध्यान देना आवश्यक है –गो.श्या.म.) उपायनकर्ता ग्रहण नहीं कर सकता.'' (विमर्श पृ.१९). तब प्रश्न उठता है कि क्यों नहीं स्वीकार सकता ? इसका उत्तर विमर्शकारने यूं दिया है– ''इन दोनों उपायनोंमें ठाकुरजीका ही पूर्ण स्वत्व होता है अतः उपायनकर्ता पुनः प्रसादरूपमें ग्रहण नहीं करते.'' (विमर्श पृ.१८). बावजूद इस स्वीकृतिके ''गुरुका ही पूर्ण स्वत्व आनेसे देवद्रव्यके भक्षणका दोष सर्वथा आता नहीं. यहां यह ध्यातव्य है कि उपर्युक्त विचार गुरुघरके ठाकुरजीकी सेवामें विनियुक्त करने हेतु आनेवाले द्रव्यसे सम्बन्धित है.'' (विमर्श पृ.१६) तथा ''श्रीमहाप्रभुजीने इस द्रव्यका स्वीकार नहीं किया अतः उसमें देवद्रव्यत्व है. महाप्रभुजीद्वारा उस द्रव्यका स्वीकार किये जानेपर उसका देवद्रव्यत्व नष्ट होता...'' (विमर्श पृ.२२) –ऐसे विचित्र विधान और कर दिये हैं.

ठाकुरजीकी आज्ञाके बिना, स्वप्रदत्त या परप्रदत्त, जिस द्रव्यपर ठाकुरजीका स्वत्व हो उसे अपनी स्वच्छन्द इच्छाके आधारपर कोई भी गुरु या शिष्य स्वोपभोगार्ह पूर्ण स्वत्व कैसे मान सकता है ? अन्यथा मान लीजिये (वैसे

आधुनिक धनलोलुप हम गोस्वामिओंसे तो यह शक्य ही नहीं फिर भी केवल विचारार्थ ही हम युक्ति दे रहे हैं): किसी वैष्णव ब्राह्मणके घर बिराजते ठाकुरजीको किसी गोस्वामी गुरुने बेशकीमती हीरेका हार भेंट धरा हो या सोनेकी कटोरी भेंट धरी हो तो क्या उस वैष्णवको वह भेंट स्वीकार लेनी हो तो वह देवद्रव्य नहीं रह जायेगा ? अर्थात् न स्वीकारनेपर ही क्या देवद्रव्य बनेगा ?

जिसे उद्देश्य करके कुछ दिया जाता है उसके स्वीकार या अस्वीकार को ही स्वत्वनिर्धारणमें उपयोगी माना जा सकता है, अन्यके नहीं. उदाहरणतया प्रभुचरणद्वारा श्रीबालकृष्णलालजीको पधरानेकी इच्छा प्रकट करनेके बावजूद श्रीयदुनाथजीने उन्हें स्वीकारे नहीं थे, अतः उनका पूर्ण स्वत्व स्थापित न हो पाया.फलत:''दाने हि न स्वविनियोगः''नियमके अधीन स्वयं प्रभुचरण या उनकी गादीपर बिराजनेवाले श्रीगिरिधरजीके वंशज न भी ले सकते हों, एतावता तृतीयात्मज श्रीबालकृष्णजीके घरमें उनके अपने पूर्ण स्वत्वके कारण एकबार वहां बिराजते ही तीसरे घरके बालक पूर्ण स्वत्वके दावेके साथ क्यों नहीं ले सकते ? तृतीय लालजीके तथा उनके वंशजोंके स्वीकार लेनेपर प्रभुचरणनिधि श्रीबालकृष्णलाल ठाकुरजीपरसे श्रीयदुनाथजीकी स्वत्वनिवृत्ति क्या विमर्शकारको मान्य होगी ? हो तो फिर बावेला ही किस बातका मचाया जा रहा है ! क्योंकि श्रीबालकृष्णलाल ठाकुरजीके दानकर्ता प्रभुचरण पुनः नहीं ले सकते एतावता तृतीय लालजी या उनके वंशज नहीं पचा सकते ऐसा तो फिर कहा नहीं जा सकेगा !

अतएव नवरत्नप्रकाशमें ''दाने हि न स्वविनियोगः न तु निवेदने''के बजाय ''दाने हि न विनियोगः'' पाठ क्यों नहीं दिया ? –ऐसा प्रश्नाडम्बर विमर्शकारने किया है (विमर्श पृ.१५७). साथ ही साथ हास्यास्पद अपसिद्धान्त एक यह भी स्थापित किया है कि ''पुष्टिमार्गमें 'तुभ्यमहं सम्प्रददे न मम' कहकर दान होता नहीं अतः प्रसादी वस्तुके ग्रहणमें दोष नहीं.'' (विमर्श पृ.२७) जब दान होता ही नहीं तो न तो निषेधकी आवश्यकता थी और न स्वविनियोगके निषेधकी या परविनियोगकी अनुमति की भी.

‘‘तुभ्यमहं सम्प्रददे न मम’’ यह कहकर जैसे दान नहीं देती, वैसे ही दर्शनार्थी जनता ‘‘गुर्वाराध्याय भगवत्स्वरूपाय निवेदयामि-समर्पयामि इदं न मम’’ कहकर समर्पण भी कहां करती है ? फिर उसपर गुरुका पूर्ण स्वत्व कैसे प्रकट हो जाता है, समर्पणकर्ताके बोले बिना ? देवद्रव्योपजीविताकी वृत्तिकी वकालत करनेको जिस सैद्धान्तिकी वास्तविकताको विमर्शकार यहां छिपा रहे हैं, वह यह है कि प्रभुचरणने ‘‘तदीयार्थस्य तदिच्छां विना ग्रहीतुम् अशक्यत्वात् इच्छायाश्च ज्ञातुम् अशक्यत्वात्. वस्तुतस्तु इच्छायामपि सत्यां तदुपयोगो अनुचितः सेवकस्य’’ (नव.प्रका. १) आक्षेपके सन्दर्भमें यह दान और निवेदनका पार्थक्य बताया है. अतः उपायनीकृत द्रव्य या सामग्री का स्वोपभोग साक्षाद् भगवदाज्ञाके बिना अधर्म्य देवद्रव्योपजीवन होता है – यही यहां विवक्षित है. क्योंकि ‘स्वविनियोग’ या ‘भगवद्विनियोग’के विकल्प ही यहां सन्दर्भोपात्त हैं; दानकर्ता या दानानुमन्ता यहां ‘स्व’पद या ‘पर’पद से विवक्षित नहीं हैं. निवेदनमें देवस्व ही उत्पन्न नहीं किया जाता होनेसे स्वविनियोग अनुमत ही है और उचिततर भी है. इसमें ‘न तु निवेदने’ अंशको छोड़कर विमर्शकारद्वारा दान-निवेदनके पार्थक्यको भुलाकर व्याख्यान करना जननेत्रोंमें धूलिप्रक्षेपणकी उनकी मनोवृत्तिको उजागर करता है ! अतः सिद्ध होता है – भगवद्वंशजात होनेपर भी वृत्त्यर्थ भगवदाराधना देवोद्दिष्ट या देवाराधनार्थोद्दिष्ट परद्रव्यके दानसे निर्वाह्य होनेके कारण विगर्ह्य ही होती है. भक्त्यर्थ भगवत्सेवामें तनुवित्तजाका ऐक्य रहता ही है तथा वृत्त्यर्थ भगवत्सेवामें तो तनुजा और वित्तजा का पार्थक्य करना ही पड़ेगा. और इसकेलिये महाप्रभुने यदि वंशस्थापन किया होता तो ‘‘भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत्’’ उनका नाम नहीं रह जायेगा ! निजाचार्यचरणके नामको ‘‘भुवि आजीविकालाभकृते स्वान्वयकृत्’’ रूपमें बिगाड़नेकी ही वह तो बात होगी. प्राचीन श्रीवल्लभोंके बारेमें तो निजाचार्यके नामको बिगाड़नेकी बात स्वप्नमें भी नहीं सोची जा सकती थी. आधुनिक श्रीवल्लभोंकी तो कथा कुछ और ही है !

## (ख)

इस विभागमें प्रस्तुत वचन श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणका है, जो

साधनदीपिकासे उद्धृत किया गया है. उन्होंने उन मौलिक हेतुओंको शृंखलाबद्ध किया है जिनके वश महाप्रभूपदिष्ट ''कृष्णसेवापर–दम्भादिरहित–श्रीभागवततत्त्वज्ञ–नर'' लक्षणयुक्त गुरु आवश्यक बनता है. भक्तिको महाप्रभुने पंचमपुरुषार्थतया मान्य किया है अतएव 'सेवाफलविवरण'ग्रन्थमें 'सेवाके तीन फल' कहनेके बजाय 'सेवा करते समय तीनमेंसे किसी एक तरहका फल होता है' यही कहा है: ''सेवायां फलत्रयं''द्वारा. सेवाकी इसी फलावस्थाका निरूपण ''मानसी सा परा मता'' (सि.मु.) वचनद्वारा किया गया है. यह वही अवस्था है जिसे 'भक्तिवर्धिनी'ग्रन्थमें ''यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि'' वचनद्वारा भक्तिकी व्यसनावस्थाके रूपमें भी वर्णित किया गया है.

इन सभी वचनोंका कुल निष्कर्ष यही है कि पुष्टिमार्गमें भक्त या भक्त्यर्थी ही भगवत्सेवाके अधिकारी हैं. क्योंकि लोकार्थी भी या तो भगवत्सेवाके कारण क्लेश ही पाते हैं या फिर उनके लोक ही नष्ट हो जाते हैं – यह भी सिद्धान्तमुक्तावलीमें निरूपित किया गया है. वृत्त्यर्थीके द्वारा की गई तो भगवत्सेवा भी नवधा भक्तिकी ही तरह केवल लौकिक व्यापार ही नहीं प्रत्युत पापकर्म ही है – यह भी भक्तिहंसके अवगाहनसे सुस्पष्ट हो जाता है. वह भक्ति ''माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह''के रूपमें परिभाषित हुई है. तदनुसार सर्वप्रथम माहात्म्यज्ञानकेलिये यह आवश्यक है कि पुष्टिजीव लौकिक अर्थ पुरुषार्थ एवं कामपुरुषार्थोंके विषय लौकिक धन एवं रसरूपादि विषयोंके मोहसे छूटकर उनसे अतीत ऐसे पुरुषोत्तमके बारेमें कुछ जान पाये, पश्चात् शास्त्रोंद्वारा विहित धर्मपुरुषार्थरूप कर्मज्ञानोपासनाके उपायोंसे प्राप्य स्वर्गादि चतुर्विध मोक्षान्तपुरुषार्थरूप फल या उनके प्रापकोंकी तुलनामें पुरुषोत्तमभक्तिकी उत्तमताको पहचान पाये. एतदर्थ पुरुषोत्तमके दिव्य गुण एवं दिव्य लीलाओं का ज्ञान अपेक्षित होता है. वह मिलता है श्रुतिगीताभागवतादि शास्त्रोंके श्रवणसे, वह श्रवण गुरुमुखसे करना चाहिये. तदर्थ गुरुकी अपेक्षा दिखलाई गई है.

उस पुष्टिमार्गीय गुरुके स्वरूपलक्षणतया तो हमने देखा कि महाप्रभुद्वारा श्रीकृष्णको निवेदित उनके निजवंशमें पुत्र–पौत्र–प्रपौत्रादि परम्परामें आते 'नरं'पदबोधित पुरुष हैं.इनमें पुष्टिजीवोंको पुष्टिप्रभुसे मिलानेकी स्वयंसिद्ध

सामर्थ्य न भी हो परन्तु ब्रह्मसम्बन्धदीक्षाप्रदानकालमें उस सामर्थ्यकी तावन्मात्रकालिकी अभिव्यक्ति होती है. जैसे साधारण आर्थिक स्थितिवाला बेंकका कर्मचारी भी बड़ी-बड़ी लॉन, बेंकव्यवस्थाद्वारा अधिकृत होनेपर, दे सकता है. फिर भी फलमुख लक्षण तो महाप्रभुने ''कृष्णसेवापरत्वे सति दम्भादिरहितत्वे सति भागवततत्त्वज्ञत्वम्'' ही सूचित किया है.

इस लक्षणका पदकृत्य समझाते हुए महाप्रभुने कई बातोंका स्पष्टीकरण दिया है. यथा - जिस गुरुकेलिये सेवाका उपदेश करना कर्तव्य हो (महाप्रभुने कल्पना भी नहीं की है कि उनके मार्गमें गुरु सेवाके उपदेश देनेकी जगह वृत्त्यर्थ प्रदर्शन करने लग जायेंगें) वह स्वयं उसे उत्तम कर्तव्य मानता हो तो स्वयं क्यों नहीं करेगा ? इसलिये गुरुके लक्षणमें कृष्णसेवापरायण होना सबसे पहली शर्त है. दूसरी शर्त, महाप्रभुके अनुसार, यह है कि वह कृष्णसेवा किसी निमित्त (जैसे कि विमर्शकारने ४५ तथा १६४-१६५ पृष्ठोंपर ऐश्वर्यार्थ, शरीर-परिवारके रक्षण-पोषणार्थ, वृत्त्यर्थ आदि अनेक निमित्त भगवत्सेवाके धर्म्य माने हैं - गो.श्या.म. )के वश नहीं करनी चाहिये. अन्यथा वह दम्भ बन जायेगी. तदर्थ दम्भादिरहित होना भी आवश्यक बताया है. यहां 'दम्भादि'में 'आदि'पदके अर्थतया श्रीपुरुषोत्तमजीने काम लोभ और गाममें पूजनेकी लालसा को गिनाया है. इनका क्रमशः विमर्शकारद्वारा दिये गये निमित्तोंसे समीकरण जान लेना भी आवश्यक है: ऐश्वर्यार्थ भगवत्सेवा लोभसहित होती है. शरीर-परिवारके रक्षणपोषणार्थ भगवत्सेवा कामसहित भगवत्सेवा है. वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाको सेव्यसुखजननके बहाने बनाकर अथवा भक्तजनोंके उद्धारार्थ प्रदर्शनोंके बहाने बनाकर करना गाममें पूजनेकी मनोवृत्तिसे किया जानेवाला दम्भ ही समझना चाहिये.

प्रसंगोपात्त विमर्शकारने जो विकल्प उत्थापित किये हैं उनका भी विचार कर लेना चाहिये :''लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्व-देवलकत्वादिसम्पादकत्वात् तद्व्यतिरिक्तेन अनिषिद्धप्रकारेण 'ऐहिकं मे भवतु' इति अनुसन्धाय प्रवृत्तो लोकार्थी'' -इस वाक्यमें 'अनिषिद्धप्रकार'शब्दसे 'विवक्षित भक्तिमार्गानुसार अनिषिद्धप्रकार' या 'धर्मशास्त्रानुसार अनिषिद्धप्रकार'

यों इन दोनोंमेंसे कौन सा अर्थ श्रीपुरुषोत्तमजीको  अभिप्रेत है ? (विमर्श पृ.१६३). इस विकल्प- प्रश्नका देवलक बालकोंके मनोरंजनार्थ विमर्शकारने क्रोडाक्रीडनक- उत्तर यों प्रस्तुत किया है: 'विवक्षित भक्तिमार्गानुसार अनिषिद्धप्रकार' यदि अभिप्रेत हो तो ''ऐहिकं मे भवतु इति अनुसन्धाय प्रवृत्तो लोकार्थी'' यह आगेका अंश असंगत होगा. क्योंकि ऐहिक फलप्राप्तिकेलिये भगवत्सेवा विवक्षितभक्तिमार्गमें निषिद्ध है. अतः धर्मशास्त्रानुसार अनिषिद्धप्रकार ही श्रीपुरुषोत्तमजीका अभिप्रेत अर्थ है.

नितान्त बचकानी क्रोडाक्रीडनकक्रीडा करते हुए विमर्शकार यह भी कहते हैं- धर्मशास्त्रके मतानुसार केवल लाभ या केवल पूजाकेलिये ही की जानेवाली भगवत्सेवा उपधर्म पाखण्ड होती है. अर्थात् श्रद्धारहित केवल धन कमानेकेलिये अथवा केवल प्रतिष्ठाकेलिये की जाती भगवत्सेवा उपधर्म पाखण्ड होती है. अंशतः भी भक्ति और श्रद्धाके साथ की जाती वृत्त्यर्थ या प्रतिष्ठार्थ भी भगवत्सेवा धर्मशास्त्रानुसार निषिद्ध न होनेसे धर्म्य ही है (विमर्श पृ. १६३-१६८).

हम देख चुके हैं कि वृत्तिका धर्मतया प्रदर्शन तथा धर्मका वृत्त्युपार्जनार्थ अनुष्ठान विवक्षित भक्तिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र दोनोंके अनुसार निषिद्ध दम्भ ही है. अतः सर्वप्रथम तो यह विकल्पप्रश्न ही अनवसरपराहत होनेसे निज अज्ञानका प्रदर्शन है. दूसरे स्वयं विमर्शकारद्वारा उद्धृत ''तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये'' वचन स्वयं विवक्षित भक्तिमार्गीय वचन है. इसके आधारपर ऐहिकफलकेलिये भगवत्सेवा जब निषिद्ध ही है तब धर्मशास्त्र तक दौड़ लगानेकी आवश्यकता क्या ? क्योंकि धर्मशास्त्रमें अनिषिद्ध होनेपर भी भक्तिशास्त्रमें निषिद्ध हो तो वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाकी हेयकोटिमें ही गणना करनी चाहिये. जिस लोकार्थीको अनिषिद्ध प्रकारसे भगवत्सेवा करनेवाला कहा गया है उसकी व्याख्या करनेको धर्मशास्त्र तक दौड़ लगानी ही हो तो लगा लो ! लौटकर फिर महाप्रभुसे उस दौड़का परिणाम भी सुन लो : ''लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा !''

यह क्या बाललीला हुई है वह तो श्रीबालकृष्णलाल ही जानें ! विवक्षित भक्तिशास्त्रमें भक्तिहंसगत वचनके विचारमें लोकार्थी और वृत्त्यर्थी का भेद हम तो समझा ही चुके हैं. वहां यह कहा ही गया है कि शास्त्रविहित होनेसे लोकार्थीकी भक्ति पुष्टिमार्गीय न होकर कर्ममार्गीय या मर्यादामार्गीय होती है. अतएव ''एवं सति भक्तिमार्गीयभजनप्रकारेषु स्नेहएव नियामकः स्नेहवतां, कर्मणि विधिवत्. तद्रहितानां तु तद्वत्कृत उपदेशएव. स च वेदाविरुद्धएवेति ज्ञेयम्'' (भक्तिहंस) यह वचन भी अनुसन्धेय है ही. इस विशोधनिकाके उपक्रममें भी सर्वनिर्णयनिबन्धके प्रकाश(१९३-१९६)गत ''स्वतःपुरुषार्थतया अनुष्ठिता सेवा हि स्वतन्त्रभक्तिरूपा'' होती है -इस वचनके भी आधारपर वृत्त्यर्थ या प्रतिष्ठार्थ अनुष्ठित भगवत्सेवा यत्किञ्चित् भक्ति या श्रद्धा के सहित होनेपर भी स्वतन्त्र पुष्टिभक्ति नहीं रह जाती. इसी तरह सर्वथा भक्तिरहित भी सेवाका अनुष्ठान, यदि वृत्त्यर्थ या प्रतिष्ठार्थ न किया जाता हो तो, स्नेहमार्गीय आचार्योपदेशानुसारी होनेपर प्रभुचरणने उसे अभिनन्दनीय ही माना है. क्योंकि आचार्योपदेशानुसारी स्वतःपुरुषार्थरूप अवृत्त्यर्थ- अप्रतिष्ठार्थ केवल भक्त्यर्थ की जाती भगवत्सेवा ही भक्तिमार्गीय होती है, प्रभुचरणके अनुसार.

अतएव श्रीकल्याणरायजीने गुरुपदयोग्यताकी तीसरी शर्त 'श्रीभागवततत्त्वज्ञ'की उत्थानिकागत ''सेवा च प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय अन्यथाकरणे न फलसिद्धिः''* इस पंक्तिमें 'प्रमाण'का अर्थ भगवानके वचन अथवा सत्यरूप भगवान जिस सेवामें मूल हों परन्तु धर्म अर्थ काम या मोक्ष नहीं -ऐसे किया है (तब कहाड़ीभेंटकी आजीविका या पीठाधीशत्वप्रतिष्ठा का तो प्रश्न ही यहां नहीं उठ सकता ! - गो.श्या.म.). वह सेवा स्वतः पुरुषार्थतया अथवा केवल भगवदर्थ ही होनी चाहिये - यह खुलासा भी दिया गया है.

(*अर्थात् प्रमाणमूला भगवत्सेवा पुरुषार्थरूपा होती है क्योंकि मनमें कुछ (वृत्त्यर्थ ऐश्वर्यार्थ या प्रतिष्ठार्थ करनेके) भावोंको रखकर बाहरसे (सेव्यसुखजनिका सेवाके भावके दिखावे या जगतके उद्धार करनेके उदात्त भावके दिखावे का) अन्यथाकरण फलसाधक नहीं होता.)

''कृष्णसेवापरं वीक्ष्य'' वचनांशमें 'वीक्ष्य'पदका अभिप्राय दिखलाते हुए श्रीपुरुषोत्तमजीने पुष्टिमार्गकी अन्य मार्गोंसे यही विलक्षणता प्रतिपादित की है कि इस मार्गमें गुरुकी परीक्षा सबसे पहले अच्छी तरह कर लेनी आवश्यक मानी गई है. अन्यथा गुरुपदका दावेदार कृष्णसेवापरायण या दम्भादिरहित या श्रीभागवततत्त्वज्ञ अथवा नर (महाप्रभुवंशोद्भूत पुत्रसंतति) न होकर दुनियाके चक्करमें फंसा कोई अन्धा पशु भी तो हो सकता है.इसे स्वयं अन्धे होकर गुरु बना लेनेपर गुरु और शिष्य दोनोंका अधःपात ध्रुवनिश्चित हो जाता है. श्रीपुरुषोत्तमजीने यह भी खुलासा दिया है कि ''तेन ब्रह्मसम्बन्धोपि फलमुखः तस्यैव सिद्ध्यति. एवं अधिकारसूचनेन अनधिकार्यपि व्यावर्तितः.'' (त.दी.नि. सर्वनि. प्रका. आव.भं. २२७). अर्थात् ऐसे अधिकारी गुरुसे ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लेनेपर ही ब्रह्मसम्बन्ध फलदायक होता है. क्योंकि ब्रह्मसम्बन्ध देनेका अधिकार जैसे लक्षणवाले पुरुषका स्वीकारा गया है वैसे लक्षणवालेसे भिन्न सभी अनधिकारी होते हैं. अतः ऐसोंसे ब्रह्मसम्बन्ध लेना ही नहीं चाहिये. इससे सिद्ध हुआ कि वृत्त्यर्थ या प्रतिष्ठार्थ भगवत्सेवा करनेवाले इस पुष्टिमार्गमें ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा प्रदान करनेके अधिकारी नहीं होते.

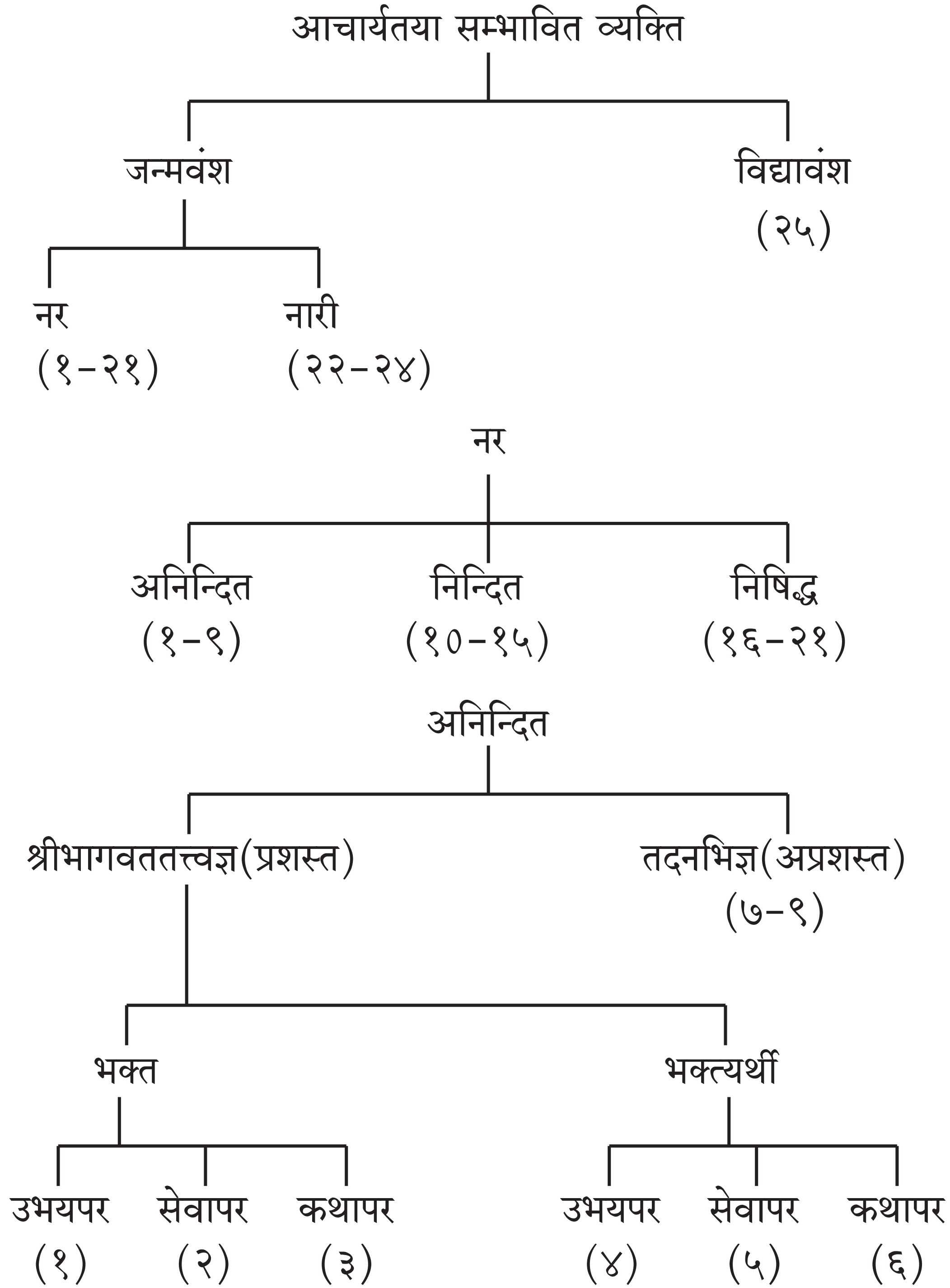
उल्लेखनीय है कि इस सन्दर्भमें महाप्रभुने ''कृष्णभक्तिपरं वीक्ष्य'' न कहकर ''दम्भादिरहितं कृष्णसेवापरं वीक्ष्य'' कहना पसन्द किया है. इससे भी यही सिद्ध होता है कि भक्त होनेके कारण अथवा भक्त्यर्थी होनेके कारण जो कृष्णसेवापरायण होता है वही गुरु बन सकता है. वृत्त्यर्थी या प्रतिष्ठार्थी कृष्णसेवापरायण हो तब भी गुरु नहीं बन सकता. ऐसा गुरु कभी वृत्त्यर्थ या पीठाधीशत्वादि-प्रतिष्ठार्थ अपनी भगवत्सेवाके प्रदर्शनतया छप्पनभोगादिके मनोरथ करेगा ही नहीं. अतएव ऐसा ही गुरु अपने शुद्ध शुद्ध उपदेशसे, श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणके अनुसार, कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यदम्भादिकी उत्ताल तरंगोंके थपेड़े खाकर भवसागरमें डूबने जा रहे पुष्टिजीवको उबारकर पुष्टिप्रभु तक पहुंचा पायेगा.

### (ग)

इस विभागके वचनोंमें श्रीहरिरायचरणने भी भक्त अथवा भक्त्यर्थी

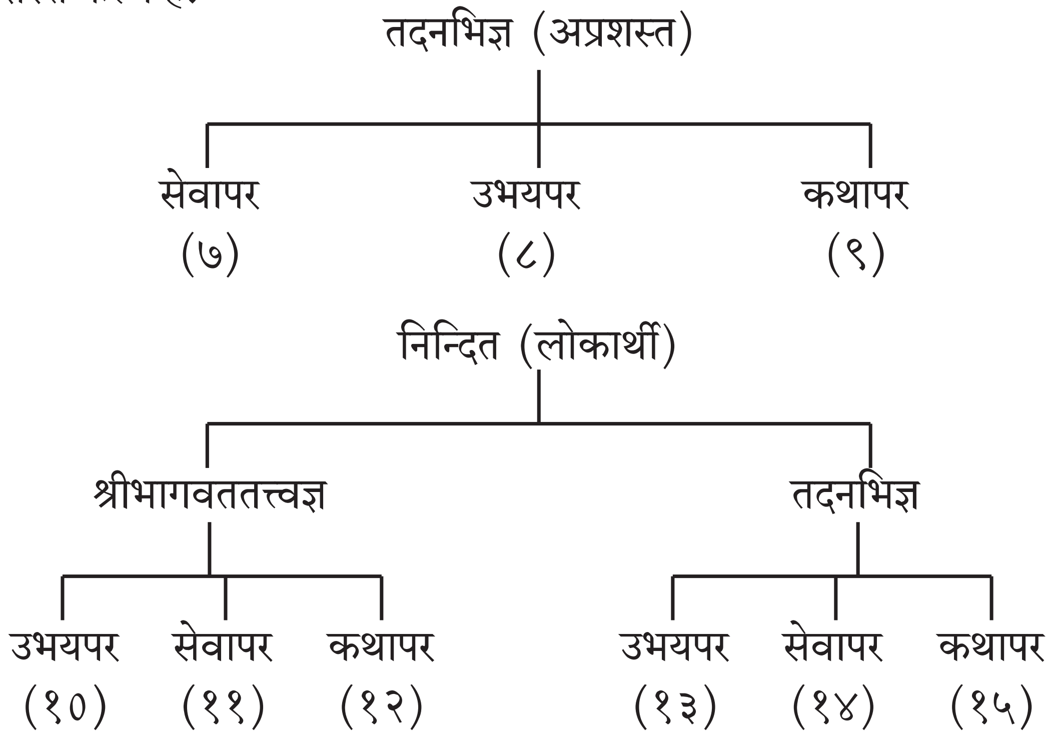
दोनोंका संग्राहक 'भक्तिमार्गीय'पद प्रयुक्त किया है. इतनी बड़ी जबरदस्त छूट देनेके बावजूद निरतिशय दयालुता प्रकट करते हुए श्रीहरिरायचरण कहते हैं कि इतना भी कोई पुरुष जब अपने आपको गुरुपदके लायक बना न पाता हो तब भी वह कमसे कम उपदेश तो श्रीमहाप्रभुके सिद्धान्तके अनुसार सच्चा सच्चा कर ही सकता है. ऐसेसे भी ब्रह्मसम्बन्ध लिया जा सकता है. उदाहरणतया स्वयं सर्दी-जुकामका रोगी चिकित्सक भी सच्ची औषधि यदि चिकित्सार्थीको देता है तो चिकित्सार्थी स्वस्थ हो सकता है. रोगी चिकित्सक, परन्तु, अपने पास निदान-चिकित्साकेलिये आनेवाले रोगीको स्वास्थ्यकारी औषधि देनेके बजाय व्यर्थकी गोलियां या मिक्स्चर केवल वृत्त्यर्थ ही देता रहता हो तो रोगनिवारणके बजाय द्रव्यनिवारण या प्राणनिवारण ही अधिक सम्भव परिणाम लगते हैं! इस अवृत्त्यर्थिता अर्थात् अदम्भ पर भार प्रत्येक सोपानपर अपेक्षित है. नामत: - भगवन्माहात्म्यका उपदेश, भक्तिमार्गीय दीक्षाका उपदेश, भक्तिमार्गीय सेव्यस्वरूपप्रदान, ऐसे स्वरूपके प्रसादका प्रदान आदि. अतएव (ग)विभागीय दोनों वचनोंमें श्रीहरिरायजीने 'दम्भादिरहित' तथा 'अदम्भ' पद सावधानीपूर्वक प्रयुक्त किये हैं.

सूक्ष्मतासे विचार करनेपर आचार्यतया सम्भावित व्यक्तिके सर्वप्रथम दो मौलिक भेद सामने आते हैं: प्रथम जन्मना वंशज और द्वितीय विद्यया वंशज. प्रथम कल्पके अन्तर्गत आचार्यकुलके नर या नारी यों दो उपभेद होते हैं. यहां पुन: तीन कल्प हमारे सामने आते हैं: (१) अनिन्दित (२) निन्दित तथा (३) निषिद्ध. साथ ही साथ इन अनिन्दित आदि तीन प्रकारोंमें श्रीभागवततत्त्वज्ञता या तदनभिज्ञता के दो अवान्तर उपभेदोंमें कृष्णसेवाकथोभयपरता केवलसेवापरता या केवलकथापरता रूप स्वधर्मको भक्ततया, भक्त्यर्थितया, लोकार्थितया अथवा आजीविकार्थितया निभानेवालोंके कारण उभरते अनेक भेदोपभेदके वश गुरुतया सम्भावित कुछ गुरुपदार्ह हो सकते हैं, कुछ गुरुपदार्ह न होनेपर भी गुरुद्वारपदार्ह हो सकते हैं; और अन्य कुछ गुरुतया अथवा गुरुद्वारतया भी सर्वथा वर्जनीय हो सकते हैं. इन्हें अधोलिखित सारणीके आधारपर समझा जा सकता है:




(१-६) : इनमें आचार्यवंशमें जन्म लेनेवाले पुरुषके कल्पके अन्तर्गत, जो अनिन्दित अलौकिकार्थीका उपकल्प है उसमें, जो व्यक्ति भागवततत्त्वज्ञ होनेसे और स्वयं भक्त भी होनेसे कृष्णकी सेवा-कथा दोनोंमें तत्पर हो उसे उत्तमोत्तम कक्षाके गुरुके रूपमें मान्य करना चाहिये. उससे उतरती कक्षापर केवल सेवामें तत्पर;तथा उससे भी उतरती कक्षापर केवल कथामें तत्पर, को समझना

चाहिये. जो स्वयं भक्त होते हैं वे कभी लोकार्थी या आजीविकार्थी तो हो ही नहीं सकते. अत: पुष्टिभक्तिमार्गके प्रचारोपयोगी अशेष माहात्म्य, महाप्रभुका, ऐसोंमें अखण्डित स्वीकारना पड़ता है. इसी तरह स्वयं भक्त न भी हों परन्तु लोकार्थी या आजीविकार्थी न होकर शुद्ध भक्त्यर्थी होनेके कारण भगवानकी सेवा या कथा या दोनों हीमें जो प्रवृत्त होते हैं वे भी कभी लोकार्थी या आजीविकार्थी बनना नहीं चाहेंगे. अतएव भक्त जितनी उत्तम कक्षाके न होनेपर भी इन्हें प्रशस्त कक्षाके ही गुरु मानने चाहिंये. भक्तोंकी तरह भक्त्यर्थियोंके भी तीन उपभेद स्पष्ट सोचे जा सकते हैं. इस तरह भागवततत्त्वज्ञकी कोटिमें भक्तिमार्गीय गुरुओंके छह प्रकार सम्भव हैं. इन्हें आदरपूर्वक गुरुतया सेवनीय माना जा सकता है. ये छहों उत्तम या प्रशस्त कल्प हैं.



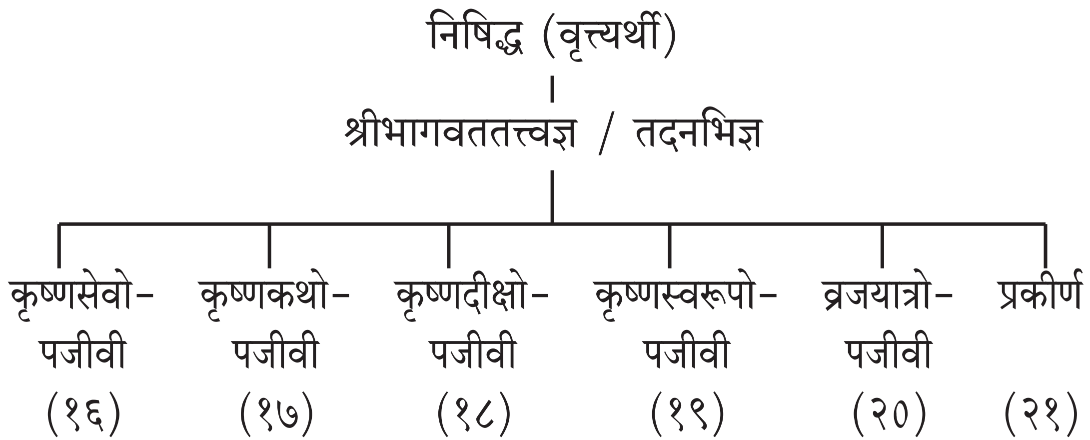

(७-१५): तीन अप्रशस्त कल्प तथा छह निन्दित कल्प- यों ये नौ कल्प, गुरुतया माननीय व्यक्तियोंकी उत्तम कक्षावालोंके कल्प न होकर गुरुद्वारतया माननीय मध्यम कक्षावाले व्यक्तियोंके कल्प हैं. इन सभी प्रकारोंको श्रीहरिरायचरणने ''अथाधुनिकतीर्थानाम् अतथाभूततोपि हि उपदेशः तथाभूत: गुरोरिव फलिष्यति यदि दुःसंगदोषेण नान्यथा चेद् भवेद् मति:'' शब्दावलीसे निरूपित किया है. इनमें सातवेंसे लेकर नौवें कल्प इसलिये 'अप्रशस्त' कहे जा रहे हैं, क्योंकि ये सभी अलौकिकार्थीके प्रभेद होनेसे प्रशस्त होनेपर भी इन्हें

गुरुतया मान्य करनेमें कुछ दिक्कत है. गुरुका उत्तरदायित्व होता है कि वह भागवतप्रमाणमूलक उपदेश शिष्यको प्रदान करे, मनघडंत उपदेश नहीं. प्रस्तुत कल्पगत व्यक्ति, परन्तु, स्वयं गतानुगतिकतया पुष्टिमार्गीय सेवाकथाके प्रकारको भलीभांति अनुसरता है पर भागवतज्ञ नहीं हैं. अतएव ऐसे अज्ञानियोंको गुरु बनानेपर कभी मनघडंत उपदेश मिल जानेका भय बना रहता है. ये अच्छे भक्त हो सकते हैं; अच्छे उपदेशक नहीं.

दसवेंसे लेकर पंद्रहवें कल्प तक लोकार्थीके पूर्वसदृश छह कल्प हैं.''दम्भादिरहितं नरं श्रीभागवततत्त्वज्ञम्''की व्याख्या करते हुवे महाप्रभुने कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत दिये हैं– ''तत्रापि निमित्तानि वारयति 'दम्भादिरहितम्' इति...अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय अन्यथाकरणे न फलसिद्धि: इति अभिप्रायेण आह 'श्रीभागवततत्त्वज्ञम्' इति''. इससे सिद्ध होता है कि काम–लोभ–ोह–दम्भादिमूलक अन्यथाचरण या अन्यथोपदेश एक अलग दोष है तथा अज्ञानमूलक अन्यथाचरण या अन्यथोपदेश कुछ अलग प्रकारका दोष. प्रथम निषिद्ध कोटिमें आता है जबकि द्वितीय निन्दित कोटिमें. इसी तरह भीतर कुछ ठीकसे समझ न पाना पर बाहरसे उचित रीतिसे बरतना; और न बुद्धिसे भलीभांति समझ पाना और न भलीभांति बरत ही पाना, यह एक और प्रकार गड़बड़ीका हो सकता है. इन्हीं सम्भावनाओंको लक्ष्यमें रखकर अनिन्दित कोटिके भागवतानभिज्ञ तथा निन्दित कोटिके भागवततत्त्वज्ञ के बीच रहे सूक्ष्म अन्तरको समझना चाहिये. अत: निन्दित कोटिके अन्तर्गत उत्तरोत्तर अपकृष्ट कक्षाओंवाले छह प्रकार वर्णित हुवे हैं. ये कल्प भक्तिमार्गदृष्ट्या निन्दित निम्नकक्षाओंके हैं, क्योंकि भगवत्सेवा अथवा भगवत्कथा के बाह्यप्रकारोंमे किसी भी निषिद्ध वृत्त्यर्थादिके प्रकारको अपनाते नहीं हैं. अर्थात् ''अनिषिद्धप्रकारेण 'ऐहिकं मे भवतु' इति अनुसन्धाय प्रवृत्तो'' वचनमें निरूपित लोकार्थीका यह प्रकार है. इसकी ही महाप्रभुने ''लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा'' कहकर निन्दा की है. फिर भी श्रहिरिरायचरण कहते हैं कि स्वयं कितनी भी निन्दनीय कक्षाका क्यों न हो, स्वयं समझता हो या न समझता हो, परन्तु महाप्रभु–प्रभुचरणद्वारा उपदिष्ट भजनके प्रकारको तोड़े–रोड़े बिना या छोड़े बिना उपदेश

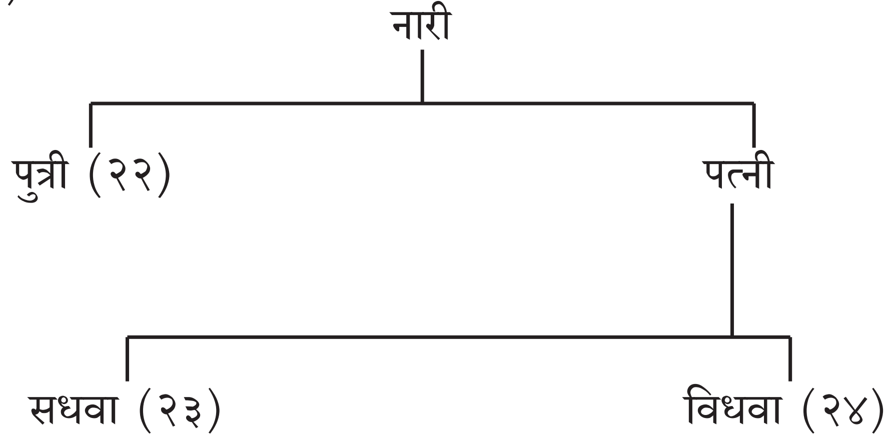
देता हो तो ''तथाभूतगुरोरिव फलिष्यति''=इन गुरुद्वारभूतोंसे भी शिष्योद्धार सम्भव है.

(१६-२०) कल्पोंमें आजीविकार्थ भगवत्सेवा या भगवत्कथा करनेवाले जघन्यकोटिके निषिद्ध अधिकारियोंका संकलन हुवा है. ये श्रीभागवततत्त्वज्ञ हों या अनधीत मूढ, इनमें पुष्टिभक्तिमार्गके प्रचारोपयोगी अशेष स्वमाहात्म्यका महाप्रभुने अशेष अपहरण कर लिया होनेसे इनका संग सर्वात्मना त्याज्य ही होता है. ये गुरुपदके लिये या गुरुद्वारपदकेलिये भी सर्वथा अयोग्य होते हैं. इन सभी प्रकारोंमें, आचार्यवंशज होनेके कारण, स्वरूपलक्षणमें निरूपित योग्यता तो रहती है. फलमुखलक्षणमें निरूपित योग्यतासे किन्तु सर्वथा विपरीतता ही प्रकट होनेसे ये वर्जनीय होते हैं. अपवित्र पात्रमें रखा पवित्र गंगाजल भी आचमनीय नहीं रह जाता है. तद्वत् निषिद्ध महापातकी देवद्रव्योपजीवन अथवा देवलकता रूप पाषण्डके कारण ऐसे व्यक्ति सर्वथा अस्पृश्य असम्भाषणीय अदर्शनीय जब माने गये हैं तब इनका गुरुतया अथवा गुरुद्वारतया संग अनुमोदनीय कैसे हो सकता है ? स्वयं महाप्रभुने ऐसोंको अपना माननेसे जब इन्कार कर दिया है तब इन्हें वाल्लभ सम्प्रदायमें गुरु या गुरुद्वार कैसे माना जा सकता है ?




यहां प्रकीर्णके अन्तर्गत मालापहेरामणीमें उछामणी आदिकी भेंट बटोरनेवाले, कहाड़ीभेंट, यमुनायाग, लोटीजीकी नीलामी, प्रसादविक्रय आदि पुष्टिमार्गमें निषिद्ध वृत्तियों द्वारा जीवननिर्वाह करनेवाले तथा अन्य भी लोक-वेदमें सत्पुरुष या धर्माचार्य ब्राह्मणकी हैसियतसे निषिद्ध वृत्तिओंका समाश्रयण

करनेवालोंका परिगणन कर लेना चाहिये. (विशेष जिज्ञासापूर्त्यर्थ पृ. ३८२-३८३ देखें).




(२२-२४) इन तीन कल्पोंमेसे प्रथममें आचार्यवंशसे सम्बद्ध होनेपर भी गुरुके लक्षणान्तर्गत नर न होनेके कारण अनुपनीतता है अतः अद्विजता है. क्योंकि महाप्रभुके अनुसार ''ब्राह्मण्यं न जातिः, व्यक्तिसद्भावेपि तस्यापगमात्, 'ब्राह्मण्यादेव हीयते' इति वाक्यानुरोधात् च...ब्राह्मण्यं नाम काचिद् देवता. सा यस्मिन् देहे अभिव्यक्ता भवति ते 'ब्राह्मणा' इति उच्यन्ते...सा च उपनयनेन देहे समायाति.'' (सुबो. २।१।३७). अतः आचार्यवंशजोंकी पुत्रिओंमें उनके किसी द्विजके साथ विवाहित होनेके पूर्व द्विजत्व ही नहीं होता. गुरुपदकेलिये यदि अद्विजको भी अधिकारी मानना हो तब तो पुष्टिमार्गीय सभी अद्विजोंको गुरुपदकेलिये अधिकारी मानना पड़ेगा. उनका भी ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा प्रदान करनेका अधिकार मान्य करना पड़ेगा. द्विजसे विवाहित होनेके बाद आचार्यवंशज पुत्रिओंमें द्विजत्व तो आता है परन्तु तब वे आचार्यकुलकी नहीं रह जाती. अन्यथा इन आचार्यवंशजाओंके वंशजोंका भी अधिकार मान्य करना पड़ेगा. जैसे विवाहके बाद आचार्यकुलमें परिणीत स्त्री आचार्यकुलकी हो जाती है ऐसे ही आचार्यवंशजा कन्या विवाहके बाद आचार्यकुलकी नहीं रह जाती. अतएव पुत्रिओंको पुष्टिमार्गीय ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा प्रदान करनेका अधिकार नहीं है.

आचार्यकुलमें विवाहित स्त्री अपने पतिकी विद्यमानतामें 'गुरुपत्नी' कहलाती है, 'गुरु' नहीं. अविद्यमानतामें, किन्तु, ''आचार्यकुलाद् = गुरुगृहाद् गुर्वभावे तत्पत्न्यां तत्पुत्रे तद्गोत्रे वा ब्रह्मचर्यम् इति ज्ञापयितुं 'कुल'पदम्''

(अणु.भा. प्रका.३।४।४७) इस वचनके बलपर गुरुत्व प्राप्त होता है. अतएव 'आचार्याणी'तथा 'आचार्या' ऐसे दो पृथक पदोंके स्त्रीलिंगमें प्रयोग व्याकरणशास्त्रमें मान्य किये गये हैं. सधवा आचार्यपत्नी होती है तथा विधवा आचार्यत्वका उत्तरदायित्व वहन करनेवाली आचार्या बन सकती है. नारीके कल्पमें इस अपवादको भी स्पष्टतया समझ लेना आवश्यक है.

(२५) इस कल्पके अन्तर्गत आचार्यवंशजेतर नरमें फलमुखलक्षणके विद्यमान होनेपर उत्कृष्ट भगवदीयके रूपमें उसके साथ सत्संग अवश्य किया जा सकता है–गुरुतया संग नहीं. ऐसे भगवदीयोंके साथ सत्संगादिका लाभ लेकर भक्तिमार्गमें मूल आचार्य, अर्थात् महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य(= गोस्वामी श्रीगोपीनाथ एवं श्रीविठ्ठलनाथ प्रभु)चरणोंमें गुरुबुद्धि रखते हुए स्वयमेव कृष्णसेवामें प्रवृत्त होनेका कल्प भी महाप्रभुने ही समझाया है :

**मूल :**

**तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् ।**
**परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम् ।।**

(त.दी.नि. सर्वनि. २२८).

**भावानुवाद :** पूर्वोक्त लक्षणयुक्त गुरुके न मिलनेपर (अर्थात् कहीं स्वरूपयोग्यता होनेपर फलमुखयोग्यतासे वैपरीत्य और कहीं फलमुखयोग्यता होनेपर स्वरूपयोग्यतासे वैपरीत्य के दर्शन होनेपर) स्वयमेव स्वतोलब्ध भगवत्स्वरूपकी सेवामें स्वतः ही प्रवृत्त हो जाना चाहिये.

इसकी व्याख्या करते हुए आवरणभंगमें श्रीपुरुषोत्तमजीने कुछ स्पष्टीकरण दिये हैं जो प्रत्येक पुष्टिमार्गीयकेलिये अब सर्वथा मननीय हैं. वे कहते हैं : ''आगे चलकर कलियुगके बलिष्ठ होनेके कारण निज वंशजोंमें गुरु होनेके लायक लक्षण नहीं दिखलाई देंगें. तबकी व्यवस्था महाप्रभु समझाते हुए स्वयंमें ही गुरुत्व सीमित करना चाहते हैं. यहां ''तदभावे...'' आज्ञाका दैन्यभावपूर्वक अनुसरण करनेकेलिये यदि कोई स्वयमेव भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाता हो तो

धर्मका आभास छल या पाषण्ड नहीं मान लेना चाहिये और न मूढ़ता ही. स्वयमेव भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेवाले भक्त या भक्त्यर्थी को सेवाके प्रकारके बारेमें कुछ जिज्ञास्य हो तो भगवदीयोंसे मिलकर पूछकर जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये. (द्र. त.दी.नि. सर्वनि. प्रका. आव.भं. २२८).

स्पष्ट है कि यह पुष्टिमार्गियोंके लिये आपत्कालीन व्यवस्था है, जो स्वयं महाप्रभुद्वारा ही उपदिष्ट हुई है.

## (घ)

इस विभागके वचनोंके अन्तर्गत प्रथम वचनमें हमने देखा कि वृत्त्यर्थ कृष्णनामदीक्षाको भी निन्दनीय माना है. द्वितीय वचनमें, यद्यपि, गुरुत्वको ही वृत्तित्वेन धर्म्य माना है तो भी दोनों वचनोंकी एकवाक्यता इसी तरहसे हो सकती है कि शिष्यको उसके कर्तव्यके उपदेश करनेकी जो शास्त्रद्वारा अनुमोदित वृत्ति है उसे हमें अपनानी चाहिये.निर्धारित धनराशि लेकर ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा प्रदान करना,शिष्यवृद्धि, ख्यातिवृद्धि, प्रतिष्ठावृद्धि,ऐश्वर्यवृद्धि के चक्कर चलानेके मनोभावोंपर काबू पाना चाहिये. ‘‘पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकमदम्भतः’’ (त.दी.नि. सर्वनि. २४३) - ‘‘पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितं, वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि, तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेत्’’ (त.दी.नि. सर्वनि. २५३-२५४) - ‘‘एतदभ्यसनाल्लोको मुच्यतेऽनुपजीवनात्. परमत्र एको दोषः - तदुपजीवनम् इति...वृत्त्यर्थमुपायो न कर्तव्यः’’ (त.दी.नि. सर्वनि. ६७) - ‘‘इदं नामात्मकं भगवतो रूपं तत् स्वविक्रेतरि विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति’’ (त.दी.नि. भाग.नि. १।२७) आदि अनेक वचनोंके कारण तथा स्वयं विमर्शकारद्वारा उद्धृत ‘‘एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थः असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते’’ (विमर्श पृ. १७) न्यायके आधारपर भी जैसे भगवत्स्वरूपात्मक होनेसे भागवतका वृत्त्यर्थ विनियोग उचित नहीं होता वैसे ही भगवत्सेवा या साक्षात् भगवत्स्वरूप का भी वृत्त्यर्थ उपयोग पुष्टिमार्गमें कैसे अनुमोदनीय हो सकता है ! कण्ठमें प्राण अटके हों तब भी वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाका तो स्वप्न भी नहीं देखना चाहिये !! स्वप्न भी दिखता हो तो उसे अपने पापोंका उसे उदय मानना चाहिये !!!

(ङ)

इस विभागके वचनोंकी (घ)विभागीय जलभेदव्याख्याके वचनके साथ एकवाक्यता करनेपर, अर्थात् ''तत्रापि वित्तदातुः सत्फलं प्रतिगृहीतुस्तु संसारोत्पत्तिः'' – ''यो वदक्त्यन्यथावाक्यम् आचार्यवचनाज्जनः, संसृतिप्रेरको वापि तत्संगो दुष्टसंगमः'' वचनोंकी परस्पर एकवाक्यताके आधारपर ''अवाञ्छनीय लक्षणयुक्त गुरुका संग = दुष्टसंग'' समीकरण भी स्वीकारना ही पड़ेगा. अन्यथा कभी न कभी पुष्टिमार्गीगुरुपदाकांक्षी आचार्यवंशज गोस्वामिओंको वृत्त्यर्थ भगवत्सेवाका प्रकार त्याज्य मानना ही पड़ेगा.

वृत्त्यर्थ भगवत्सेवा न करनी हो तो तनुवित्तजा सेवामें तनुवित्तके द्वन्द्वको अविग्रहार्ह मानना पड़ेगा ! इस तरह जब भगवत्सेवाद्वारा धनप्राप्तिकी आशा ही रह नहीं जायेगी तब जनताकेलिये भगवत्स्वरूपके प्रदर्शनकी वृत्तिमें भी स्वतः अरुचि पनप जायेगी. फलरूपेण श्रीहरिरायचरणद्वारा उपदिष्ट आदर्श मूर्तिमान हो पायेगा – ''**तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः ।**

**न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये ।।**

**श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन ।**

**न ( विमर्श )कल्पितप्रकारेण न ( पीठाधीशत्वप्राप्ति )दुर्भावसमन्वयात् ।।**''

( शिक्षापत्र १८।१२-१३ ).

क्या अब भी इसके भावानुवादको प्रस्तुत करनेकी अपेक्षा बची रह गई है ?

*

# *सिद्धान्तसार*

**यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सो अधमः इति.**

–सुबो. २।९।१९.

**जो स्वार्थ (वृत्त्यर्थ भूत्यर्थ प्रतिष्ठार्थ) भगवत्सेवा करता हो उसे ( पुष्टिसम्प्रदायमें ) अधम ( जघन्य गुरु एवं अनुयायी ) समझना चाहिये.**

– महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य.

# उपसंहार

इस तरह प्रस्तुत विषयके वाचनिक पक्षोंके विचारके बाद उपसंहारतया अब अन्तमें विमर्शकारद्वार पृष्ठ १५३पर प्रस्तुत युक्ति–'' 'वल्लभकुलके गोस्वामी यदि देवद्रव्यभक्षण करते होते तो वंशनाश हो गया होता. क्योंकि, चौरासी वैष्णवकी वार्ताके अनुसार ''तब श्रीगोपीनाथजी कहें – 'तिहारो कहाईके श्रीठाकुरजीकी वस्तुमें अपनो मन करेगो ताको निर्मूलनाश होय जायेगो.' तब श्रीआचार्यजी कहें – 'हमारो मारग तो ऐसो ही है.' सो द्रव्यतें कछुक गोपीनाथजी प्रसन्न भये हते सो एक पुत्र भयो परन्तु वंश नाहीं चाल्यो''(चो.वै.भा.प्र. ३।८). अत: इस वचनमें स्थापित नियमके आधारपर वंश नष्ट हो गया होना चाहिये था परन्तु वंश तो विद्यमान है ही. इससे सिद्ध होता है कि वल्लभवंशमें किसीने देवद्रव्यका भक्षण नहीं किया है.' ''

साथ ही साथ– ''जो जो कुल देवद्रव्यका भक्षण करते हैं उनका निर्मूलनाश होता है'' ऐसी व्याप्ति मानी है और ''जो जो कुल निर्मूल नष्ट हुए हैं उनमें देवद्रव्यभक्षण हुआ ही होना चाहिये'' ऐसी व्याप्ति नहीं मानी जा सकती यह खुलासा भी दिया है (सम्भवतः भूतकालकी तरह वर्तमानमें भी कई गोस्वामी बालकोंके वंश चलनावाले नहीं हैं ऐसे तथ्यके उजागर होनेसे – गो.श्या.म.).

वैसे तो देवद्रव्यभक्षण और वंशनाश के बीच उल्लिखित वार्तावचनके आधारपर जो हेतु–हेतुमद्–भावका सम्बन्ध समझमें आता है वह व्याप्तिग्राहिका सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिद्वारा ग्रहीत होता प्रत्यक्षदृष्ट सम्बन्ध तो नहीं है. इस नियमको, अतएव, आनुमानिक भी नहीं माना जा सकता. यह तो शुद्ध वाचनिक हेतु–हेतुमद्–भाव है. अतः विमर्शकारको अभीष्ट यहां श्रुतार्थापत्ति है या अनुमान – यह जिज्ञास्य बन जाता है !

इसे श्रुतार्थापत्ति स्वीकारनेपर वंशनाशाभावान्यथानुपपत्त्या वार्तामें श्रुत जो वंशनाशहेतुभूत देवद्रव्यभक्षण है, उसके अभावकी अर्थापत्ति स्वीकारनी होगी. यदि अनुमान लेते हैं तो ''श्रीवल्लभकुलं देवद्रव्यभक्षणापराधरहितम्, अनष्टवंशत्वात् वंशसातत्यात् वा, यत्र यत्र अनष्टवंशत्वं वंशसातत्यं वा तत्र तत्र

देवद्रव्यभक्षणापराधरहितत्वम्'' ऐसा कुछ आकार अनुमानका स्वीकारना पड़ेगा.

वैसे तो इस वाचनिक नियमको यौक्तिक न बनाना ही उचित था परन्तु विमर्शकारने क्योंकि वह कृत्य कर ही दिया है तो, जहांतक युक्ति जाती है वहांतक, अकाम भी यौक्तिक चिन्तनद्वारा अनुधावन करना ही पड़ेगा. परिणाम चाहे नितान्त अवाच्य अचिन्तनीय क्यों न हो पर ''उत्प्रेक्षितस्य ह्यगतिर्न विद्यते''न्यायसे विमर्शकारद्वारा उत्प्रेक्षित युक्तिके अनुसरणार्थ बाधित होकर कुछ लिखना पड़ रहा है.

स्पष्ट है कि ''यत्र धूमः तत्र वह्निः'' व्याप्तिमें ज्ञापकहेतुभूत कार्यद्वारा कारकहेतुभूत कारणकी अनुमिति की जाती है. तद्विपरीततया विमर्शकार यहां कारकहेतुभूत देवद्रव्यभक्षणको ही ज्ञापकहेतु भी बना रहे हैं:''यत्र यत्र देवद्रव्यभक्षणं तत्र तत्र निर्मूलो नाशः इति व्याप्ति'' (विमर्श पृ.१५३). जब कोई ऐसा व्याप्तिनियम घड़े कि ''यत्र वह्निः तत्र धूमः'' तब ऐसे हेतुका अयोगोलकमें व्याप्तिव्यभिचार दिखलाते ही व्याप्तिनियम खण्डित हो जाता है.

वैसे तो तर्कशास्त्रका यत्किञ्चित् अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी भी इस तथ्यको भलीभांति जानते ही होते हैं कि कारणसे जब कार्यका अनुमान करना हो तब कारणसामग्रीके उल्लेख करनेके बजाय सामग्रीघटक एकाद किसी कारणका हेतुतया उल्लेख करनेपर हेतु सोपाधिक बन जाता है. उदाहरणतया ''पर्वतो धूमवान् वह्नेः'' कहनेपर धूमका एक कारण जैसे वह्नि होती है ऐसे ही दूसरा कारण आर्द्रेन्धनसंयोग भी होता है. दोनोंके साहित्यके अभावमें केवल वह्निसे धूम उत्पन्न नहीं होता. अतएव ऐसे हेतुको 'सोपाधिक' कहा जाता है.

इसी तरह यदि देवद्रव्यका अभक्षण भी वंशसातत्यकी कारणसामग्री होती या देवद्रव्यका अभक्षण वंशसातत्यका एकमात्र कारण होता तो व्यतिरेकव्याप्तिद्वारा अनुमान शक्य था. देवद्रव्यभक्षणको यदि वंशसातत्यका एकमात्र हेतु या कारणसामग्री मानते हैं तो सद्योजात शिशु या मरणासन्न वृद्ध भी संततिजनक होने लगेंगें, देवद्रव्याभक्षी हों तो. अन्यथा हम जानते हैं कि वंशसातत्य कभी बीज और क्षेत्र की उभयजन्यतासे प्रयुक्त होता है. कभी

विवक्षित बीजके राहित्यसे विशिष्ट केवलक्षेत्रजन्यतासे प्रयुक्त भी हो सकता है. कभी दत्तकविधानवश भी वंशसातत्य हो सकता है. वैसे जहांतक विमर्शकारकी मान्यताओंका सवाल है इनमेंसे कुछ भी न रहनेपर किसी एकको दिये जानेवाले ठाकुरजी जिस किसीके मांथेपर बादमें बिराजमान हो जायें केवल इतनेसे हेतुके कारण भी वंशसातत्य हो जाता है! उदाहरणतया न तो श्रीयदुनाथजीकी औरसपुत्रपरम्परामें और न दत्तकपुत्रपरम्परामें ही होनेके बावजूद केवल श्रीबालकृष्णलाल ठाकुरजी, क्योंकि, प्रभुचरणने श्रीयदुनाथजीको पधराने चाहे थे –बस इतने ही हेतुके बलपर विमर्शकार अपने–आपको श्रीयदुनाथगृहोद्भव–श्रीयदुनाथपरम्परोद्भव–श्रीयदुनाथवंशोद्भवतया भी बिरदवाना चाहते हैं! किसीके ठाकुरजीकी ऐसी छीनाझपटी कर लेनेसे वंशसातत्यकी अश्रुतपूर्व कारणसामग्री जब स्वयं विमर्शकारने ही मान्य रखी है तब केवल देवद्रव्यके अभक्षणको वंशसातत्यका एकमात्र हेतु कैसे माना जा सकता है? 'पुष्टिमार्गीय पीठाधीश: स्वरूप और कर्तव्य' ग्रन्थमें, अतएव, हमने सावधान करनेका प्रयास किया था कि ऐसी कारणसामग्रीकी कुकल्पना करनेपर सभी एकदूसरेके ठाकुरजीकी छीनाझपटी शुरु करके एकदूसरेके गृहोंके मालिक होनेका दावा करने लग जायेंगें! बावजूद इसके विमर्शकारने इस गम्भीर समस्यापर ध्यान देनेके बजाय मिथ्या प्रचार चालु ही रखा है. इसे सत्य माननेपर, परन्तु, यह व्याप्तिनियम खण्डित हो जाता है और व्याप्तिनियमको प्रामाणिक माननेपर षष्ठपीठाधीशत्व डावांडोल होने लगेगा.*

(*इस सन्दर्भमें हम अपने भी इन दो श्लोकोंको यहां उद्धृत करना चाहेंगें :

''क्रीडायां बाल्यकाले प्रभुचरणरतेः वर्द्धकत्वाद्धि यस्य
पश्चात्तु स्वात्मजेभ्यः स्वनिधिवितरणे दित्सया पुष्टभावात्।
श्रीमत्सप्तस्वरूपोत्सवभवकलहे वाल्लभैः हि स्वरूपैः
तुल्यत्वस्योपदेशात् निखिलनिधिसमस्थापनात् सेवनाच्च।।
आचार्यैर्वान्ववायै: नहि भवति भिदा सेवने पुष्टिरूपे–
ष्वित्थं सिद्धे कृतान्ते निरुपधिभजने भावभेदादनंगी–
कारेप्येवं विभक्तौ यदुपतिसदनाकारकत्वं विभाव्य
षष्ठत्वं वर्णितं ते कविभिरपि मुधा वस्तुतो बालकृष्णः।।

अर्थात् श्रीमत् विट्ठलनाथ प्रभुचरणकी बाल्यावस्थाकी क्रीडामें रतिवर्धक होनेके कारण, बादमें अपने सप्त आत्मजोंको अपने निधिस्वरूपोंके वितरणके समय पुष्ट करके श्रीयदुनाथजीको पधरानेकीं इच्छाके कारण, श्रीयदुनाथजीके मनस्तापके समाधानमें ''ठाकुरजीमें छोटो-बड़ो कहा ?'' वचनद्वारा महाप्रभुद्वारा पुष्ट किये गये सभी स्वरूपोंके साथ श्रीबालकृष्णलालकी तुल्यताके निरूपणसे भी, और सप्तस्वरूपोंके सम्मिलित अन्नकूटोत्सवमें श्रीबालकृष्णलालको साथ पधरानेके व्यवहारद्वारा भी यह सिद्धान्तित हुआ ही था कि महाप्रभुके निधिस्वरूपों या उनके वंशजोंके निधिस्वरूपोंमें परस्पर छोटे-बड़े स्वरूप होनेका तारतम्य होता नहीं है. यह निरुपधि भजनके विचारसे कही गई बात है. फिर भी किसी भावभेदवश श्रीबालकृष्णलाल ठाकुरजीको न स्वीकारनेवाले श्रीयदुनाथजीको बंटवारेमें मिले ठाकुरजी न होनेपर भी इन्हें कविओंद्वारा षष्ठनिधि माना जाता है. यह ठीक है क्योंकि षष्ठी विभक्ति कभी कारक नहीं होती. ऐसे ही यदुनाथगृह-कारक न होनेके कारण ही कविजनोंने श्रीबालकृष्णलाल ठाकुरजीको व्यर्थ ही षष्ठनिधि मान लिया है. अन्यथा श्रीद्वारकेशजी भावनावाले तथा सुरतके घरसे द्वितीय घरमें गोद आनेवाले रश्मिकार श्रीगोपेश्वरजी तो श्रीद्वारकाधीशके गोदके ठाकुरजी  ही इन्हें मानते हैं. इसकी विस्तृत विवेचना आगामी प्रकरणोंमें की जायेगी.)

प्रकृतमें कारणताघटक तत्त्वोंके इतने वैविध्यके कारण देवद्रव्याभक्षणको वंशसातत्यका एकमात्र हेतु माना नहीं जा सकता है. फिर भी यदि अनुमान करना ही हो कि वल्लभकुलमें किसीने भी देवद्रव्यका भक्षण नहीं किया है, क्योंकि वल्लभकुलका निर्मूल नाश नहीं हुआ है. जहां-जहां देवद्रव्यभक्षण किया जाता है वहां वहां निर्मूलनाश हो जाता है, अर्थात् वंशसातत्य नहीं रह जाता है, ''यन्नैवं तन्नैवं''. तो ऐसे हेतुको अप्रयोजक, अर्थात् ''हेतुरस्तु साध्यं मास्तु'' कहकर अनुकूलतर्कके अभावमें दोषयुक्त ही मानना पड़ेगा.

फलरूपेण यदि श्रुतार्थापत्ति विमर्शकारको अभीष्ट है ऐसा मानकर चलें तो उसमें अन्यथानुपपत्तिका बल होना आवश्यक होता है. वह पूर्वपरिगणित अनेकानेक हेतुओंके कारण अन्यथा उपपत्तिकी सम्भावनाओंको विचारनेपर श्रुतार्थापत्तिको सर्वथा कुण्ठित ही बना देता है.

ऐसी निरर्थक बातोंसे विमर्शकार वस्तुतः किसे बरगलाना चाहते हैं – यह समझमें नहीं आया!

वैसे प्रामाण्याप्रामाण्यकी तो भगवान ही जाने, फिर भी सत्सिद्धान्तमार्तण्डकारने तो इस विषयमें भी शाण्डिल्यसंहिता भक्तिखण्डसे वचन उद्धृत कर रखें हैं कि पुष्टिसम्प्रदायमें कुछ कालके बाद आचार्यपराङ्मुखोंके कपटके कारण पुष्टिमार्ग ही विलिन हो जानेवाला है:''विरलेष्वेव भविता सम्प्रदायोत्यनुत्तमः, आश्चर्याणि चरित्राणि कृत्वा नानाविधान्यसौ, स्थापयिष्यति वै तस्याः पारम्पर्यक्रमं कुलम्, समुद्धृत्य ततो जीवान् हरेः प्रीतिं करिष्यति, ततः कतिपये काले कालदोषप्रभावतः, विलयं यास्यति पन्थाः कापट्येनाकुलः परः, परदोषान्वितैः पुंभिः निजाचार्यपराङ्मुखैः (द्र. सत्सि.मार्त.प्रश्न.२।४।१२). यदि यह वचन प्रामाणिक है तो विमर्शकारोत्प्रेक्षित हेतु शास्त्रवचनबाधित होनेसे भी दुष्ट ही सिद्ध होता है. अस्तु.

अतः अन्तमें पुनः अपनी हृदयव्यथाजन्य शुभेच्छा प्रकट करते हुए –

**श्रीमद्वल्लभवंशवृक्षजनितं भक्त्येकहेतुः फलं**
**भूयात् तद् भुवि भोग्यभावभरितं कृष्णैकतोषे परम्।**
**वृत्त्यर्थं भगवत्प्रदर्शनविधौ पातित्यमासादयत्**
**कष्टं भो कलिकाकदष्टमिह तद् दृष्ट्वापि सीदेन्न कः ।।**

इस तरह गोस्वामि–श्रीदीक्षितात्मज श्याममनोहर द्वारा विरचित सेवा–देवद्रव्यादिविमर्श तथा सेवा–देवद्रव्यादिसारसंग्रह क्रोडपत्रकी विशोधनिकामें ''शास्त्रीय सन्दर्भमें: पुष्टिमार्गीय सेवार्थ आजीविकास्वरूप'' नामक द्वितीय प्रकरण यहां समाप्त होता है.

***।।सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नो भवतु।।***

# *वचनामृत – ३०*
## *( शिष्टाचार और पूर्वजाचार का तारतम्य )*

अब आप तीसमो वचनामृत आज्ञा करत हैं. ...आचार्यत्व दोउनको है जो श्रीमहाप्रभुजीको और श्रीगुसांईजीको. श्रीसुबोधिनीजी चतुर्थस्कन्धके चार अध्यायनपे श्रीगुसांईजीने करी है. परि श्रीमदाचार्यचरणकी आज्ञा न भई सो तासों प्रकरण न चल्यो. सो ताको अभिप्राय यह है जो श्रीमद्भागवत है सो श्रीनाथजीको स्वरूप है; और श्रीसुबोधिनीजी है सो श्रीस्वामिनीजीको स्वरूप है. सो जितने अंगकी योग्यता होय सो तितनो निरूपण करे हैं. सो तासों प्रथमस्कन्ध, द्वितीयस्कन्ध, तृतीयस्कन्ध, दशमस्कन्ध, एकादशस्कन्ध के चार अध्याय तांई आपने करे हैं. सो दर्शन देत हैं. और स्कन्धमें जहां टीकाको काम परे तहां निबन्धमें तत्त्वदीप भागवतार्थप्रकरण है. सो तामें देखि लेनो... और श्रीसुबोधिनीजीमें काहू ठौर सन्देह रही जाय तो श्रीगुसांईजीने टिप्पणीमें सन्देह निवृत्त कियो है. और श्रीसुबोधिनीजीके उपर लालुभट्टने योजना करी है. सो ये सब ग्रन्थ श्रीभागवतजीके उपयोगी है...तब आपने आज्ञा करी जो प्रथम तो आज्ञाप्रमाण चलनो और श्रीसर्वोत्तमजीको अवगाहन बहोतसो राखनो. सो तब कृपा होय.ओर सर्वोत्तमजीकी टीका पांच-सात बालकनने करी है. परि श्रीबालकृष्णजी महाराजने करी है वह सर्वोपरि है. सो तिनको नाम सर्वोत्तमभाष्य है. सो छे हजार श्लोक पूर है. सो टीका हमने सरस्वतीभण्डारमें ढूंढी, पर पाई नाहीं... सो तासों कहू पोथी चली गई होय – ऐसो दीसत है. सो हमहू कृष्णगढ़ गये. सो सोध तो बहोत करी परि कहू ठीक परी नाहीं. सो या पोथीमें चित्त बहोत है. परि भगवदिच्छासों मिले तब. सो तब मनोरथ सिद्ध होय. और हू श्रीबालकृष्णजी महाराजने ग्रन्थ बहोत करे हैं. सो पुस्तकालयमें हैं. और श्रीभागवतकी पाठ करिवेकी पुस्तक है. सो डोलतिवारीमें बिराजत है. सो जामें सोधन अपने श्रीहस्तको है. और श्रीबालकृष्णजी महाराजके ज्येष्ठपुत्र हैं सो श्रीद्वारकेशजीको...सों श्रीगुसांईजीने नाम केसरीरायजी धर्योहै... सो श्रीद्वारकेशजी महाराजने नामामृत ग्रन्थ कियो है. सो श्रीबलकृष्णजीके अष्टोत्तरशत नाम हैं. सो अति ही मनोहर है. सो ताको पाठ घरके बालक

बहुबेटीनको तथा वैष्णवनको अवश्य करनो चाहिये. जो सर्वोत्तमवत् है, सो ताकी टीका हमने अमथाके पास मथुरामें लिखाई है... और श्रीकल्याणरायजीने हू अनेक वादके ग्रन्थ किये हैं. और श्रीहरिरायजीने तो आधुनिक जीवनके उपर बड़ी कृपा करी है. जो शिक्षापत्र प्रकट करे हैं. सो ताकी टीका श्रीहरिरायजीके भाई श्रीगोपेश्वरजीने करी है. सो तासों सब जीवनको सुगमता भई. और श्रीबालकृष्णजीके चौथे लालजी श्रीपीताम्बरजीके वंशमें श्रीपुरुषोत्तमजी लेखवारे जाने हैं सो प्रसिद्ध है. सो विनने हू भाष्यपे प्रकाश कियो है. और अनेक ग्रन्थ वादके किये हैं. सो काशीमें दिग्विजय करिके सब पण्डितनकों जीते. सो सबनके पासतें विजयपत्र लियो. सो आप तो प्रबल पण्डित हते. और चांपासनीवारे श्रीविट्ठलरायजी श्रीसुबोधिनीजीकी कथा बहोत सुन्दर कहिते. सो जामें सब कोऊ समुझे सो ऐसे आज्ञा करते. सो स्त्री तथा बालक तथा वृद्ध पर्यन्त सबको समुझावते. और गोस्वामी श्रीगोपीनाथजी हू बड़े पण्डित हते. सो कछु ग्रन्थ किये. सो तिनकी तो कछु खबरि नाहीं. और श्रीकाकाजी श्रीव्रजभूषणजीने श्रीबालकृष्णजीके सहस्रनाम कीये हैं. और श्रीव्रजाभरणजी दीक्षितजीने वादके ग्रन्थ तथा वल्लभाख्यानकी टीका करी है. जो अबके समयमें काशीवारे श्रीगिरिधरजी सरिखे पण्डित नहीं सुने हैं. सो तापर एक प्रसंग चल्यो, जो श्रीगोकुलनाथजीके टीकायत श्रीलक्ष्मणजी महाराज हते. सो रीवां गांव पधारे... सो राजा तो रामानुजाचार्य सम्प्रदायको सेवक हतो...पाछे रस्तामें रामानुजसम्प्रदायके दस बारह पण्डित बैठाये और महाराजकों पधरायवेकों आसामी पठायो. सो तब महाराज पधारे. सो तब तो सब पण्डितने रोके जो आप वाद करिके पधारो. सो तासों म्याना पाछो फिरायो. सो रीवां छोड़िके पधारे. सो तब तो यह बात काशीमें श्रीगिरिधरजीने सुनी. सो तब रामकृष्ण शास्त्रीको संग लेके शीघ्र रीवांको पधारे. सो रामकृष्ण शास्त्रीकों तो राजद्वारमें पठायो और कहेवाई जो जाको कछु पूछनो होय सो आयके पुछो. सो तब यह बात सुनिके राजा सब पण्डितनकों संग लेके आपके दर्शनको आयो... फेरि गिरिधरजी आज्ञा करी जो जाको जो प्रश्न करनो होय सो करो. सो तब पण्डितनने प्रश्न कर्योजो तब सब पण्डितनको निरुत्तर कर दियो. सो तब राजाने विनती करी जो कृपानाथ! मोकों शरण लीजिये. सो तब आपने आज्ञा करी जो तुम तो वैष्णव ही हो. जो

शरण लियेको शरण कहा लेंगें ? सो या सम्प्रदायमें और हमारी सम्प्रदायमें कछु भिन्नता नहीं है. सो यह कहिके समाधान कर्यो; और हमारे आयवेको कारण तो यह है जो आज पीछे श्रीगुसांईजीके बालक पधारे सो तिनसों ऐसो छल नहीं करनो. सो तब तो राजाने या बातको लेख करिके भेंट कर्यो. पाछें आप तो काशी पधारे. सो ऐसे आप प्रतापी हते. सो वादके अनेक ग्रन्थ...किये हैं... और नगरवारे श्रीबाबूरायजी सो आपकी कर्मकाण्डके उपर आछी रुचि हती. और छोटे भाई श्रीव्रजवल्लभजी सो पण्डित तो कछुक हते जो प्राचीन वार्ताकी बहोत खबरि हती. सो हमारे गुरुदेव श्रीद्वारकेशजी महाराज दादाजीने हू पुष्टिमार्गके ग्रन्थ, पाठ तथा वादके बहोत किये हैं. सो श्रीवल्लभाख्यानकी सोध करिके श्रीगुसांईजीके सहस्रनाम कड़वानमें किये हैं. और श्रीसर्वोत्तमजीको नाम उद्धार हू कर्योहै. जो सुबोधिनीजीको अवगाहन अष्टप्रहर रहतो. लीलामें प्रवेश होते तांई पुस्तक हस्तमें रही. सो चारों वेदमें आप अत्यन्त प्रवीण हते. सो अद्यापि बिराजते तहां तांई सब देख्यो करते. और लौकिक वार्ता प्राचीनकी बहोत खबरि हती. सो सबनसों कृपाकरिके कहते. और सेवामें दोऊ बेर नहाते. जो स्नान करते, जो आलस एकक्षण हू नहीं. सो ऐसे जाके भाग्यमें होयगो तैसेई करेगो. ओर श्रीविठ्ठलेशरायजीवारे श्रीगोपेश्वरजी महाराज अलौकिक दर्शन देते. और वेदान्तके भाष्य उपर रश्मि टीका किये हैं. सो तामें अक्षर बहोत झीने लिखे हैं. सो वह पोथी बांधे पीछे खोली नहीं; और श्रीसुबोधिनीजी आप बांचते सो कोऊ पण्डित होतो तो समझतो और वैष्णवनकों तो श्रवणमंगल हतो. सो अष्टप्रहर अलौकिकमें मग्न रहते. जो लौकिक प्रपञ्चादिककी खबरि नहीं. सो ऐसे अलौकिक स्वरूप हते. सो ऐसे हमारे काकाजी श्रीव्रजपालजी महाराज कामवनवारे श्रीमदनमोहनजीके टीकैत सो अत्यन्त लीला दिखावे हैं. और श्रीमदनमोहनजीकी सेवामें अष्टप्रहर रहे हैं...हमारे यहांकी प्राचीन वार्ताकी बहोत खबरि हती. सो सुनिके बहोत चित्त प्रसन्न भयो. परि विसेष रहिवेको अवकास न हतो, सो तासों सुनिवेको चित्त रहि गयो. और कोटावारे श्रीमथुरेशजीके टीकायत श्रीविठ्ठलनाथजी...सोऊ बड़े पण्डित. अबके बारेमें और सब बालक बिराजे हैं, सो तिनमें तो पण्डित आप ही हैं... सो श्रीमथुराधीशजीकी सेवामें आप तथा आपके लालजी श्रीरणछोड़लालजी बहोत निपुण हैं. और आप तो पण्डित बहोत

हैं परि पण्डिताईको आप गुप्त राखत हैं. सो तासों पण्डित प्रसिद्ध थोरे दीखत हैं. और श्रीचन्द्रमाजीके टीकैत श्रीगोविन्दरायजी, सो इनको शास्त्रको परिचय तो थोरो, परि पोथीको शोख बहोत है. सो निरन्तर पोथी देख्यो करते. सो तातें निजसेवकनको पुष्टिमार्गकी रीतिसों शिक्षा आछी रीतिसों करे हैं. और श्रीनटवरजीवारे गोस्वामी श्रीकाकाजी श्रीव्रजरायजी सो उनने श्रीवल्लभाख्यानकी टीका संस्कृतमें तथा दानलीला ''गोवर्धनकी शिखरतें मोहन दीनी टेर'' सो याकी टीका संस्कृतमें करी है. सो संस्कृतको अभ्यास हू आछो है. सो श्रीनटवरजीकी सेवामें तत्पर और गोस्वामी बालक श्रीजीवनलालजी बम्बईवारे, बालकृष्णचम्पू ग्रन्थ आछो कर्योहै सो तामें पदनकी ललितता बहोत सुन्दर धरी है; और कवितालंकारके साहित्यमें आप बहोत निपुन हैं. और श्रीवल्लभाख्यानकी टीका भाषामें करी है; और श्रीबालकृष्णजीकी सेवामें निपुन हैं. और गोस्वामी श्रीगोपिकालंकारजी उपनाम श्रीमट्ठुलालजी सो श्रीदाऊजीके अष्टोत्तरशतनाम कहे हैं सो ताकी टीकाकी आज्ञा हमको भई है. सो सावकाससों होयगी. और आप श्रीमदनमोहनजीकी सेवा बहोत स्नेहपूर्वक करे हैं. सो आभरनसों तथा सामग्रीसों लाड़ लड़ावे हैं. तथा सांझकों दोऊ बिरियांकी सेवासों पहोंचिके कथा नित्यनियमपूर्वक करनी. सो तामें अलौकिक आनन्द आवे है जाके भाग्यमें होय सो सुने हैं और समुझे हैं. और गोस्वामी श्रीदादाजी श्रीगोकुलाधीशजी, व्याकरणमें बहोत समझे हैं, परि प्रकट नहीं करे हैं. जो अद्भुतलीला दिखावे हैं परि प्रकट नहीं करे हैं. ***सो अगारि बालकनमें वार्ता तथा सेवामें निपुनताई सेवा प्रीतिपूर्वक करनी. जो हमको याद हती सो लिखाये. सो ऐसे तो श्रीमहाप्रभुजीको कुल एकसार है और अब तो श्रीगोवर्धनधरकी लीला ऐसी है: ''लीला लाल गोवर्धनधरकी''. सो कोउ बालकमें विद्याकी तथा विद्याध्ययन तथा सेवा विसे शिथिलता दीसे है. सो ईश्वर हू कालको ग्रहण न करे तो और कौन करे! सो तासों कलियुगको सन्मान राख्यो है. श्रीमदाचार्यजीकी कहा इच्छा है ? सो जानि नहीं परत है. सो तातें यह मार्ग तो आपकी इच्छानुसार है. जो अभी हमारे कृत्य देखते तो एक दिना हू न निभती. जो नित्यनियम है सो नित्य भोजन करे हैं; और नित्य गपौड़ा मारे हैं,***

***जो नित्य चैन उठावे हैं. सो यह हमारे चरित्र हैं, सो पलंगड़ीवारे ही पार लगायेंगें. क्यों, जो निजवंशमें जन्म लियो है सो ताको पक्को भरोसो है. और अपने मतके ग्रन्थ बहोत हैं जो वाद तथा पाठ के. बड़ेनने काहू बातकी कसर नाहीं राखी है सो अत्यन्त संग्रह करिके परिश्रम कियो है. परि लोगनकी बड़ी कसरि है. सो वासों अहर्निश चिन्ता रहि आवे है.*** और पुलबन्दर (पोरबन्दर)वारे श्रीशोभाबहुजी बड़े प्रतापी भये हैं. सो जिनने श्रीसुबेधिनीजी अनुसार श्रीभागवतके द्वादश स्कन्धपर्यन्त धोल १६ करे हैं. सो जामें सबनकों बोध होय. सो सुन्दर राग, न्यारे न्यारे ढाल सहित अर्थप्रकरन न्यारे न्यारे बताये हैं; तथा श्रीठाकुरजी तथा श्रीस्वामिनीजी तथा श्रीमहाप्रभुजी तथा श्रीगुसांईजी के प्राकट्यके धोल बधाई तथा कीर्तन तथा सांझीके कीर्तन विगेरे किये हैं. सो जामें हरिदास नाम छाप धरी है. जो हरिरायजीको ब्रह्मसम्बन्ध कर्योहतो. सो तासों हरिदास नामकी छाप धरी है. सो तासों यह बहुजी नमनयोग्य हैं. सो जिनपे श्रीमहाप्रभुजीकी पूर्ण कृपा हती.

***।।इति श्रीगिरिधरलालजी महाराजको तीसमों वचनामृत समाप्तम् ।।***

***

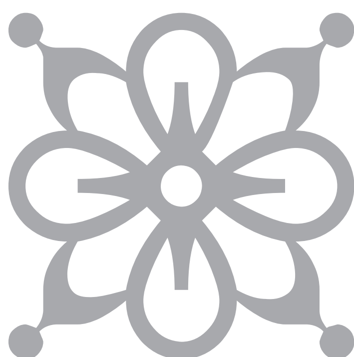


त्रिधा हि यज्ञकृतिः— फलार्था भौतिकी, शुद्ध्यर्था आध्यात्मिकी, भगवदर्था आधिदैविकी इति.

(सुबो. १०।६७।४१).

तीन तरहसे यज्ञका अनुष्ठान होता है— जब किसी फलकेलिये किया जाता है तो वह भौतिक होता है, शुद्धिकेलिये किया जाता है तो वह आध्यात्मिक होता है परन्तु जब भगवदर्थ किया जाता हो तभी वह आधिदैविक होता है.





# विशोधनिका

( तृतीय प्रकरण )

धने गृहे यदासक्ताः सेवकाः सम्भवन्ति हि।
लाभपूजार्थयत्नाश्च तदा स्यात् कुपितो हरिः ॥१॥
भक्तिमार्गं परित्यज्य शिश्नोदरकृतोद्यमाः।
आसुरावेशिनो दासाः तदौदास्यं भवेद् हरेः ॥२॥
अहङ्कारेण कुर्वन्ति तथा महदतिक्रमम्।
निजाअपि तदा कृष्णः कुप्यति स्वजनप्रियः ॥३॥
यदा महत्कुलोद्भूताः त्यजन्ति कुलगां गतिम्।
तदातु तत्कुलस्वामी क्रोधमेति न संशयः ॥४॥
अन्विष्यतां हि सर्वत्र न क्वापि सुपथस्थितिः।
नवा निजाचार्यनिष्ठा नवा दैन्यं हरेः परम् ॥५॥
नवा तद्वाक्यपरता न वैराग्यं तथाविधम्।
न यथालाभसंतोषः कथं कृष्णः प्रसीदति ॥६॥

॥ इति श्रीमद्-हरिरायचरण-विरचितं बहिर्मुखत्वनिरूपणम् ॥

## गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजश्याममनोहरविरचिता

# विशोधनिका

## (तृतीय प्रकरण)

**धने गृहे यदासक्ताः सेवकाः सम्भवन्ति हि ।**
**लाभपूजार्थयलाश्च तदा स्यात् कुपितो हरिः ।।१।।**
**भक्तिमार्गं परित्यज्य शिश्नोदरकृतोद्यमाः ।**
**आसुरावेशिनो दासाः तदौदास्यं भवेद् हरेः ।।२।।**
**अहंकारेण कुर्वन्ति तथा महदतिक्रमम् ।**
**निजाअपि तदा कृष्णः कप्यति स्वजनप्रियः ।।३।।**
**यदा महत्कुलोद्भूताः त्यजन्ति कुलगां गतिम् ।**
**तदातु तत्कुलस्वामी क्रोधमेति न संशयः ।।४।।**
**अन्विष्यतां हि सर्वत्र न क्वापि सपथस्थितिः ।**
**नवा निजाचार्यनिष्ठा नवा दैन्यं हरेः परम् ।।५।।**
**नवा तद्वाक्यपरता न वैराग्यं तथाविधम् ।**
**न यथालाभसंतोषः कथं कृष्णः प्रसीदति ।।६।।**

।। इति श्रीमद्-हरिरायचरण-विरचितं बहिर्मुखत्वनिरूपणम् ।।

***

# प्रकाशकीय

कोई धर्मार्थी, अर्थार्थी, मोक्षार्थी, भक्त्यर्थी अथवा स्वाराध्यभगवत्सुखैकार्थी व्यक्ति अपने सेव्यस्वरूपकी सेवा कैसे करता है-- रूक्ष कर्तव्यरूपमें, या आजीविकाके उपार्जनोपायके रूपमें, या अपने सांसारिक शोखमोजोंके साधनोंको जुटानेके उपायके रूपमें, या सांसारिक तापक्लशोंसे छुटकारेके उपायके रूपमें, या महद्विमृग्यभक्तिको पानेके उपायके रूपमें अथवा अपने सेवयस्वरूपके सुखसन्तोषके उपायके रूपमें-- यह उसका अपना स्वातन्त्र्य है जिसके बारेमें कुछ भी रोक-टोक करनेको मैं अपने-आपको अधिकारी नहीं मानता. फिर प्रस्तुत 'विशोधनिका' में इतने उग्रभावोंको इतनी उग्रभाषामें प्रकट करनेका औचित्य क्या?

गुजराती भाषाके प्रसिद्ध कवि श्रीमुकुल चोकसीके काव्यभावोंको में अपनी सफाई देनेके रूपमें दोहराना चाहूंगा :

**ये और कुछ नहीं इक हृदयसे उठी है भाप,**

**ठंडी पडी तो पानी पर छू लिया तो ताप.**

इन उग्रभाव और उग्रभाषा को ठंडे करनेकी शर्त केवल यही हैं कि या तो कोई मुझे समझाये कि महाप्रभु-प्रभुचरणके नामपर भगवत्सेवाका व्यावसायिक प्रदर्शन जो आज वल्लभसम्प्रदायमें चल रहा है वह उनके किस वचनके आधारपर धर्म्य माना जा सकता है? अथवा जिसे जो करना हो करे पर अपने सिद्धान्तविपरीत कृत्योंको इन दिव्य आचार्योके सिद्धान्त एवं परम्परा के रूपमें प्रस्तुत न करे !

इसका अधिकांश भाग वि.सं.२०५० में लिखा जा चुका था किन्तु मुद्रणार्थ दिया नहीं जा सका. हालमें चि.सौ.बिन्दु बहुजीद्वारा कोई प्रकाशनार्ह मेटर हो तो कम्प्युटरमें फीड करनको मांगनेपर उनके उत्साह एवं परिश्रम के वश; इसी तरह, अन्यभी मेरे अनेक सहयोगी वैष्णवोंके आर्थिक तथा सक्रिय सहयोग वश अब यह प्रकाशित होने जा रहा है.

पवित्रा बारस, वि.सं.२०५८

**गोस्वामी श्याम मनोहर**

# आमुख

## ।। दु:संगविज्ञानप्रकारनिरुपणम् ।।

**अथ श्रीवल्लभाचार्यकृपया स्फुरितं हृदि ।**
**स्वीयानामभ्रमार्थाय किञ्चिदत्र निरूप्यते ।।१।।**

अब श्रीवल्लभाचार्यचरणकी कृपासे हृदयमें जो कुछ स्फुरित हो रहा है, उसे पुष्टिमार्गीयोंके भ्रमोंको दूर करनेके लिये निरूपित किया जाता है.

**दैवासुरविभागेन द्वेधा जीवा: प्रकीर्तिता: ।**
**बन्धमोक्षव्यवस्थापि गीतायामेव रूपिता ।।२।।**

जीवोंकी सृष्टिके दो प्रकार : (१) दैव और (२) आसुर के विभागश: कहे गये हैं. स्वयं भगवद्गीतामें ही ''दैवी सृष्टि मुक्तिके लिये तथा आसुरी सृष्टि बन्धनके लिये निर्मित हुई है'' यह भी कहा गया है.

**दैवेष्वपि च जीवेषु यदङ्गीकरणं पुन: ।**
**भक्तिमार्गे तएवात्र प्राप्स्यन्ति पुरूषोत्तमम् ।।३।।**

दैवी सृष्टिके अन्तर्गत भी जिसका भक्तिके हेतु प्रभुने वरण किया होता है, वही इस भक्तिमार्गमें पुरुषोत्तमको पा सकता है.

**तत्रापि भेदो विज्ञेयो मर्यादापुष्टिभेदत: ।**
**मार्गे फलेऽपि विज्ञेयो भक्तिमोक्षविभेदत: ।।४।।**

भक्तिमार्गमें भी मर्यादाभक्ति तथा पुष्टिभक्ति का भेद होता है, यह जान लेना चाहिये. इसके कारण मार्गके स्वरूप तथा फलके स्वरूपमें भक्तिके लिये भक्ति तथा मुक्ति के लिये भक्ति करनेके प्रकार भिन्न-भिन्न होते हैं.

**भक्तावङ्गकृत्यभावे दैवानामपि सर्वथा ।**
**कामनिष्कामभेदेन स्वर्गमोक्षौ न संशय: ।।५।।**

भक्ति करवानेके लिये जिनका भक्तिमार्गमें अङ्गीकार न हुवा हो तो वे जीव, दैवी सृष्टिके जीव होनेपर भी, सकाम होनेपर स्वर्गादिफल और निष्काम होनेपर मोक्ष ही केवल पा सकते हैं.

**विज्ञेयं वरणं भक्तौ तदर्थित्वैककार्यत: ।**
**तदर्थित्वं च विज्ञेयं भजनार्थप्रवृत्तित: ।।६।।**

जब केवल प्रभुको ही पानेकी कामना हो तो प्रभुने भक्तिके लिये वरण किया है, ऐसे समझ लेना चाहिये. यदि भगवद्भजन करनेके लिये प्रवृत्ति हो पाती हो तो समझना चाहिये कि भगवत्प्राप्तिकी वास्तविक कामना है.

**तत्रादौ शरणं गच्छेत् महापुरुषयोगत: ।**
**महापुरुषपारोक्ष्ये तन्निष्ठैरपि सर्वदा ।।७।।**

भगवद्भजनमें प्रवृत्त होनेके लिये महापुरुषों (श्रीभागवततत्त्वज्ञ, दम्भादिरहित, कृष्णसेवापरायण आचार्यवंशजो) के द्वारा भगवत्-शरणागति प्राप्त करनी चाहिये. यदि वैसे योग्य महापुरुष न मिलते हों तो अन्य भगवदीयोंद्वारा भी भगवत्-शरणागति ग्रहण करनी चाहिये.

**तत आश्रयसंसिद्धौ सेवार्थं स्वसमर्पणम् ।**
**समर्पणे जीवदेहतत्सम्बन्धवतामपि ।।८।।**
**ब्रह्मसम्बन्धत: कृष्णसाक्षात्सम्बन्धयोग्यता ।**

भगवत्-शरणागति ग्रहण करनेके बाद भगवदाश्रयको दृढ बनानेके उपाय करने चाहिये. वह दृढ होनेपर भगवत्सेवाके लिये आत्मसमर्पण करना चाहिये (अर्थात् शिष्यैषणालोभवशाद् आज-कल दृढाश्रयके बिना दिये जाते ब्रह्मसम्बन्धको 'भ्रमसम्बन्ध' ही समझना चाहिये) जीवात्माके सम्बन्ध देह और देहके साथ सम्बन्धित सकल चेतनाचेतन वस्तुओंके भगवान्को समर्पित करनेपर उनका ब्रह्मसे सम्बन्ध जुड़ जाता है. अत: श्रीकृष्णकी साक्षात् सेवामें सम्बद्ध होने लायक भी.

**ततस्तत्सेवया स्वीयसर्वस्वविनियोगत: ।।९।।**
**गृहीतपरमानन्दनिधि: कृष्णोऽक्षय: स्मृत: ।**

**अतस्तु सावधानित्वं विधेयं भगवज्जनैः ।।१०।।**

**सम्प्राप्तनिधिभिः चौरवञ्जकेभ्यो विशेषतः ।**

अपने-आपको सेवायोग्य बना लेनेके बाद भगवत्सेवामें अपने सर्वस्वके विनियोग करते रहनेपर अपने घरमें बिराजमान श्रीकृष्णका स्वरूप स्वयं ही अक्षय परमानन्दकी निधि बन जायेगा. अतः श्रीकृष्णरूप निधि पा जानेवाले भगवदीयोंको चोर-ठगेरोंसे पूरी तरह सावधानी बरतनी चाहिये.

**चौरास्तु द्विविधाः ज्ञेया बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।।११।।**

**बाह्याः कुटुम्बरूपा ये ते तु वित्तहराः स्मृताः ।**

**यतस्तद्विनियोगेन वित्तं याति समर्पितम् ।।१२।।**

चोर दो तरहके होते हैं : बाह्य और आभ्यन्तर. इनमें बाह्य चोर अपने वित्तहारी कुटुम्बिजन ही होते हैं. ये पता भी नहीं चलने देते कि भगवत्सेवार्थ विनियोगार्ह. अपना सारा वित्त न जाने कैसे केवल कुटुम्बनिर्वाहमें ही विनियुक्त होता रहता है !

**आन्तराः कामलोभाद्याः चित्तमात्रहरास्तु ते ।**

**यतो बहिर्मुखं चित्तं सेवायां प्रविशेद् नहि ।।१३।।**

**चित्तवित्तैकसाध्या हि सेवा चापि न सिद्ध्यति ।**

**तदभावेऽखिलं व्यर्थं पुरुषार्थपरिक्षयात् ।।१४।।**

आभ्यन्तर चोर हमारे चित्तको ही हर लेनेवाले स्वयं हमारे भीतर रहे काम-लोभ आदि दुर्गुण होते हैं. इनके कारण बहिर्मुख बना चित्त कभी भगवत्सेवामें जुट ही नहीं पाता है. सेवा तो निज चित्त-वित्तसे ही साध्य होती होनेसे सिद्ध नहीं हो पाती है. सेवाके बिना तो किया-धरा सब कुछ व्यर्थ ही होता है, पुरुषार्थके परिक्षयके कारण.

**अतो विवेकधैर्यादिशस्त्रयुक्तैः तथा पुनः ।**

**आन्तरास्ते निराकार्या बाह्यास्तेतु यथाक्रमम् ।।१५।।**

**सेवाकारणतद्रोधपरित्यागादिसाधनैः ।**

अतः विवेक-धैर्य-आश्रयके शस्त्रोंसे सुसज्ज रहते हुवे आभ्यन्तर

चोरोंको डरा कर भगा देना चाहिये. इसी तरह बाह्य चोरोंको भी सेवाके उपायरूप अपने चित्त और वित्त को भगवत्सेवामें निरुद्ध रख कर; अन्यथा, भगवत्सेवामें से अपने चित्त और वित्त को चुरानेवालोंमें ममताके परित्यागद्वारा या अन्य भी ऐसे किन्हीं शक्य उपायोंद्वारा.

**वञ्चकस्तु ततोऽप्येष दुष्ट इत्येव बुध्यताम् ।।१६।।**

**यतस्तदाकृतिश्चेष्टा तथाचारश्च भाषणम् ।**

**विनय: शान्तता वेश: शंखचक्रादिचिन्हित: ।।१७।।**

**एवमाद्यखिलं तुल्यं भगवद्धर्मवर्तिभि: ।**

**ततो ज्ञानाभावतोऽपि सर्वथा नाशनं मतम् ।।१८।।**

चोरोंकी तुलनामें वञ्चक अधिक दुष्ट होता है क्योंकि उसकी आकृति चेष्टा आचार भाषण विनय शान्तता वेश शंखचक्र आदि तिलक-मुद्रा आदिसे अपने-आपको सजाधजा कर रखना आदि सभी बातें भगवद्धर्मवर्तिओंके जैसी होती हैं. परिणामतया ऐसे वंचककी वास्तविकताको पहचान पाना बहोत ही मुश्किल काम होता है. अतएव ऐसे वंचकद्वारा ठगे जानेपर आत्मनाश सर्वथा निश्चित ही होता है.

**दुर्घटं तस्य विज्ञानं सर्वथा भक्तसाम्यत: ।**

**अतएव न कर्तव्यो विश्वासो ह्यविचारत: ।।१९।।**

भक्तोंके जैसे भेख बनाये रखनेके कारण ऐसे वंचकोंको पहचान पाना बहोत कठिन काम होता है. अत: बिना विचारे हर किसीपर विश्वास कभी भी नहीं कर लेना चाहिये.

**तदीयत्वभ्रमात् तस्मिन् विश्वास: सङ्गदोषत: ।**

**असत्यपि च सद्भावात् पतनं भक्तिमार्गत: ।।२०।।**

**अतएवोक्तम् आचार्यै: गुरोरपि च वीक्षणम् ।**

**'कृष्णसेवापरं वीक्ष्ये'त्यादिपद्ये निबन्धगे ।।२१।।**

भगवद्भक्त होनेकी भ्रान्तिके वश विश्वास रख कर संगदोषके कारण असत्पुरुषमें सद्भाव रखनेका परिणाम यह निकलता है कि जीव भक्तिमार्गसे

च्युत हो जाता है. अतएव सर्वनिर्णय निबन्धमें आचार्यचरणने गुरुके भी वीक्षणकी बात ''कृष्णसेवापरं वीक्ष्य'' कारिकामें दिखलायी है.

**नन्वेतस्य परिज्ञानं कथं भवति सर्वथा ।**
**ज्ञाने सति परित्याग: कर्तव्योऽस्य सतां भवेत् ।।२२।।**
**भवेच्च चोरविज्ञानं शास्त्रतो धर्मदर्शनात् ।**
**नहि वञ्चकविज्ञानं साम्यतो भगवज्जनै: ।।२३।।**
**न कोऽपि सदृशो धर्मो वैलक्षण्यावबोधक: ।**
**मृगाणामिव साधूनां मृगयोरिव गायने ।।२४।।**
**सतोऽपि किञ्चिद् आधिक्यं वञ्चकेतु प्रतींयते ।**
**प्रदशनार्थत्वस्तु वेषादेरिह सर्वथा ।।२५।।**
**गृहसंवासतो ज्ञेय इति चेत् तन्न युज्यते ।**
**संसर्गे बुद्धिनाशेतु मोहाद् न ज्ञानसम्भव: ।।२६।।**
**ज्ञानाभावे भवेदेव तत्क्रिया सार्थकाखिला ।**
**संसर्गमात्रतो नाशे कस्य ज्ञानोदयो भवेत् ? ।।२७।।**
**न ज्ञापयति चात्मानं यावन्नाशं स वञ्चक: ।**
**नाशयित्वैव भवति निजरूपसमास्थित: ।।२८।।**
**मार्गस्थितेर् भवत्येव तादृशोऽत्यन्तबाधक: ।**
**बलाद् न मारयत्येष प्रबोध्यैव च घातक: ।।२९।।**
**छलबुद्धिर्विनाशाय न बलं तस्य साधनम् ।**
**अज्ञात: सर्वथा हिंस्रो ज्ञातो नैव हि बाधक: ।।३०।।**
**ज्ञानन्त्वशक्यं तस्येति न निस्तारो कथञ्चन ।**
**इति चेत्...............................**

यहां एक शंका उठती है कि ऐसे वंचककी वास्तविकताको पहचानना कैसे? क्योंकि पहचान पानेपर ही कोई भला आदमी किसी दूसरे आदमीसे कतरा सकता है. अपने भीतर या बाहर रहनेवाले चोरोंको तो शास्त्रोंके उपदेशके आधारपर जाना जा सकता है परन्तु वंचकजन तो भक्तजनोंके जैसा

ही दिखलायी देता होनेसे पहचाना नहीं जा सकता. भक्तजनोंसे वंचकजनोंको अलग-थलग कर पाये ऐसी कोई विलक्षणता नहीं दिखलायी देती, जैसे मृगोंको साधुपुरुषोंकी वनमें उपस्थिति और शिकारिओंकी वनमें उपस्थिति का प्रभेद समझमें नहीं आता. प्रत्युत वंचकजनमें तो भक्तजनोंसे भी कुछ अधिक ही भक्तिभाव दिखलायी देता होता है. क्योंकि उसके वेष आदि सभी कुछ प्रदर्शनार्थ ही तो होते हैं. घरमें साथ रह कर उसकी वास्तविकताको जाननेके प्रयासमें तो उसके संगके कारण बुद्धिनाशकी ही पूरी सम्भावना रहती होनेसे ऐसे वंचकोंको जान पाना शक्य ही नहीं लगता. जाने बिना तो वंचककी सारी चालें सफल होंगी ही. और संसर्गमात्रसे नाश होनेकी बात जो कही जा रही है सो वंचकका ज्ञान किसे हो सकता है! हमारा पूर्ण नाश किये बिना वंचक अपना असली रूप तो प्रकट करेगा नहीं और नाश करनेके बाद असली रूपके उजागर हो जानेका कोई लाभ नहीं. सन्मार्गसे हमें भटका देनेको वंचकजन कभी बलजबरी तो करता नहीं होता. वह तो हमें भरमा कर ही मारता होता है. हमें नष्ट कर देनेको वह बल नहीं वापरता किन्तु चालाकीसे ही अपना काम निकालता है. उसे जान न पायें तो उसके जैसा हिंस्र अन्य कोई हो नहीं सकता और जान लेनेपर तो वह अन्यत्र छटक जाता है. अतः वंचकजनको पहचान पानेकी इस कठिनाईके कारण इस समस्याका कोई समाधान ही समझमें नहीं आता!

**........तत्र सिद्धान्त उपायः परिकीर्त्यते ।।३१।।**
**भगवद्भक्तसाम्येऽपि तदसाधारणो गुणः ।**
**निरपेक्षत्वमेतस्मिन् तदभावाद्धि वञ्चकः ।।३२।।**
**अनाकारितएवासौ संगे लगति सर्वथा ।**
**प्रार्थिता भगवद्भक्ताः कृपयन्ति कथञ्चन ।।३३।।**

इस ऐसी शंकाके समाधानतया यह जान लेना चाहिये कि भक्तजनके साथ अन्य सभी बातोंमें वंचकजन समान होनेपर भी एक बात उसकी वास्तविकताको पहचाननेका उपाय बन ही जाती है. वह यह कि भक्तजन निरपेक्ष होते हैं वंचकजन कभी निरपेक्ष नहीं हो सकता. वह तो बिन बुलाये हमारे पीछे पड़ना चाहता है जबकि भक्तजन तो कई बार बुलाये जानेपर भी

मुश्किलसे कभी-कभाक प्रसन्न हो कर हमारे साथ होना चाहेगा.

**स द्रव्यमेव विज्ञाय सज्जते स्वार्थमोहितः ।**

**दीनेषु भगवद्भक्तास् तदर्थैकप्रसादकाः ।।३४।।**

**चालयत्ययमुनमार्गे मायाचाटुकसूक्तिभिः ।**

**तेतु मार्गे चालयन्ति वचोभिः कटुकौषधैः ।।३५।।**

**एवं विज्ञाय बुद्धयैव वैलक्षण्यं हि वञ्चके ।**

**तत्संग तत्र सद्भावं तन्माहात्म्यं परित्यजेत् ।।३६।।**

वंचकजन स्वार्थमोहित होनेके कारण धनिकोंकी ही अधिक पूछ-परछ करता है, जबकि भक्तजन तो दीनजनोंपर प्रसन्न हो कर केवल उसके हितकी बात ही उसे समझाते हैं, क्योंकि अपने स्वयंके स्वार्थको सिद्ध करनेकी मनोवृत्ति भक्तजनोंमें नहीं होती. वंचकजन मीठी-मीठी चापलूसी भरी बातोंके द्वारा उन्मार्गकी ओर हमें ले जाना चाहता होता है जबकि भक्तजन तो कडुवी दवाके जैसी बातें करके भी सन्मार्गकी ओर ही ले जाना चाहता है. इस तरह भक्तजन और वंचकजन के बीच रही विलक्षणताको अपनी बुद्धि लगा कर समझ लेनेके बाद वंचकजनका संग, उसके प्रति सद्भाव और उसकी महत्ता का विचार मनमेंसे दूर कर देना चाहिये.

**अन्यथा मार्गनिष्ठोऽपि विनाशं प्राप्नुयाद् नरः ।**

**अतएवास्मदाचार्यैर् उक्तं स्वीयकृपालुभिः ।।३७।।**

**''पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्णएव गतिर्मम'' ।**

**अन्यत्राप्युक्तमेवं हि शिक्षापद्येषु सर्वथा ।।३८।।**

अन्यथा पुष्टिमार्गमें निष्ठा रखनेवालेका भी विनाश हो सकता है. अतएव निजजनोंपर कृपा करनेको श्रीमदाचार्यचरणने भी कहा है ''इस पाषण्डसे भरी दुनियामें श्रीकृष्ण ही मेरी एक गति है'' हमनें भी शिक्षापत्रोंमें इस विषयका निरूपण भलीभांति किया है.

**प्रावाहिकास्तेऽपि चेत्सुक उपेक्षैवोचिता तदा ।**

**एवं विज्ञाय सततं स्थेयं वै सावधानिभिः ।।३९।।**

**सेवापरैः कथासक्तैः सत्संगपरिशोधकैः ।**

**बाह्यव्यापाररहितैः भगवद्भावभावुकैः ।।४०।।**

**दैन्यमात्रपरिश्रातन्तैर् असदालापवर्जितैः ।**

**श्रीकृष्णदर्शनाद्यार्तैर् निजाचार्यश्रिताश्रितैः ।।४१।।**

भगवद्भक्तोंके भीतर भी यदि प्रावाहिकताके ही लक्षण दिखलायी देते हों तो उनकी उपेक्षा ही करनी चाहिये. यह ऐसी सावधानी जो भगवान्की सेवा और कथा में परायण रहना चाहते हों, जिन्हें अपने सत्संगको परिशुद्ध रखना हो, जिन्हें बाह्य व्यापारहित हो कर भगवद्भावकी भावना करनी हो, जो दैन्यभाववश निरर्थक साधनाडम्बरोंमें उलझना न चाहते हों, जो असदालापसे परे रहना चाहते हों, जिन्हें श्रीकृष्णदर्शनादिकी आर्ति निजाचार्यचरणाश्रितोंके आश्रित रहनेके कारण प्रबल हो उन्हें सतत बरतनी चाहिये.

**श्रीमत्कल्याणरायात्मजहरिराय***

***महानुभाव श्रीहरिरायचरणविरचित इस दुःसंगविज्ञानप्रकारसे अधिक उपयुक्त प्रस्तुत विशोधनिकाका आमुख और क्या हो सकता है? इसमें जैसे दूषणोंसे बचनेकी बात श्रीहरिरायजी सभी पुष्टिमार्गिओंको समझा रहे हैं. ये वे बातें है जो पुष्टिमार्गीय आधुनिक हवेलिओंको व्यावसायिक रूपमें चलानेवाले हम गोस्वामिवर्ग तथा इनकी तरह ही वैष्णव प्रेतात्माओंको धुंधुकारीसदृश सिद्ध करनेवाली भागवतसप्ताहोंके कथाव्यासोंकी पुष्टिमार्गीय उपयोगिताको मापनेको सर्वथा उपकारक मानदण्ड है.**

**गो.श्या.म.**

***

# विशोधनिका

## (तृतीय प्रकरण)

### विषयानुक्रमणिका



***

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

# विशोधनिका

## (उपक्रम)

**जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान् ।**
**पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति ।।**

पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (दि.१०-१३ जनवरी ९२, पार्ले-मुम्बई) में विचारणार्थे तदाप्रस्तुत सभावानुवाद सिद्धान्तवचनावलीमें के (१) सेवोपदेशदीक्षा (३) सेवाप्रदर्शन (४) सेवाप्रयोजन (६) सेव्यस्वरूप (९) सेवोपदेष्टा शीर्षकोंके अन्तर्गत संकलित वचनोंद्वारा विवक्षित सिद्धान्त इस प्रकरणके मुख्य विचार्य विषय हैं. साथ ही ''विमर्श'' ग्रन्थमें वर्णित अपसिद्धान्तोंका निराकरण भी.

## (विचार्यविषयसिंहावलोकन)

'सेवाप्रयोजन' शीर्षकान्तर्गत वचन, वैसे तो, सिद्धान्तवचनावलीमें संकलित अथवा असंकलित सिद्धान्तनिरूपक सकल वचनोंके वास्तविक अभिप्रायोंको जाननेके निकष (कसोटी)रूप हैं. फिरभी इसे अस्वीकारा नहीं जा सकता कि सेवाप्रयोजनको इदमित्थतया निर्धारित करनेवाले अन्य भी अनेकानेक वचन समयाभाववश तथा स्थानसंकोचवश मुझसे छुट भी गये ही हैं. साथ ही साथ यह भी भूलना नहीं चाहिये कि सिद्धानतवचनावलीके तेरह-के-तेरह विचार्यविषयोंके वास्तविक स्वरूपको समझना हो तो ये तीन ही वचन पर्याप्त प्रकाशदायी हैं, इसमें भी कोई सन्देह नहीं. अतएव इनका उपजीवन केवल आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य ही है. कई अपठित एवं पण्डितम्मन्य देवलकोंके द्वारा प्रचारित किया जा रहा है कि इतने ही वचनोंको ले कर क्यों विचार किया गया-अन्य बचन क्या एतद्विषयक ग्रन्थोंमें हो नहीं सकते हैं या मैने पढ़े ही नहीं हैं? समाधानतया यह कथनीय हो जाता है कि ब्रह्मसूत्रभाष्यमें भी जिस अधिकरणमें, जिस श्रुतिवचनको प्रथम अधिकरणांग अर्थात् विषयवाक्य बनाया जाता है, वहां भी उस वचनके अलावा सम्बद्ध विषयके निरूपक उपनिषदोंमें अन्य भी अनेक वचन मिलते ही है. कभी इस

तरहकी बचकानी बातें शास्त्रीय चर्चामें उठायी नहीं गयी कि शांकर, भास्कर, रामानुज, माध्व या वाल्लभ भाष्योंमें जो वचन जिस अधिकरणके विषयवाक्यतया उपस्थापित किये गये हैं, उस विषयके निरूपक ओर भी वचनोंका विन्यास क्यों नहीं किया गया? क्योंकि अधिकरणशैलीके विचारमें जो वाक्य विषयवाक्यतया प्रस्तुत नहीं हुवा हो उसे भी संशयकी या पूर्वपक्षकी या उत्तरपक्षकी या संगतिकी कोटीमें भी प्रस्तुत तो किया ही जा सकता है. वाल्लभ सम्प्रदायका, परन्तु, आज यह कैसा दुर्भाग्य है कि अधिकांश उपदेशक या तो अपठित हैं या पल्लवग्राही पाण्डित्यवशाद् ''एरण्डोऽपि द्रुमायते'' उक्तिके मूर्तिमान स्वरूप ! फलत: ऐसी अनर्गल बातें करके भोली जनताको बरगलाते रहते हैं !

सेवाके यथोपदिष्ट स्वरूपके निर्धारणार्थ, जैसे सेवाके प्रयोजनका बोध आवश्यक है, वैसे ही सेवोपयोगी स्थल, सेवार्थ आजीविका, सेवाकर्ता-तथा-परिचारक, सेवोपदेष्टा तथा स्वसेव्य-स्वरूप-प्रसादग्रहण इनसे सभी सम्बन्धित सभी उपदेशोंका भी अभिप्राय 'सेवाप्रयोजन' शीर्षकान्तर्गत संकलित वचनोके उपजीवन द्वारा ही शक्य है.

इस बातको छेड़नेका मुख्य हेतु यही है कि 'विमर्श' ग्रन्थके वास्तविक लेखक पू.पा.गो.श्रीवल्लभराय दीक्षितने, अथवा नामदायी लेखक पू.पा.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीने ही सही, अपने-आपको नियोगपर्यनुयोगानर्ह स्वतन्त्रविचारकके रूपमें प्रस्तुत करनेके हेतुसे उक्त पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभाके सन्दर्भमें मेरे द्वारा किये गये विधानोंकी आलोचना करनी चाही है. अतएव आलोच्य विधानोंको यथाप्रदत्त क्रमसे च्युत किया गया है. अत: यह आवश्यक हो जाता है कि विमर्शक्रम तथा सिद्धान्तवचनावलीक्रम का परस्पर सम्बन्ध एक बार बुद्धिगत कर लिया जाय.

तदनुसार 'विमर्श' के प्रथम कृष्णसेवा प्रकरणमें सिद्धान्तवचनावलीके मुख्यतया 'सेवा-स्वरूप' शीर्षकान्तर्गत संकलित वचनोंकी विचारणा की गयी. गौणतया सेवास्थल, सेवार्थ आजीविका एवं सेवाकर्ता तथा सेवापरिचारक शीर्षकोंवाले वचनोके अभिप्रायोंका कहीं-कहीं स्पर्श किया गया है. तदनुसार ही मुझे भी 'विशोधनिका'के प्रथम प्रकरणको भी चलाना

पडा.

पश्चात् ‘विमर्श’के द्वितीय एवं तृतीय प्रकरणोंमें अर्थात् देवद्रव्यप्रकरण एवं देवलकताप्रकरण में, क्योंकि देवके द्रव्यसे किंवा पूजनसे जीवननिर्वाह चलानेवालेको ‘देवलक’कहा जाता है. अत:, दोनोंको एककाय बना कर ‘शास्त्रीय सन्दर्भमें : पुष्टिमार्गीय सेवार्थ आजीविकाका स्वरूप’ नामक ‘विशोधनिका’ का द्वितीय प्रकरण प्रकाशित किया गया था.

अब क्रमप्राप्त ‘विमर्श’के चतुर्थ प्रकरण एवं ‘विशोधनिका’में प्रतिज्ञात ‘वार्ताविमर्श’ प्रकरणको छोड़ कर ‘विमर्श’के पूर्वार्धके अन्तिम ‘भावसंगोपनप्रकरण’के विशोधनकी प्राथमिक आवश्यकता कुछ गंभीर अवलोकन द्वारा दृष्टिगत हुयी है. अत: प्रतिज्ञात क्रमके त्याग तथा व्युत्क्रमावलम्बन की क्षमायाचना करते हुवे एक खुलासा मैं देना चाहूंगा. वह यह है कि विमर्शकारद्वारा अपनायी गयी विमर्शनीतिकी एक खासीयत यह है कि न्यूनतम सिद्धान्तवचनोंका अवलम्बन कर अर्थात् बने वहां तक वार्तासाहित्यमेंसे सदाचारके निकषपर कण्ठोक्त विधि-निषेधात्मक वचनोंके अभिप्रायोंका अन्यथोन्नयन कर देना, बजाय कि वचनोंके आधारपर चरित्रको समझ कर उसकी व्याख्या करनेके.

पुष्टिमार्गके इतिहासमें सिद्धान्तनिर्णयार्थ ‘विमर्श’की इस नूतन व्याख्यानीतिका पदार्पण; अत:, इस विमर्शशैलीद्वारा हुवा है. इसका एक दुर्लभ तो बिलकुल सक्षमतया सामने आया ही है कि आधुनिक गोस्वामिओंके उपदेशविरुद्ध अनेक आचरणोंकी मूलाचार्योंके चरित्रसे आपाततो रमणीय कोई न कोई उपपत्ति तो मिल ही जाती है! यह कण्ठोक्त वचनकी मर्यादामें बन्धनेपर सर्वथा अशक्यप्राय काम था. अतएव ‘विमर्श’ के सभी कथ्योंके इर्दगिर्द वार्तासाहित्यके उद्धरणोंके बाहुल्यका एक समूचा दुर्ग सा निर्मित किया गया है! यह उतनी आपत्तिजनक बात नहीं है जितनी कि इस दुर्गके इर्दगिर्द, उसे और भी दुर्गम बनानेके, बचकाने आक्षेपकी जो खाई खोदी गयी है :

**‘‘सुनते है कि अब वार्ताग्रन्थ आदिको अप्रामाणिक सिद्ध करनेके**

**लिये किसी ग्रन्थका प्रणयन श्रीपुरुषोत्तम आदिके नामसे उसे प्रकाशित करने का उपक्रम चल रहा है. सम्प्रदायानुरागी सभी लोगोंको इससे सतर्क रहना चाहिये और इसका जम कर विरोध करना चाहिए.''**

(विम.पृ.सं.८३ पर स्थूलाक्षरोंमें मुद्रित पंक्तियां)

शालीन विचारणाशैलीकी शीर्षावरक शालं ओढ़ कर किये गये, इस नामोल्लेखरहित आक्षेपको, कोई आवश्यकता नहीं कि मैं अपने बारेमें ही किया हुवा मान कर चलूं, फिरभी पूर्वपक्षकी अधिकांश उक्तिओंमें मेरे ही विधान संकलत हुवे हैं, अत: अपने बारेमें किया हुवा मान कर स्पष्टीकरण देने मैं सन्नद्ध हूं :

(१) विगत दस-पंदरह वर्षोंमें महाप्रभु-प्रभुचरण-श्रीपुरुषोत्तमजी प्रभृति पूर्वाचार्योंके मूल ग्रन्थोंको सम्पादित संशोधित-प्रकाशित करनेकी मेरी अदम्य हार्दिक भावना तथा नम्र प्रवृत्ति चल ही रही है. भगवान् न करे कि विमर्शकार द्वारा आशंकित कुत्सित मनोवृत्ति मेरे मनमें कभी पनप पाये!

(२) पुष्टिसिद्धान्त-चर्चासभामें प्रतिपक्षिओंद्वारा प्रस्तावित एक शर्त यह भी थी कि वार्तासाहित्य या भाषासाहित्य में से कोई भी वचन मैं विचारार्थ प्रस्तुत न करूं, क्योंकि प्रतिपक्षियोंको वार्तासाहित्य एवं भाषासाहित्य का प्रामाण्य नि:सन्दिग्ध नहीं लगता था. अतएव संकलित भी कुछ वचन सिद्धान्तवचनावलीमें से निकाल कर परिशिष्टमें अमृतवचनावलीमें उद्धृत करने पडे थे. चि.हरिरायजी, वैसे अघोषित प्रतिनिधि परन्तु बादमें पु.सि.सं.शि.तया घोषित, ने भी चर्चाके दरम्यान, अपने शाखाचंक्रमणशील विलक्षण स्वभावके अनुरूप, अस्पष्टोल्लेख द्वारा यह बात स्वीकारी ही थी (द्रष्टव्य: विस्तृ.विव.पृ.सं.१७८).

(३) स्वयं सूरतसे प्रकाशित राजनगरवाले नि.ली.श्रीरणछोड़लालजी के वचनामृतमें ऐसी अक्षम्य अनधिकारचेष्टाका उल्लेख तो मैने विशोधनिकाके प्रथम प्रकरणमें किया ही था (द्रष्टव्य : विशो.आमु.पृ.सं.१६-१७) परन्तु यहां अब इस आक्षेपके सन्दर्भमें पुन: एक और रहस्य उद्घाटित करना चाहूंगा कि सूरतके मोटे मन्दिरमें बिराजमान श्रीबालकृष्णलालजीका कहीं भी उल्लेख न

होनेपर भी तथा प्राचीन पाठोंसे संवादित करनेकी किसी भी तरहके उत्तरदायित्वकी अपेक्षा रखे बिना केवल षष्ठपीठाधीशताके मोहवश स्वयं विमर्शकारके यहांसे प्रकाशित 'दो सौ बावन वैष्णवोंकी वार्ता' में गुजरातसे व्रजयात्रा करने आनेवाले भगवदीयकी वार्तामें श्रीबालकृष्णलालका उल्लेख डलवा दिया गया है! अत: ''आत्मवत् सर्वभूतेषु य: पश्यति स: पण्डित:'' के इस पाण्डित्यप्रकर्षके बारेमें अधिक क्या कहा जा सकता हैं!

(४) नड़ियादकी हवेलीके निजी या सार्वजनिक होनेके केसमें पुष्टिमार्गके विशेषज्ञ होनेकी हैसियतमें दी गयी गवाहीमें पू.पा.गो. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीने न केवल इस विमर्शविमृष्ट सोनेकी कटोरीवाले प्रसंगको अपितु अन्य भी अनेक वार्तासाहित्यके प्रसंगोके प्रामाण्यको सन्दिग्ध माना है (द्रष्टव्य : उक्त दावेमें प्रतिवादी नं.१ के साक्षी नं.२ की मौखिक गवाही पृ.सं.२५ तथा २६).

ऐसी स्थितिमें स्वयं पू.पा.गो. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्री ही अब ''सतर्क रहने'' और ''जम कर विरोध करने''की आज्ञा देते हों तो दोमेंसे उनके किस वचनको शिरोधार्य करना? किसका जम कर विरोध करना? क्या उनके उपक्रमपराक्रमसे भयभीत हो जाना या उनकी उपसंहारविजयको अभिनन्दित करना ?

(५) वैसे स्वयं मुझेतो स्वयं मूलाचार्योंके श्रीकण्ठोक्त उपदेशोंसे बाधित न होता हो तो अथवा सुरतसे प्रकाशित 'दो सौ बावन वैष्णवन्'की वार्तामें षष्ठनिधित्वके मिथ्योल्लेखकी तरह प्रक्षिप्तताके बलवत्तर प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित न हो तबतक वार्ताप्रामाण्यका सहसा अस्वीकार न कभी मान्य था न है और न हो पायेगा. वार्ता तो श्रीगोकुलनाजी तथा श्रीहरिरायजी द्वारा लिखी गयी हैं. इन महानुभावोंके वचन हमारी कल्पनाओंके आधारपर अप्रमाण कैसे मानें जा सकते हैं? इन दोनों गुरु-शिष्योंका तो वाल्लभ सम्प्रदायके उत्कर्षोन्नयनमें अनितरसाधारण योगदान है. इनके वचनोंको अप्रमाण मान कर इस सम्प्रदायमें कौन कृतघ्न बनना चाहेगा? खैर, इनकी बात तो दूर, मैं तो जिन विमर्शकारके कुविमर्शकी बिना किसी

लागलपेट इतनी स्पष्ट आलोचना लिख रहा हूं, उनके भी वचन यदि मूलाचार्योंकी वाणीसे अविरुद्ध हों तो, जैसे कि 'पुष्टिविधान' आदि प्रकाशनोंमें 'अमृतवचनावली'तया संकलित मैने किये हैं, उन्हें षोडशग्रन्थादि सदृश नित्यपाठके क्रममें मैं श्रद्धापूर्वक पाठ करता हूं. तो वार्तासाहित्यके मूलाचार्योंके श्रीकण्ठोक्त वचनोंसे अविरुद्ध वार्तासाहित्य या वचनामृतसाहित्य के वचनोंको अप्रमाण गोस्वामी श्याम मनोहर कैसे मान सकता है? मूलाचार्योंके वचनोंसे विरुद्ध तो वाल्लभ सम्प्रदायमें कोई भी वचन प्रमाण हो नहीं सकता है! अत: मैं तो वार्तासाहित्यके उपसंहारविजयका अभिनन्दन ही न केवल वास्तविक विमर्शकार श्रीवल्लभरायजीको अपितु समग्र पुष्टिसम्प्रदायको इस प्रसंगपर देना चाहूंगा ! दैर आयद दुरुस्त आयद!!

(६) श्रुति-स्मृति-सदाचार-स्वप्रियके उत्तरोत्तर प्रामाण्यदौर्बल्य तथा ''प्रामाण्य स्वत: एवं अप्रमाण्य परत:''के मीमांसाशास्त्रीय सामान्य विवेकके आधारपर सन्देहार्ह प्रामाण्यवाली वार्ताओंको भी बलवद्बाधक प्रमाणोंके उपलब्ध हुवे बिना सहसा अप्रमाणिक ही मान लेना या कह देना मुझे तो सर्वथा अनभीष्ट है. अत: ऐसी पाषाणोपम कठोर मेरी इस प्रामाण्यधारणापर पड़ते ही यह क्षुद्र आक्षेप तो स्वत: छिन्न-भिन्न हो जाता है.

(७) श्रीमद्भागवतसुबोधिनीके अभ्यासकर्ताओंके लिये यह तिरोहितार्थ नहीं है कि भगवल्लीलाओंमें इतिवृत्त जैसे निरूपित हुवे हैं वैसे ही इतिकर्तव्यता भी उपदिष्ट हुई हैं : 'भगवान् अपनी लीलाओंको प्रकट करके शास्त्रार्थ भी प्रस्थापित करते है.'' यह शास्त्रार्थ भी पूर्वोत्तरमीमांसाओंकी तरह कर्तव्योपदेश या तत्त्वोपदेश रूप भी हो सकता है. कर्तव्योपदेशके मूलत: दो प्रकार होते है : विधान और निषेध इन दोनोंके पुन: तीन अवान्तर प्रभेद होते है : औत्सर्गिक, आपवादिक एवं प्रातिप्रसविक.

इन मुख्य-अवान्तर प्रकारोंमें धर्मविधान तथा अधर्मनिषेध द्वारा धर्माधर्मांग ग्राह्य-वर्ज्य षडंग देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्मके विनियोगाविनियोगकी प्रेरणाद्वारा कर्तव्योपदेश सम्पन्न होता है.

कर्मस्वरूपकी ऐसी जटिलता तत्त्वस्वरूपके बारेमें भी सोची जा

सकती है. जैसे देश–काल–द्रव्य–कर्ता–मन्त्र–कर्मके सन्दर्भमें कर्तव्योपदेशमें विधिनिषेध–उत्सर्गापवाद–प्रतिप्रसवके भेदोपभेद खड़े हो जाते है, वैसे ही तत्त्वोपदेशमें भी सम्भव है. अखण्डाद्वैत तत्त्वमें भी अनेकविध नामरूपोंके लीलात्मक परस्परविरोधी भेद भी उभरते ही हैं. इनमें किसी भी एक प्रकारकी लीलाके आधारपर किसी तरहके सामान्य कर्तव्यका उह, न केवल अधर्म्य एवं अतत्त्व ही हो सकता है परन्तु आत्मघाती भी. उदाहरणतया भगवान्ने माखनचोरीकी लीला की अत: पराये घरसे माखन चुरा कर भोग लगानेको क्या अपने सेवाप्रकारमें धर्म माना जा सकता है? अथवा भगवान्ने गोपिकाओंके साथ रासक्रीडा की थी उसे अनुकरणीय कर्तव्य माना जा सकता है? ऐसा माननेपर, महाभारतमें भगवान्ने गुरु–ब्राह्मणवध भी करवा दिया था, उसे भी अनुकरणीय आदर्शतया मान्य रखना पड़ेगा! अन्यथा अनुकरणीय न मानने पर भगवल्लीलामें दोषोंकी भी उद्भावना करनी शास्त्रके वास्तविक अभिप्रायसे अपरिचयका द्योतन ही है. क्योंकि इस तरहकी लीलाओंके द्वारा प्रतिपिपादयिषित तत्त्वोपदेशरूप शास्त्रार्थ, यह भी तो हो सकता है कि आत्माराम आप्तकाम भगवान्, भक्तोंके भाव असामर्थ्य एवं अज्ञान का किसी सीमातक नि:स्वार्थ अनुकरण करके भी उन्हें अपनी लीलाओंमें निरुद्ध बना कर उनकी, प्रपञ्चासक्ति निवृत्त कर देते हैं. ऐसी स्थितिमें यहां कर्तव्योपदेश खोजना सहज संभव है कि हमें अपनी प्रपञ्चासक्तिके परिपोषणार्थ ही उचित प्रतीत होता होगा!

(८) जैसे भगवान्की दिव्य सामर्थ्यमें निष्ठा रख कर भगवच्चरित्रमें हम दोषबुद्धि नहीं लाते, वैसे ही दिव्य सामर्थ्यकी निष्ठा निभाते हुवे आचार्यचरण या उत्तमकोटीके अन्य भी भगवदीयोंकी भी असाधारण सामर्थ्यमें हमें निष्ठा रखनी चाहिए. प्रत्येक भगवच्चरित्र कर्तव्योपदेशार्थ ही न हो कर कभी केवल कर्तव्योपदेशार्थ, तो कभी केवल तत्त्वोपदेशार्थ, तो कभी उभयोपदेशार्थ भी हो सकता है. वैसे ही आचार्यचरित्र या अन्य भी उत्तमकोटिके भगवदीयोंके चरित्र भी कभी कर्तव्य कभी तत्त्व या कभी उभय के उपदेशार्थ भी हो सकते हैं.

(९) अत: 'विमर्श'द्वारा प्रदर्शित अविमृष्टविधानकारिताके दोषसे

बचना हो तो धैर्ययुक्त विस्तृत विवेचनाकी आवश्यकता है. कोई वार्ता यदि कर्तव्योपदेशार्थ है तो, वह कर्तव्य औत्सर्गिक है आपवादिक है या प्रातिप्रसविक है. इसी तरह तत्त्वोपदेशार्थ है तो वह तत्त्वस्वभाव-तत्त्वस्वरूपके निरूपणार्थ है या तत्त्वसामर्थ्यके निरूपणार्थ, इसका सूक्ष्म अन्तर विचारना पड़ेगा. इसे समझे बिना तो महाप्रभुने दो बार भगवदाज्ञाओंका उल्लंघन किया एतावता सभी आचार्यचरणानुगामिओंको दो बार भगवदाज्ञाओंके उल्लंघनकी छूट क्या दी जा सकती है? आचार्यचरणने निजजनकके श्राद्धकर्मार्थ दूसरेसे द्यृतयाचना की थी, अत: आधुनिक गोस्वामिओंको भी उनके नि.ली.पितृचररणोंके श्राद्धकर्मार्थ परद्यृतयाचनामें (वैसे पू.पा.श्रीव्रजरत्नलाल महाराजश्रीने, उल्लिखित नड़ियादकेसकी गवाहीमें, इस वार्ताको भी अप्रमाण ही मानी है! फिरभी) कोई न्यूनताबुद्धि नहीं लानी चाहिये! फिर तो आचार्यचरणने अपने पितृव्यके पास घरमें बिराजमान श्रीबालकृष्णलालके स्वरूपके बजाय श्रीमुकुन्दरायजी ही पधराने पसन्द किये थे : **''श्रीवल्लभेन देवालयं गत्वा एका शालिग्रामशिला श्रीभागवतपुस्तकं च याचितं मात्रा हरिस्वरूपं च तदा जनार्दन: प्राह इयं शिला... अयं मुकुन्द:.... बालकृष्ण: .... पुस्तकं च .... नीयतां यद् रोचतड़ति शिलां पुस्तकं मुकुन्दं पुस्तकं च गृहीत्वा चलित:''** (श्रीवल्ल.दिग्वि.प्रथमावच्छेद:), अत: उसके आधारपर भी कुछ कर्तव्योपदेशकी उट्टंकना लोग करने लगेंगे! क्योंकि ये स्वरूप सुरतिस्थ स्वरूप हों या न हों परन्तु **''सभी स्वरूपोंमेंके मूलस्वरूपके सूचक नाम 'कृष्ण' नाम केवल श्रीबालकृष्ण प्रभुके नामके साथ आता है. अत: इससे स्पष्ट सूचित होता है कि सर्वस्वरूपोंमें श्रीबालकृष्ण प्रभु सर्वमूलभूत मौलिक स्वरूप है''** ('सेव्यसेवकरसास्वाद' पृ.सं.८का हिन्दी-अनुवाद) में स्वीकृत मूलनामप्रयोगकी युक्ति यहां भी अविस्मरणीय माननी पडेगी.

निष्कर्षतया वैसे तो ये सारी बातें भुला भी दें तो भी महाप्रभुके **''ईश्वराणां वचएव तथ्यं नतु आचरितं, क्वचिद् आचरितमपि वचनानुगुणं चेद्, ईश्वराणां बहवो धर्मा: यथा ऐश्वर्यं तथा धर्मात्मत्वं तथा दया, तत्र ऐश्वर्यज्ञानवैराग्यै: यत् करोति तत् 'स्वच्छन्दचरितम्' इति उच्यते. बुद्धिमान् तद् न समाचरेत्. तेहि अन्यथा न वदनित अन्यार्थं कथनम् अन्याधिकारेणेति; अत:,**

**तद्विरुद्धं न कथयन्तीति.**'' (सुबो.१०।३०।३२) इस वचनके जागरुक रहते हुवे महाप्रभु-प्रभुचरणोंके श्रीकण्ठोक्त विधि-निषेधोंके अन्यथार्थकल्पनाका साहस वस्तुत: एक महान् दु:साहसका उदाहरण प्रस्तुत करना है, वह भी विमर्शकारसदृश सुपठित व्यक्तिद्वारा किये जानेपर तो ''साक्षरा: विपरीता: चेद्...'' लोकोक्तिको ही उजागर करना है.

इन बातोंके विचार करनेपर; तथा, क्योंकि अभी अपनी घोषणाके अनुसार विमर्शके पूर्वार्धके मूल्य ४०रु.के अलावा उत्तरार्धके भी ४०रु. शुल्क वसूल कर लेनेके बावजूद उत्तरार्धका प्रकाशन कब हो जायेगा या होगा भी कि नहीं इसकी निश्चिति न होने के कारण भी, कुछ असमंजस परिस्थिति बनी हुई है. क्योंकि पूर्वार्धकी तरह उत्तरार्धमें भी सिद्धान्तवचनोंके बजाय वार्ताओंपर ही अवलम्बित हुवा जायेगा, यह सोच कर, उस उत्तरार्धके प्रकाशित होनेके बाद ही एकहेलया 'वार्ताविमर्शविशोधनिका' का प्रकाशन अधिक सुसंगत होगा. रही बात 'सेवादेवद्रव्यादिविमर्शसारसंग्रहक्रोडपत्र'की तो वह तो अन्तमें 'क्रोडाक्रीडनकक्रीडाविभंग'में अधिक आयासकी अपेक्षा नहीं रखेगा सो किसी भी वर्ष किसी भी मास किसी भी दिन सम्पन्न हो पायेगा! तथा 'ट्रस्टप्रकरण' भी सिद्धान्तनिर्धारित होनेपर ही निर्धारणीय हो पायेगा यह सोच कर 'विमर्श'के अन्तिम 'भावसंगोपन-प्रकरण'का विशोधन अधिक प्रासंगिक लग रहा है.

यों विचार्यविषयक्रमकी संगतिके निरूपणके बाद विचारक्रमकी संगतिके सन्दर्भमें भी थोड़ा-बहुत खुलासा सिंहावलोकनविधिसे कर लेना उचित होगा.

ग्रन्थारम्भमें यह खुलासा तो हमने दे ही दिया है कि आलोच्य 'भावसंगोपनप्रकरण' 'सिद्धान्तवचनावली'के 'सेवाप्रयोजन', 'सेवोपदेशदीक्षा', 'सेवोपदेष्टा', 'सेवाप्रदर्शन' तथा 'सेव्यस्वरूप' शीर्षकान्तर्गत संकलित वचनोंसे सम्बद्ध विषय हैं.

### (पूर्ववृत्तका विहंगावलोकन)

इन पांच विषयोंमेंसे पुष्टिसिद्धान्त-चर्चासभा (दि.१०-१३ जनवरी

९२, पार्ले-मुंबई)में चि.हरिरायजीने तीनपर पक्षग्रहण किया था. अत: उन गृहीत पक्षोंको 'पु.सि.सं.शि.'पदवी द्वारा अभिनन्दित करनेवाले वास्तविक तथा नामदायी विमर्शकारोंकी उन पक्षोंके साथ नैतिक प्रतिबद्धता तो माननी ही पड़ेगी. उसे 'विमर्श'में कहां छोड़ा या स्वीकारा गया है, उस तथ्यपर एक विहंगावलोकन भी अतएव आवश्यक है ही.

तदनुसार:--

(अ) 'सेवाप्रदर्शन' शीर्षकान्तर्गत विषयवाक्यतया संकलित वचनोंके बारेमें मेरे द्वारा ''**सिद्धान्तत: भगवत्सेवाका प्रदर्शन आम जनताके समक्ष हो सकता है या नहीं**'' इस संशयके सन्दर्भमें चि. हरिरायजीने ''**निरंकुशा: हि कवयश्चेद् महाकवयस्तु महानिरंकुशा:**'' नियमको चरितार्थ करते हुवे अपना पक्ष यों प्रस्तुत किया था : ''**श्रीगोवर्धनधरण श्रीनाथजीकी सेवा जो आचार्यचरणने प्रकट की वह मन्दिरसेवा और दर्शनसेवा... का प्रावधान है... उसी वक्त दर्शन मन्दिर को सिद्धान्तमें स्वीकार लिया गया था**'' (द्रष्टव्य : विस्तृ.विव.पृ.सं.१५२)

यह अतीव विस्मयजनक तथ्य है कि प्रात:स्मरणीय श्रीगोविन्दरायजी फूफाजी जैसे सिद्धान्तनिष्ठ विद्वान् पिताके द्वारा सुपाठित श्रीवल्लभरायजी जैसे विद्वान् पुरुष सर्वप्रथम तो चि.हरिरायजीसदृश महाकविकी कल्पनाओंसे इतने केसे विमोहित हो गये कि 'पुष्टिने शीतल छांयडे'में स्वयंके द्वारा दिये गये समाधानको निरसनीय पक्ष मान बैठे! यह तो सम्भव नहीं लगता कि 'पु.सि.सं.शि.'पदवीके पाठमात्रसे यह प्रतिबद्धता जनमी हो. क्योंकि उक्त पदवीपाठके बावजूद महाकविके निजकाव्यैकशोभाकर अनेक कल्पनाकंटकोंसे विमर्शकारने अपने उलझे हुवे दामनको 'विमर्श'में एक झटकेसे छुड़ा लिया है!

लिहाजा ''**सामान्यतया इतर हिन्दुसम्प्रदायमें 'मन्दिर' देवालयके अर्थमें प्रयुक्त होता है परन्तु ऐसे देवालयरूप मन्दिर जैसी संस्थाका पुष्टिमार्गमें अस्तित्व ही नहीं है... पुष्टिमार्गमें सेवा सामूहिक जीवनका विषय नहीं परन्तु व्यक्तिगत जीवनका विषय है. जैसे लोकमें पत्नी या माता का पति अथवा पुत्र की सेवा या वात्सल्यप्रदान करनेका व्यक्तिगत धर्म फर्ज और अधिकार होता**

**है. वैसे ही जिस सेवकका जो सेव्यस्वरूप होता है उस सेव्यकी सेवा उस सेवकका व्यक्तिगत धर्म और अधिकार है. सेवा यह सार्वजनिक कार्य या सार्वजनिक प्रवृत्ति नहीं है परन्तु सेवा यह अपने आन्तरिक जीवनके सम्बन्ध रखनेवाली होनेसे अपने जीवनकी अपने निजघरमें अनुष्ठित स्वधर्मरूप प्रवृत्ति है... अत: इतर हवेलियोंकी तरह 'श्रीनाथजीका मन्दिर'शब्द रूढिवशात् प्रचलित हो गया है. वस्तुत: सामूहिक दर्शन या सेवा जहां की जाती हो ऐसा अन्यमार्गीय सार्वजनिक देवालय जैसा श्रीनाथजीका मन्दिर नहीं है.''** (पु.शी.छां.पृ.सं.१५७-१५८ का हिन्दी अनुवाद) इस विधानकी संगति अब कैसे बैठानी?

वैसे प्रतीत होता है कि यह पू.पा.गो.ति.महाराजश्रीने जब श्रीनाथजीके व्यक्तिगत होनेका दावा न्यायालयमें कर रखा था उसके समर्थनमें दिवंगत श्रीयुत आर.के.भट्टकी पुस्तकके आधारपर चोरा गया समाधान है, पू.पा.गो.ति.महाराजश्रीको प्रसन्न करने कि षष्ठपीठाधीशत्वकी मान्यता कथञ्चित् प्राप्त हो जाय! एतदर्थ ही यह धांधली हो गई लगती है. बादमें कोर्टमें न्यायालयके समक्ष एतत्संबन्धी वचन प्रस्तुत न किये जानेसे कोर्टने पू.पा.गो.ति.महाराजश्रीके व्यक्तिगत स्वरूप होनेका दावा श्रीनाथजीके बारेमें मान्य नहीं रखा. फलत: ''व्यवहारे भाट्टा:'' नीतिका परित्याग कर भाट्ट विधानको भुलानेकी आवश्यकता, व्यावसायिक भगवत्सेवाके पारमार्थिक प्रयोजनवशात्, उठ खड़ी हो गई होगी. चि. हरिराय 'महाकवि'के निरंकुशकल्पनाप्रसूत पक्षग्रहणके अभिनन्दनार्थ 'पु.सि.सं.शि.'बिरुदावलीके प्रलेखपर षष्ठपीठाधीशतया गो.ति.म.श्रीके साथ संयुक्तहस्ताक्षर करवा लेनेकी कूटनीतिवश प्राप्त षष्ठत्वके निर्वाहार्थ पुन: स्वकृत विधानका भी परिमार्जन अपेक्षित था सो अब 'विमर्श' प्रस्तुत कर दिया गया है! इस बीच एक दुर्घटना और घटित हो गई. अपने सेव्यस्वरूपको चौटा बजार स्थित मन्दिरसे वराछा रोडपर स्थित बंगलामें हिन्दु-मुस्लिम दंगोंके बहानेसे पधरानेकी आवश्यकता थी परन्तु सुरतनगरकी दर्शनार्थी वैष्णव जनताके प्रबल असन्तोष तथा विरोध के कारण पुन: ठाकुरजीको चौटा बजार स्थित हवेलीमें पधराने पड़े! सो हाल ही में प्रकाशित 'विमर्श' समर्थित सार्वजनिक प्रदर्शनोपयोगी मन्दिरोंको

अपसिद्धान्त घोषित कर दिया गया है. पुनः स्वयं विमर्शकार श्रीवल्लभरायजीके अग्रज श्रीबालुराजा द्वारा ! उसे भी एक बार अवलोकन कर लेना 'विमर्श' के निगूढ़ स्वभावके निर्धारणार्थ उपयोगी हो सकता है :

> **''.... मन्दिरके स्थलान्तरणके बारेमें श्री गो.पू.१०८ श्रीबालकृष्णलालजीने कहा कि पुष्टिमार्गमें सार्वजनिक मन्दिरकी परम्परा ही नहीं है. उसमें तो व्यक्तिगत स्वरूप निजी स्वरूपकी ही बात है और अतएव उसका सेवाप्रकार देवालय प्रकारका नहीं है. मन्दिरका स्थापत्य भी घर जैसा ही होता है. कहीं ध्वजा-शिखर होते नहीं है. वैष्णव भी घरमें ही सेवा करते हैं उसे 'मन्दिर' कहते हैं; ओर वैष्णव सम्प्रदायके मन्दिरोंके स्थान अतएव बदले जा सकते हैं. हम भी यदि यहांकी जगहके बारेमें (परिवारमें) समझोता सफल नहीं हुवा तो दूसरी जगह कर विचार निश्चित करेंगे.''**
>
> ('गुजरात-समाचार' अंक दि.२५-५-९३)

भूलना नहीं चाहिये कि ये गो.श्री बालकृष्णजी भी 'विमर्श'के लिये द्वितीय नामदायी हैं. सिलसिलेवार देखें तो ''पुष्टिने शीतल छांयडेमें'' स्वीकृत भावसंगोपनात्मिका निजगृहसेवाका सिद्धान्त पुष्टिसिद्धान्त-चर्चासभामें चि. हरिरायजीद्वारा गृहीत पक्षको अभिनन्दित करते समय छोड़ दिया गया! जिसकी यथाकथञ्चिद् उपपत्ति 'विमर्श'में दी गई. अभी इस 'विमर्श'को पढ़ कर लोग समझनेका प्रयास कर रहे थे कि गुजरात-समाचारमें पुनः नूतन सिद्धान्त प्रकट हो गये हैं! अब 'गुजरात-समाचार'में प्रकाशित सिद्धान्त यदि पुष्टिमार्गीय हों तो श्रीनाथजीके मन्दिरको पुष्टिमार्गीय मानना कि नहीं? लगता है षष्ठत्वमान्यताप्रदायक पू.पा.गो.ति.महाराजकी जानकारीमें यह वक्तव्य अभी आया नहीं है. अन्यथा षष्ठत्वके निरसनकी धमकी मिलते ही पुनः सार्वजनिक मन्दिरको महाप्रभृति आचार्योंकी सदाचार परम्परासे प्रमाणित सिद्ध करना पड़ेगा. वैसे ट्रस्टप्रकरण, जिसकी विशोधनिका अभी लिखी जानी बाकी है, उसमें विमर्शकारने थोड़ी-बहोत लीपापोती करनेकी असफल चेष्टा की है सो

भी ‘चोरासी वैष्णवन्‌की वार्ता’में की २४वीं वार्ताके प्रसंग १के प्रामाण्यको मान्य रख कर या अमान्य रख कर यह प्रकट नहीं हो पाता है! ‘‘प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा: ऋते स्वार्थशक्ते:!’’

(आ) ‘सेवाप्रयोजन’शीर्षकान्तर्गत विषयवाक्योंके सन्दर्भमें **‘‘सेवाका प्रयोजन भक्तिप्रवर्धनके अलावा लौकिक या अलौकिक कुछ और भी पुष्टिसिद्धान्तमें हो सकता है या नहीं?’’** इस तरह संशयकी दो कोटियां प्रयुक्त करनेपर चि.हरिरायजीने पक्षग्रहण किया था : **‘‘अधिकारीभेदसे सम्भव है’’** (द्रष्टव्य : विस्तृ.विव.पृ.सं.१५२)

वैसे न्यूनतम शब्दावलीमें यह प्रश्नोत्तरी सम्पन्न हुई थी. अत: चि.हरिरायजी महाकविके लिये तो आकाशावधि शाखाचंक्रमणका अवकाश यहां उपलब्ध है. अन्यथा ‘सेवास्वरूप’ तथा ‘सेवार्थ आजीविका’ शीर्षकान्तर्गृहीत गृहीत पक्षोंके साथ एकवाक्यता करनेपर चि.हरिरायजीके चित्तमें **‘‘चतुर्विधा भजन्ते मां जना: सुकृतिनोऽर्जुन आर्तो जिज्ञासुरथार्थी ज्ञानी च…’’** कल्प ही रमा हुवा था. **‘‘सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डित:’’** नीतिके अनुसार सेवाद्वारा अर्थोपार्जन जब निषिद्ध सिद्ध होने जा रहा हो तो भक्तिकी जघन्यकोटितया उसे मान्य करवानेका केसरिया चि.हरिरायजीने कर लेना चाहा था! क्योंकि ‘‘तुष्यतु दुर्जनन्यायेन’’ चि. महाकविने पक्षग्रहण किया हो, ऐसा तो शक्य ही नहीं क्योंकि मैं तो कोटिद्वयावगाही संशय या विकल्प ही केवल प्रस्तुत कर रहा था पक्षग्रहण तो चि. महाकविका अपना कल्पनाकौशल था. वैसे यदि अब चि.महाकवि ऐसा शाखाचंक्रमण करना चाहें तो भी मैं तो पुन: यही कहना चाहूंगा कि दुर्जनोंको सन्तुष्ट करनेवाले पक्षको गृहीत करनेके बजाय चि. महाकविकी अपनी आस्थाके अनुरूप श्रीमदाचार्यचरणको वे सन्तुष्ट कर पायें, ऐसा पक्ष क्यों नहीं गृहीत किया? क्या दुर्जनैकसन्तोषदायकताका जघन्यस्वभाव सृष्टिके प्रारम्भमें भगवान्‌ने महाकविकी नियति बना रखी है क्या!

विमर्शकारने यहां खुल कर प्रयोजनके बारेमें भगवत्सेवाका तो नहीं परन्तु भगवत्सेवाके प्रदर्शनका प्रयोजन दिखलाया है. दर्शनार्थिजनताके

उद्धारको सेवाप्रदर्शनके प्रयोजनतया मान्य किया है. ऐसी स्थितिमें अधिकारीभेद किस दृष्टिसे समझना तथा सेवात्मिका क्रियाका प्रयोजन सेव्यसन्तोष या भक्तिप्रवर्धन तथा उस प्रदर्शनका प्रयोजन दर्शनार्थिजनताका उद्धारतया लेनेपर सेव्यसन्तोष या भक्तिप्रवर्धन को मुख्य प्रयोजन मान कर दर्शनार्थिजनतोद्धारको उसका आनुषंगिक प्रयोजन मानना अथवा दर्शनार्थिजनतोद्धारको मुख्य प्रयोजन मान कर सेव्यसन्तोष या भक्तिप्रवर्धन को उसका आनुषंगिक प्रयोजन मानना? यों यहां संशयकी कोटियोंको और परिष्कृत करना पड़ेगा.

(इ) 'सेव्यस्वरूप' शीर्षकान्तर्गत विषयवाक्यरूप वचनोंमें शब्दश: स्वार्थप्रतिष्ठा या परार्थप्रतिष्ठा का तो उल्लेख था नहीं, फिरभी ''**वस्तुविचारेण सर्वस्य भगवद्रूपत्वाद् विशेषस्तु अयम् 'एनम् उद्धरिष्यामि' इति तदा मृदादे: प्रादुर्भूतो.**'' (त.दी.नि.प्र.२।२२८) यों सेवार्थ भगवत्स्वरूपके चयनकर्ता भक्तकी तरह स्वयं भगवान् भी भक्तका चयन करते हैं प्रपञ्चासक्ति या संसार से उसके उद्धारार्थ. यह चयन तद्भक्तसेव्यात्मना करते हैं यह भी ध्वनित होता है. अत: स्वार्थप्रतिष्ठाका यदि श्रुतिबलसे नहीं तो भी लिंगबलसे तो बोध होता ही है.

चि.हरिरायजीने केवल स्वार्थप्रतिष्ठा माननेपर उसे अर्थोपार्जनका साधन नहीं बनाया जा सकेगा तथा केवल परार्थप्रतिष्ठा स्वीकारनेपर गोस्वामिवर्गको सेवाफलसे वंचित मानना पड़ेगा, ऐसी मानसिक असंमजसतामें निरंकुशकल्पनाकौशलका प्रदर्शन करते हुवे पक्षग्रहण कर लिया ''**मेरा स्पष्टतम(?!) मत यह है कि पुष्टिमार्गीय वैष्णवके लिये जब सेव्यस्वरूप पधराया जाता है तो स्वार्थप्रतिष्ठा होती है (ताकि कोई बनिया पू.पा.गो.महाराजश्रीओंकी प्रतिस्पर्धामें व्यावसायिक मन्दिर चलाने न पाये!) परन्तु पुष्टिमार्गीय गुरु जो सेवा करता है, वह सेव्यस्वरूप स्वार्थ-परार्थ होता है (ताकि हम गोस्वामिओंद्वारा चलाये जाते सार्वजनिक-व्यावसायिक सेवाप्रदर्शनके कारण हमें मिलते आर्थिक लाभको किसी तरहकी आंच न आने पावे!) अर्थात् परार्थ भी है**'' (द्रष्टव्य : विस्तृ.विव.पृ.सं.१५९)

उल्लेखनीय है कि संशयकोटिमें ही मैं यह स्पष्ट कर चुका था कि

निजस्वत्ववाले स्वार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूपकी सेवाके लिये परधन लेना देवलकता है तथा परार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूपकी सेवाके लिये परिवारेतर जनताको भी धनादिके समर्पणका अधिकार शास्त्रसम्मत है. चि. महाकविने तो आशुकविकी तरह शीघ्र ही अपना निरंकुशकल्पनाकौशल प्रकट करते हुवे यही उचित मान लिया कि गोस्वामिओंके स्वत्वकी वकालतके लिये स्वार्थप्रतिष्ठा होने दो; तथा, दर्शनार्थिजनतासे मिलते लाभकी सुरक्षाके लिये परार्थ अर्थात् उभयार्थ प्रतिष्ठा होने दो. इस विषयमें 'पु.सि.सं.शि.' पदविप्रदानद्वारा चि. महाकविको अभिनन्दित करनेवाले विमर्शकारने मौनसेवनमें ही अपना श्रेय मान लिया है, ऐसा प्रतीत होता है, यद्यपि 'पुष्टिने शीतल छांयडे' तथा 'गुजरात-समाचार' में प्रकाशित वक्तव्य तो चि.महाकविद्वारा गृहीत पक्षसे सर्वथा विपरीत थे और हैं!

वैसे तो पक्षग्रहणकी प्रक्रियामें प्रकट हुई स्वीकृति और तन्मूलक अर्थापत्तिओंके आधारपर विचारकी कड़िओंको आगे बढ़ानेकेलिये 'संक्षिप्तविवरण'में मैंने 'शाखाचंक्रमणनिरसन' परिच्छेद जोड़ दिया था. परन्तु किंवक्तव्यविमूढतावश चि.महाकविके तो यह हाल हो गये कि कभी कहते हैं **''पक्षग्रहणमें जो बातें कबूल करनेके आरोप लगाये जा रहे हैं वे मनगढ़न्त हैं! कभी ''तटस्थ-मध्यस्थ यदि कोई हो तो पुन: शास्त्रार्थ करके तीन घंटामें मुझे पराजित कर सकते है''** कह कर बलाय टालना चाहते हैं. कभी जनताको मेरे विरुद्ध भड़कानेको मुझे **'श्रीनाथजीका विरोधी'** कहते हैं! कभी कहते हैं **''केसेट्स्के साथ छेड़छाड़ हो गई है''**, जबकि छेड़छाड़में कोई अंश मान लो कि काटा भी जा सकता हो, पर उसमें जोड़ा कैसे जा सकता है? वह अनितरसाधारण ''अहोरूप अहोध्वनि'' अन्यत्र कहांसे आ सकती है? जबकि ओडियो-वीडियो केसेट्स्मेंसे जिसे चि. महाकवि गृहीत पक्षोंको देखना-सुनना हो वह देख-सुन सकता है. कर्णोपकर्ण ऐसा भी सुना जा रहा है कि चि. महाकवि यह भी कहते हैं **कि पक्षग्रहण तो 'तुष्यतु दुर्जन'न्यायेन स्वीकार लिया था''**. परन्तु 'तुष्यतां पुष्टिप्रभुमहाप्रभू'न्यायेन कुछ स्वीकारनेका बीजभाव ही मानों चि. महाकविके जीवात्माके भीतर परमात्माने स्थापित ही नहीं किया हो, ऐसा लगता है. इस दयनीय मानसिक दुरवस्थाको देख कर

चि.महाकविको तो उपेक्षणीय तथा क्षन्तव्य समझ कर ही अब आगे बढ़ना पड़ेगा! परन्तु विमर्शकार अपने नैतिक उत्तरदायित्वसे छटक नहीं सकते. क्योंकि चि. महाकविकी स्वीकृति यदि अभिनन्दनीय पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त हो तो 'विमर्श'की धारणा उससे विपरीत या विरुद्ध नहीं होनी चाहिये थी. यदि विपरीत या विरुद्ध धारणायें 'विमर्श'में प्रस्तुत करनी थी तो चि. महाकवि को अभिनन्दित करना किसी तरहकी कूटनीति थी या वास्तविक धर्मके स्वरूपका निर्धारण था, यह खुलासा तो कभी न कभी देना ही पड़ेगा.

यह तो सहज सम्भव लगता कि 'संक्षिप्तविवरण' तथा 'विमर्श' का मुद्रणकार्य एक ही समय चलता रहा होगा. अत: 'विमर्श'में 'संक्षिप्तविवरण'के 'शाखाचंक्रमणनिरसन' परिच्छेदकी युक्तिओंका विमर्श हो नहीं पाया. परन्तु वहां प्रस्तुत कई आपत्तियां अभी भी अनुत्तरित हैं, इस तथ्यपर विमर्शकारका ध्यान आकृष्ट करना मेरा कर्तव्य है. स्वयंकी इच्छाके अनुरूप स्वनाम्ना स्वपितामहनाम्ना स्वाग्रजनाम्ना या सकलनाम्ना जैसे भी सुविधाजनक लगे उन आपत्तियोंके उत्तर देनेका नैतिक उत्तरदायित्व विमर्शकारका है ही.

इस 'भावसंगोपनप्रकरण'में आते वार्तासाहित्यके प्रसंगोके उद्धरणोंद्वारा सिसाधयिषित पक्षका विशोधन तो भविष्यमें 'वार्ताविमर्शविशोधन' प्रकरणमें होगा, जिसका यत्किञ्चित् दिशानिर्देश हम इसी परिच्छेदमें कर ही चुके हैं. अत: अब इस औपक्रमिक स्पष्टीकरणके बाद 'सेवाप्रयोजन' शीर्षकान्तर्गत संकलित विषयवाक्योंके आधारपर क्या सेवाप्रयोजनके सिद्धान्ताभिमत स्वरूपको दृष्टिगत रखनेपर अस्वीय दर्शनार्थी भक्तके समक्ष भगवत्सेवाप्रदर्शन सिद्धान्ताभिमत प्रकार है या सिद्धान्तविपरीत इसकी मीमांसाकेलिये अग्रसर हुवा जा सकता है.

***

# ‘सेवाप्रयोजन’ शीर्षकान्तर्गत संकलित विषयवाक्यविचारमूलक विशोधन

## (विषयवाक्य)

(क) न लौकिक: प्रभु: कृष्णौ मनुते नैव लौकिकं भावस्तत्राप्यस्मदीय: सर्वस्वश्चैहिकश्च स: परलोकश्च’’ (शिक्षापद्यानि)

(क) न तो श्रीकृष्ण कोई लौकिक प्रभु हैं और न, अतएव, वे लौकिक भावोंको मान्य करते हैं. अतएव हमारा भाव उनके बारेमें यही है कि श्रीकृष्ण ही हमारे सब कुछ हैं ऐहिक भी और पारलौकिक भी (तत्रैव).

(ख) ‘‘लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा’’ ननु कश्चिद् जीविकाद्यर्थमपि भजते तस्य का गति:? इत्यत: आहु: ‘लोकार्थी’ इति, ‘लोक’पदेन लौकिको अर्थ: उच्यते. तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत् तदा व्यापारवद् अर्थे सिद्धे तस्यापि अनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव. अत: क्लिष्टो भवति. न केवलम् ऐहिक: क्लेश: किन्तु परलोकोऽपि नश्यति, निषिद्धाचरणाद् इति ‘सर्वथा’ इति उक्तम्. यस्य स्वल्पमपि ज्ञानं स नैवं करोति. सर्वथा तद्रहित: कश्चित् कुर्यादपीति ‘चेद्’ इति उक्तम्. अत्र मूलनामोक्ति: भजनकर्तु: अभिप्रायेण अन्यथा तदसम्भावात् (सिद्धान्तमुक्तावलीविवृति : १६)

(ख) ‘‘कोई लोकार्थी यदि कृष्णभजन करना चाहे तो उसे सर्वथा क्लेश ही होता है’’ यहां शंका होती है कि कोई आजीविकाके लिये श्रीकृष्णभजन करता हो तो उसकी क्या गति

होती है? इस शंकाके समाधानतया 'लोकार्थी' पदप्रयोग किया गया है. 'लोक'पदका अर्थ होता है लौकिक अर्थ अत: लौकिक अर्थकी कामनाको पूर्ण करनेको जो भजन करता है वह तो व्यापारकी तरह अर्थप्राप्ति होनेपर अनर्थरूप ही होता होनेसे ऐसे भजनको 'भक्ति' नहीं माना जा सकता होनेसे ऐसोंका किया-धरा सब क्लेशरूप ही होता है. न केवल ऐसोंको ऐहिक क्लेश होता है परन्तु ऐसोंका तो परलोक भी नष्ट हो जाता है, निषिद्धाचरण होनेके कारण. अतएव 'सर्वथा क्लेश ही होता है' कहा. जिसे स्वल्प भी भजन और भजनीय भगवत्स्वरूप का ज्ञान हो वह ऐसा कभी नहीं कर पायेगा. जिसे स्वल्पज्ञान भी न हो वही ऐसा कर सकता है. अत: एक सम्भावनाके रूपमें 'यदि' कहा गया है. ऐसे भजनकर्ताका भजनीय स्वरूप श्रीकृष्ण तो हो ही नहीं सकते फिरभी उसे ऐसी भ्रान्ति सताती होती है कि वह श्रीकृष्णभजन कर रहा है. अन्यथा आजीविकार्थ भजनमें भजनीय विग्रह श्रीकृष्ण हो ही नहीं सकते (तत्रैव).

(ग) तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मत:, न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्ध्यै श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन, न कल्पितप्रकारेणन-दुर्भावसमन्वयात् (शिक्षापत्र : १८।१२-१३)

(ग) अपने माथे बिराजते भगवत्स्वरूपकी सेवा आजीवन अपना धर्म मान कर करनी चाहिये, न तो किसी फलको पानेको, न किसी तरहकी भोगवृत्तिके वश, न प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि पानेकी लालसाके वश ही, न श्रीमदाचार्यचरणोक्त रीतिसे भिन्न किसी रीतिके अनुसार ही, न मन:कल्पित प्रकारोंसे और न किसीके प्रति किसीभी तरहके दुर्भाव रख कर ही (तत्रैव).

(घ) ''भगवत्सेवा है सो गोप्य है सो काहूसों जनावे नाहीं. जो सेवा प्रकट करी अपनी प्रतिष्ठा बढ़ावे तो वाकों 'पाखंडी' कहिये. सो ताकी सेवामें कुछ पुष्टिमार्गको फल नहीं और पाखण्ड

करिवेवारेके हृदयमें लौकिक आवेश आवे. सो लौकिक आवेशते बहिर्मुख होय सेवामें प्रतिबन्ध पड़े. पाखण्डको मूल लोभ-भय है सो लोभ-भय छूटे तब पाखण्ड न होय. और लोभके लिये जगतमें पाखण्ड करत हैं सो लोभी पाखण्डी होय, ताकों अन्याश्रय होय जाय. लोभके वशते ज्ञान-विवेक जाते रहें लोभी-पाखण्डीके हृदयमें श्रीठाकुरजी कबहूं न बिराजें. तातें भगवद्धर्म-सेवा थोडी बने तो बाधक नहीं. सो थोड़े ही शुद्ध भगवद्धर्मते याके सघरे कार्य सिद्ध होय जायें. और बहोत करे और पाखण्ड करे परन्तु पाखण्ड-लोभ लौकिक आसक्तिके भगवद्धर्म न बढ़े. तातें आलौकिक सो सेवा करे जो श्रीठाकुरजीको जानते कार्य होयगो--जो लोगोन्के=लौकिकके जानेतें कछं सिद्धि नहीं है. (चोबीस वचनामृत :२२)

## (संशय)

इन और ऐसे अनेक मूलाचार्यवचनोंके विचार करनेपर इतना तो बिलकुल स्पष्ट ही है कि सेवाका प्रयोजन, पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तके अनुसार, लौकिक तो हो ही नहीं सकता. अलौकिक प्रयोजन भी स्वयं भगवत्सुख अथवा भगवत्स्वरूपसेवा भगवन्नाम भगवद्गुण अथवा भगवल्लीला में चित्तकी अनन्यप्रवणताके अलावा कुछ और हो ही नहीं सकता. अत: वित्तोपार्जनार्थ पदप्रतिष्ठाप्राप्त्यर्थ अथवा जनतोद्धारके प्रयोजनवश किया जाता भगवत्स्वरूपसेवाका प्रदर्शन, यदि कण्ठोक्त सेवाप्रयोजनसे भिन्न हो अथवा विरुद्ध हो तो वह सिद्धान्तत: अनुमोदनीय हो सकता है या नहीं यही इन विषयवाक्योंके स्वारसिक अर्थोंके बारेमें जिज्ञासा या संशय का विषय है.

## (पूर्वपक्ष)

पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (दि.१०-१३ जनवरी ९२ पार्ले-मुंबई) में स्वमार्गीय ग्रन्थानुशीलन सिद्धान्तबोध अथवा जिज्ञासुजनोचित सौम्यभावोंसे रहित महाकविने अपने स्वभावानुरूप अनर्गल कल्पनाकौशलवशात् **"अधिकारीभेदसे सेवाका प्रयोजन भक्तिप्रवर्धनके अलावा लौकिक या**

**अलौकिक कुछ भी सम्भव है''** (द्रष्टव्य : विस्तृ.विव.पृ.सं.१५२) ऐसी सगर्जन घोषणा करके पु.सि.सं.शि. पदवीरूप शाखापर चंक्रमण कर दिया था. तदनुसार यहां भी अधिकारभेदवश विभिन्न प्रयोजनोंके वश किया जाता भवत्स्वरूपसेवाप्रदर्शन भी अनुमोदनीय हो सकता है या नहीं? उसे तो, परन्तु स्वयंके जघन्याधिकारी होनेके निगूढ़भावसे जन्य चि.महाकविकी अचिकित्स्य विवशताका अनुमान लगा कर, क्षम्य मान लेना ही उचित होगा. वैसे तो 'शाखाचंक्रमणनिरसन'में भी निरसनके प्रकारका थोड़ा-बहुत दिशानिर्देश तो दिया ही जा चुका था. अत: उन सभी चंक्रमणसम्भावनावाली शाखाओंका भी कर्तन तो हो ही चुका है. फलत: प्रस्तुत परिच्छेद विमर्शकार द्वारा उट्टंकित या उट्टंकनसम्भावना के विशोधनार्थ ही अब केवल अवशिष्ट रह जाता है.

**(उत्तरपक्ष)**

सेवाप्रयोजनका विचार करते समय मुख्य ऐवं गौण प्रयोजनोंके भेद भी विचारणीय बनते ही हैं. इन्हें मुख्यफल और अवान्तर फल के रूपमें भी निहारा जा सकता है. जिस साधनका जो मुख्य फल नियत होता है, उस फलको पानेकी कामनाके प्रमुख कामना होनेपर, यदि हम उस साधनको अपनाते हैं, तो फल और साधन दोनोमें पूर्ण सामञ्जस्य प्रकट होता है. अवान्तर फलको प्राप्त करनेकी कामनाके मुख्य होने पर भी साधन-फल सम्बन्धी हमारे विवेकमें एवं व्यापारमें थोड़ी-बहुत असमञ्जसता तो लकती ही है.

जिस साधनके साथ, परन्तु, जिस फलका नियत विरोधाभास ही हो उसी फलकी कामनाके प्रबल होनेपर उसी साधनको अपनाना विवेक एवं व्यवहार की पूर्ण असमञ्जसताका उदाहरण माना जा सकता है. अत: ऐसी असमञ्जसताका उदाहरण माना जा सकता है. अत: ऐसी असमञ्जसताको ''अव्यापारेषु व्यापारं कर्तुम् इच्छति'' वचनका विषय मानना चाहिये. कभी तो ऐसा भी होता है कि जो साधन जिस फलका नियत विघातक माना जाता हो, ऐसे साधनको भी कभी अपनानेकी भी विवशता अनिच्छा अज्ञान मोह परद्वेषार्थ असूयावश या आत्मप्रवंचनार्थ लोकमें प्रकट हो जाती है. ऐसी सारी

विवशताओंका परिणामस्वरूप फलविघात ही होता है !

तदनुसार सिद्धान्तमुक्तावलीमें जैसी साधनरूपा कृष्णसेवाका मुख्यफल चित्तकी कृष्णप्रवणताके रूपमें स्वीकारा गया, उसके सिद्ध होनेपर भी मानसी सेवा सिद्ध होती मानी जा सकती है. अहन्ता-ममताजन्य संसारदु:खकी निवृत्ति एवं ब्रह्मानुभूति रूपी, जो अवान्तरफल कृष्णसेवाके स्वीकारे गये हैं, वहीं यह भी स्पष्टीकरण दे दिया गया है कि ये अवान्तरफल सेवाकर्ता साधककी अभिलाषाके स्वरूपके विचारवश निरूपित नहीं हुवे हैं प्रत्युत मुख्यफलके स्वरूपान्त:पाती गुणधर्म होनेसे अवान्तरफलतया निरूपित हुवे हैं.

एतदर्थ ही साधनरुपा कृष्णसेवाके अनुष्ठानोचित व्यापारका स्वरूप 'तनुवित्तजा'रूप समस्तपदद्वारा प्रकट किया गया है.

अब कोई संसारदु:खकी निवृत्ति या ब्रह्मबोध की प्राप्तिके लिये तनुवित्तजा सेवाका अनुष्ठान करता हो तो उसके ऐसे व्यापारमें स्वरूपतो-अन्यात्व न होनेपर भी फलतो-अन्यथात्व प्रकट होता ही है, मुख्यफलान्त:पाती होनेके कारण इनका स्वरूप मुख्यफलविरोधी न होता हो तो भी. अर्थात् जब अंग ही अंगीकी प्राप्तिमें बाधक बनने लगे तो फलसाधनभावमें कुछ असमञ्जसता तो स्वीकारनी ही पड़ती है.

उदाहरणार्थ मुख्यफलरूप प्राणधारणके सम्पादनार्थ साधनरूप व्यापार अन्नभक्षण है, इसके अवान्तरफल पुष्टि तुष्टि और क्षुधानिवृत्ति प्रकटतया सभीको अनुभूत होते हैं. बहुधा इन तीनों या तीनोंमेंसे किसी एककी अमर्यादलालसा प्राणनिर्वाहके बजाय प्राणघातक ही सिद्ध होती है. एतावता सिद्ध होता है कि अवान्तरफलोंके बारेमें भी मुख्यफलके जैसी कामनाके प्रबल होनेपर मुख्यफलके अंगभूत अवान्तरफल मुख्यफलमें बाधक हो सकते हैं.

इसी तरह सांसारिक दु:खकी निवृत्तिके लिये सांसारिक साधनोंके अवलम्बनमें किसी तरहकी असमञ्जसता न होनेपर भी सांसारिक दु:खोंकी

निवृत्तिकी कामनावश कृष्णसेवाका अनुष्ठान ‘‘लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा’’ वचनमें निरूपित व्यापार एवं प्रयोजनकी असमञ्जसता है. यही गति कृष्णसेवाके द्वितीय अवान्तरफलरूप ब्रह्मबोधकी कामनाके प्रबल होनेपर भी सोच ली जा सकती है. क्योंकि तदर्थ ज्ञानमार्गीय उपासना आदिकी ही मुख्यसाधनता स्वीकारनी उचित होगी.

इस सबके विपरीत लौकिक सुख धन पद प्रतिष्ठा या कीर्ति आदिकी कामनाके वश जब कोई कृष्णसेवाके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होता है तब तो चित्तकी कृष्णैकप्रवणता या मानससेवा रूपी वास्तविक फलका विघात तो ध्रुव निश्चित है और अतएव इसे फलविरुद्ध व्यापारमें प्रवृत्त होनेकी मूढ़ता भी माननी पड़ती है.

यह विरोध उभयथा सम्भव है :

(१) साधनस्वरूपको विकृत बना कर, यथा, एककर्तृका तनुवित्तजाके बजाय भिन्नकर्तृका तनुजा और वित्तजा के अनुष्ठानद्वारा साधनके स्वरूपविघातक व्यापारद्वारा, अर्थात् स्वगृहके बजाय सार्वजनिक देवालयमें कृष्णसेवाके साधनस्वरूपके विघातद्वारा, स्वकीय भक्तोंके सहयोग तथा संनिधानके बजाय अस्वकीय तथा अभक्तों के संनिधान अर्थात् जनसाधारणके सहयोग तथा संनिधान द्वारा सम्पन्न करने पर.

(२) वास्तविक फलके अनभिलषित होनेपर यह पुन: दो तरहसे सम्भव होता है : (क) वास्तविक फलकी अनुत्पत्ति तथा (ख) वास्तविक फलका विघातन.

तनुवित्तजा, स्वगृहाधिष्ठित स्वरूपकी सेवा, अपने परिवारजनोंके उसमें विनियोगके निर्वाहपूर्वक यथोपदिष्टतया करनेपर भी सेवाकर्ताके अन्त:करणमें वास्तविक फलकी अभिलाषा ही न रहनेपर वह फल उत्पन्न नहीं होगा. यह वास्तविक फलकी महत्ताके प्रति प्रमाद या अज्ञान के कारण भी सम्भव है. इसी तरह तद्विरोधी फलके प्रति मोहजन्य आकर्षणके कारण भी जैसे लौकिक सुख धन पद प्रतिष्ठा प्रतिस्पर्धा या कीर्ति आदिके मोहवश

यथोपदिष्टतया भी कृष्णसेवाका अनुष्ठान इन विरोधी फलोंके मोहवश कृष्णसेवाका स्वरूपोपघाती न होनेपर भी फलोपघाती बन सकता है. अतएव शिक्षाश्लोकी सिद्धान्तमुक्तावली विवृत्ति तथा शिक्षापत्रके वचन स्थालीपुलाकन्यायेन विषयवाक्यतया मेंने प्रस्तुत किये थे. अन्यथा तो अनेकानेक वचन इस अभिप्रायको सिद्ध करनेवाले सुबोधिनयादिसे उद्धृत किये ही जा सकते हैं. उदाहरणतया विशोधनिका (द्वितीय)के मुखपृष्ठपर तथा पृष्ठपृष्ठपर जो वचन उद्धृत हैं उनसे भी यही सिद्ध होता है.

विमर्शकारने इस विषयमें अपनी एक विचित्र व्याख्यानरीति पेटेन्ट बना रखी है कि जितने भी निषेधवाक्य हैं उनकी सदाचारसे विरुद्धता दिखला कर सिद्धान्तविपरीत सदाचारकी वचनाविरोधिताकी उपपत्ति देने-खोजनेके बजाय कण्ठोक्त निषेधोंका अभिप्राय लक्षणावृत्तिसे खोज लेना.

यह तो ऐसी बाललीला है कि मानों मद्यपानका शास्त्रमें निषेध उपलब्ध होता हो तो भी श्रीबलरामके मद्यपानको सदाचार मान कर मद्यबुद्ध्या मद्यपानको दोषरूप दिखलाना परन्तु गंगाजलपानबुद्ध्या या औषधबुद्ध्या मद्यपानको निर्दोष सिद्ध कर देना. अथवा उन-उन ऋषियोंके अप्सरारमणके वृत्तान्तको उद्धृत कर सदाचारकी शपथ दे या ख कर आधुनिक परवधूविहारको धर्म्य ठहराना सो भी यह कह कर कि परवधूबुद्ध्या परवधूविहार दोषरूप हो सकता है पर अप्सराबुद्ध्या अथवा स्ववधूबुद्ध्या विहार करनेपर आर्ष सदाचारानुसरण ही केवल होता है!

ऐसे बचकाने कुविमर्शोंके कुछ उदाहरण देख कर ही इस विषयके विचारार्थ अग्रसर होना उपयुक्त होगा. देखिये :

(१) ‘‘रतिर्देवादिविषया भाव:’’ इस वाक्यके अनुसार ‘भाव’ शब्दका अर्थ भगवद्विषयिणी रति है. व्यवहारमें देखा जाता है कि पतिदर्शनार्थ किसीके आनेपर पत्नी नहीं रोकती. अन्य लोंगोके समक्ष भी पत्नी मर्यादित रूपमें अपने आराध्य पतिकी सेवा करती है. पतिके विषयमें पत्नीका शृंगाररसका जो स्थायी भाव है, उसे पत्नी लोगोंके समक्ष प्रकट नहीं करती. ‘रति’ का

अर्थ है : ‘‘यह पति किंवा इनका दर्शन आदि सुखका साधन है इस प्रकार का पत्नीका संस्कार.’’ (विम.पृ.सं.१९७-१९८)

## (क)

वैसे तो विमर्शकारने यहां एक बहोत बड़ा झांसा देनेकी कोशिश की है. क्योंकि यह तो ठीक है कि सामान्यतया कोई भी पत्नी पतिको मिलने-देखने आनेवालोंपर रोक-टोक नहीं लगाती होती परन्तु दर्शनार्थिओमें कोई दर्शनार्थिनी पतिकी आंखोंमें डोरे डालने आना चाहती हो, उसपर भी वह पत्नी यदि बुरा न मानती हो और उसे रोके-टोके भी नहीं; और, तब एक दिन वह मनचली दर्शनार्थिनी कोर्टमें दावा भी कर दे : वह पुरुष केवल पतिप्रदर्शिका पत्नीका ही पति नहीं परन्तु दर्शनार्थिनीका भी पति है और पतिप्रदर्शिका तो केवल उसकी परिचारिका है. तब भी वह प्रतिप्रदर्शिका यदि बुरा न मानती हो तो या तो वह स्वपतिविरक्ता होगी अथवा व्यभिचारी पतिने उस पत्नीको सरे-आम रस्तापे उतर कर विरोध दरसानेके बावजूद उसे मार-पीट कर भीगिबिल्ली बना दिया होना चाहिये, घरमें एक निरीह पालतु जानवरकी तरह पाले रखनेको! अन्यथा अपने पतिको फंसानेको दर्शन करने आनेवालीको रोकनेके दाम्पत्यकलहमें तो सती पत्नी भी अपने मुकामसे बाहर निकलकर मार्गपर उतर जाती है. मार खाते-खाते, परन्तु, किसी बिचारीका पत्नी होनेका अभिमान ही खण्डित हो गया हो तो कथा दूसरी है!

अत: ‘‘भावस्तत्राप्यस्मदीय: सर्वस्वश्चैहिकश्च स: परलोंकश्च तेनायं सर्वभावेन सर्वथा सेव्य: सएव गोपीशो विधास्यत्यखिलं हि न:’’ वचनके आधारपर क्योंकि ऐहिक पारलौकिक सभी कुछ पुष्टिप्रभु ही सिद्ध करते हैं तब दर्शनार्थी जनतासे रक्षण-पोषणकी अपेक्षा रख कर भजन करना कारिकामें प्रयुक्त ‘‘सएव न: अखिलं विधास्यति’’ भावनाके विपरीत लगता है. अत: वृत्त्यर्थ, रक्षार्थ, पोषणार्थ, प्रतिष्ठार्थ, जनोद्धारार्थ अथवा परधनके स्वकीयभगवत्स्वरूपकी सेवामें विनियोगार्थ भगवत्सेवाका अनुष्ठान सिद्धान्तानुमोदनीय नहीं हो सकता है.

## (ख)

आज इस व्यावसायिक दर्शन करानेके चक्करमें पुष्टिमार्गीय हम गोस्वामिओंके अधिकतर ठाकुरजीओंको वैष्णव दर्शनार्थी ट्रस्टी बन कर पचा गये हैं. कई स्थलोंपर तो ऐसे प्रदर्शनार्थी पू.पा.महाराजोंका निष्कासन भी ट्रस्टिओंने कर दिया है. स्वयं सुरतघरके ताबेकी कलोलकी हवेलीमें, सुनते है कि ट्रस्टिओंने सिर उठाना चाहा है, स्वयं मोटी हवेलीमें आराध्य श्रीबालकृष्णलालजीको मन्दिर रिपेर करनेके लिये वराछा रोड पधरानेकी योजना स्थगित करनी पडी कि कहीं मुकदमेबाजी न हो जाये! बावजूद इसके दर्शनार्थिओंकी उद्धारकी कामनामें कितनी सदाशयरूपा जनोद्धिधीर्षा है? और कितनी धनोपार्जनकी विवशता? यह कह पाना कठिन लगता है. यह स्थिति इतनी विरल भी नहीं कि विमर्शकारके ध्यानसे बाहर हो. हर सूरतमें यह एक व्यावहारिक विवशताकी कथा है सैद्धान्तिक पक्ष नहीं. वैसे इतना सुदृढ है कि सेवाका सार्वजनिक प्रदर्शन करना हो तो सेवास्थलको न केवल प्राचीन तन्त्रागमोंके नियमोंके अनुरूप अपितु आधुनिक उच्चतम न्यायालयके निर्णयोंके आधारपर भी देवालय स्वीकारना पडेगा. इतना ही नहीं अपितु उस देवालयस्थ भगवद्विग्रहपरसे अपना स्वत्व भी निवृत्त मानना पडेगा. फिरभी ऐसे भगवद्विग्रहके बारेमें स्वरूपासक्तिका दावा तो बचकानी मनोवृत्ति लगती है. अन्यथा स्वीयभक्तजनेतर अन्य जनसाधारणको दर्शन कराये ही नहीं जा सकते. विशाल खुले द्वारोंवाली बेरोकटोक आवागमनकी सुविधा दर्शनार्थिओंको प्रदान करनेवाली हवेलीके संचालक क्यों दर्शनार्थी जनताको महाप्रभु-प्रभुचरण भगवत्स्वरूप सेवार्थ पधरा कर अपने-अपनें घरोंमें सेवाका उपदेश नहीं देते. ऐसे करनेपर खोनेको केवल देवोत्तर द्रव्यका आर्थिक लाभ होगा और पानेको स्वयं निजाराध्य देवाधिदेव भगवत्स्वरूप होगा! खेदके साथ, परन्तु, कहना पडता है कि देवलकोंकी रुचि प्राय: देवमें नहीं किन्तु देवद्रव्यमें ही बद्धमूल होती है.

विमर्शकार कहते हैं --

''अन्य लोगोंके समक्ष भी पत्नी मर्यादित रूपमें अपने आराध्य पतिकी सेवा करती है. पतिके विषयमें पत्नीका जो शृंगाररसका स्थायिभाव रति है उसे पत्नी लोगोंके समक्ष प्रकट

नहीं करती.''(तत्रैव)

वैसे तो आधुनिकायें उद्यानोंमें, सागरतटोंपर या क्लबोंमें अपने पति या प्रेमी के प्रति रहे शृंगारात्मक भाव भी प्रकट करती ही हैं, जैसे हम आधुनिक गोस्वामिगण शृंगाररसात्मिका जलक्रीडाकी भावनासे कराये जाते ज्येष्ठाभिषेकके दर्शन मंगलामें आम जनताको कराते है. दानलीलाके शृंगारिक भावपूर्ण दर्शन शृंगार राजभोग आदि दर्शनोंमें कराते हैं. सांझीके सन्ध्या-आरतीमें और शारदी पूर्णिमामें रासलीलाकी भी भावनावाले दर्शन भी शयनमें कराते ही हैं. वसन्तके खेलमें तो चालीस दिनोंतक शृंगारभावात्मिका रतिसे ठाकुरजीको चोवा चन्दन गुलाल अबीरसे खिलानेके भी दर्शन कराये ही जाते हैं.

यदि कहा जाये कि इन शृंगारलीलाभावोंके दर्शन या प्रदर्शन में गोस्वामी स्वयंका प्रभुके प्रति रहा मधुरभाव प्रकट नहीं करते परन्तु व्रजभक्तोंके भगवान्के प्रति कैसे मधुरभाव थे उन्हींका केवल प्रदर्शन करते हैं! तब तो यह भी स्वीकारना ही पड़ेगा कि या तो इन सेवाओंका अनुष्ठान हम गोस्वामिवर्ग सर्वथा भावविहीन केवल जनप्रदर्शनार्थ ही करते हैं; अन्यथा, उन्हीं क्रियाओंके अनुरूप निज हृदयमें भी भाव होनेपर ऐसी शृंगाररसात्मिका सेवा तो कमसे कम जनताके समक्ष हमें बन्द करनी चाहिये थी, धनलालसाको संयत करके. परम्पराकी दुहाई दे कर, यदि ऐसा करनेमें विमर्शकारको दोष न लगता हो तो, आहार्य सख्यभक्तिको प्रकट किये बिना ठाकुरजीको शृंगार धराते समय भी खुले टेरामें शृंगार धरानेमें आपत्ति होनी तो नहीं चाहिये थी. फिर शृंगार धरानेकी सेवाके प्रदर्शनसे क्यों कतराना चाहते हैं? क्यों अब यहां ''एकत्र निर्णीत: शास्त्रार्थो असति बाधके अन्यत्रापि न युज्यते?'' जैसे अन्नकूट-छप्पनभोगके प्रदर्शन आम जनताके समक्ष आयोजित होते हैं, वैसे ही मंगलभोग गोपीवल्लभभोग राजभोग उत्थापन शयनभोग आदिका भी प्रदर्शन क्यों किया नहीं जाता? यदि कहा जाये कि सेवारीतिकी घर-घरमें विद्यमान पुस्तकोंमें उसका प्रावधान नहीं है, अत: टेराके भीतर ही वह सेवा अनुष्ठेय होती है. तो ऐसा क्यों नहीं सोच लिया

जाता कि यह निषेध भी लाभपूजार्थ प्रदर्शनकी मनोभावनावश प्रदर्शनका निषेध होगा परन्तु हवेलिओंमें आनेवाली साधारण जनताके उद्धारार्थ प्रदर्शन करनेमें यह निषेध बाधक नहीं होना चाहिये. ''एकत्र निर्णीत: शास्त्रार्थो असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते.''

कोष्ठक (ख)के सामने दिये वचनमें कारिका तो नि:सन्देह महाप्रभुका उपदेश है परन्तु उसके विवरणतया दिये गये प्रभुचरणवचन सभी मातृकाओंमें उपलब्ध न होनेसे सिद्धान्तचर्चासभामें चि.महाकविने उसका प्रामाण्य सन्दिग्ध माना था (द्रष्टव्य : विस्तृ.विव.पृ.सं.९७ तथा २१८-२२१). इस बारेमें विमर्शकारका मौन हमें मौनव्रत धारण करनेको बाधित नहीं कर सकता; क्योंकि, शब्दावलीका प्रामाण्य सन्देहास्पदतया स्वीकार कर भी चलें परन्तु इन शब्दावलियोंमें अभिप्रेत उपदेश महाप्रभुकी मूलकारिका तथा प्रभुचरणके (आगे इस प्रकरणमें निष्कर्षतया उद्धृत किये जानेवाले) भक्तिहंसके वचनोंकी एकवाक्यता करनेपर और कठोर शब्दोंमें इसी उपदेशको प्रकट कर रहे हैं.

**(ग)**

विमर्शकार कहते हैं--

> ''जिस प्रकार पतिके साथ रहस्यमें हुयी बातचित आदिको लोंगोके सामने प्रकट करनेपर पत्नीका पतिके प्रति भाव बढ़ता नहीं अपितु घटता है. उसी प्रकार भगवान्के साथ होनेवाली रहस्यवार्ता आदिको लोंगोके सामने प्रकट करनेपर भक्तका भगवान्के प्रति विद्यमान भाव बढ़ता नहीं घटता है. अत: भगवान्की सानुभावताका प्रकाशन अनधिकारिओंके सामने नहीं करना चाहिये. (विम.पृ.सं.१९८)

यहां यह प्रश्न उठता है कि जैसे पतिके साथ रहस्यमें हुई बातचीत पत्नीको प्रकट नहीं करनी चाहिये वैसे सेवाकर्ताको अपने प्रभुके सानुभावकी रहस्यवार्ता क्यों प्रकट नहीं करनी चाहिये? उत्तररूपेण भावकी अवृद्धिंगामिताकी सम्भावना अथवा भावके नाशकी भीति ही हेतुतया उपस्थित होती हैं. तो व्रजभक्तोंके साथ भगवान्की जो रहस्यलीला है उन्हें

प्रकट करनेवाली सेवाका सार्वजनिक प्रदर्शन कैसे अनुमोदनीय हो पायेगा? यदि कहा जाये कि व्रजभक्तोंके अनुकार्य भावोंकी भावनानुकारिणी सेवा करनेवाले हम आधुनिक गोस्वामिओंकी सानुभावताका प्रदर्शन न होनेसे अनुमोदनीय हो सकता है तो इसके कारणको भी खुल कर बताना पड़ेगा :

(१) क्या अनुकार्य व्रजभक्तोंके सदृश हम आधुनिक गोस्वामिओंके हृदयमें रहे आहार्यभाव या भावना भगवत्सेवाके समय विद्यमान नहीं रहती इस कारण, अर्थात् हम लोगोंकी सेवा केवल क्रियात्मिका ही होती है?

अथवा

(२) हमारी कृष्णसेवामें भावांश व्रजभक्तोंका होनेपर भी प्रदर्शनद्वारा प्रकट होनेवाला अंश तो केवल हमारेद्वारा अनुष्ठित कृष्णसेवात्मिका क्रियाका ही होता होनेसे?

(१) यदि लेशत: भी हम गोस्वामिओंमें निज भगवत्सेवामें व्रजभक्तोंके रहस्यभावोंका आहार्यभावन (अर्थात् भावना) नहीं रहता तो ऐसे भावभावनाके उद्बोधक पदोंका गान सेवाके समय हमें हमारी भगवत्सेवामें बन्द करवाना चाहिये. अन्यथा रहस्यवार्ताका प्रकाशन प्रकट हो ही रहा है. केवल क्रियात्मिका सेवाके इतने समारम्भ पूर्वक अनुष्ठानका भक्तिमार्गमें औचित्य भी क्या हो सकता है? यदि जनतोद्धार? तो क्या वह भक्तिभावके उद्बोधनद्वारा या केवल क्रियाप्रदर्शनद्वारा अथवा निजगृहमें भगवत्सेवार्थ असमर्थ जनोंके द्रव्यके भगवत्सेवामें विनियोगार्थ? इसका स्पष्टीकरण भी देना पड़ेगा. क्योंकि केवल क्रियाप्रदर्शन तो भक्तिभावोद्बोधक होनेके बजाय कर्मप्रेरक ही होगा. भक्तिभावोद्बोधनार्थ भक्तिभावप्रदर्शन करनेपर तो स्वयं विमर्शांगीकृत भक्तिभावप्रणाश ही होगा. परद्रव्यके भगवत्सेवामें विनियोगार्थ तो प्रदर्शन करनेके बजाय जनताको कथाकल्पके समाश्रयणका उपदेश क्यों नहीं दिया जाता? महाप्रभुकी सुस्पष्ट आज्ञा है ही ''सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्ति: दृढा भवेद् यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम'' (भक्तिव.९) कथाकी दक्षिणा वैष्णव श्रोताओंसे ऐंठ कर भी भगवदर्थ नहीं तो

भगवत्कथार्थ द्रव्यविनियोग तो शक्य है ही. यदि कहा जाये कि महाप्रभुकी ''वृत्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि'' (त.दी.नि.२।२५४) निषेधके रहते वह शक्य नहीं. तो इस निषेधकी प्रयोजनकी मीमांसा करनी पड़ेगी और वह महाप्रभुके उपदेशद्वारा शान्त करनी हो तो ''इदं नामात्मकं भगवतो रूपं तत्स्वविक्रेतरि विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति'' (त.दी.नि.प्र. ३।१।२७) वचनानुसार फिर ''एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थो असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते'' न्याय यहां विमर्शकार क्यों लागू नहीं करना नहीं चाहते? नामात्मक रूप और साक्षात् स्वरूप के बीच ऐसा क्या तारतम्य है कि एकका आजीविकार्थ उपयोग वर्ज्य ही होता है अपरका आजीविकार्थ न केवल अनुपयोग प्रत्युत विमर्शकारके शब्दोंमें कहना हो तो ''अनन्यशरण भगवद्भक्त उत्तम वैष्णवोंको ऐश्वर्यकेलिये पूजन करनेमें दोष नहीं... रक्षा एवं पोषण के बिना देवकी पूजा न करें''--''याजनके अन्तर्गत ही वृत्त्यर्थ परार्थ भगवत्सेवा एवं भृत्यर्थ परार्थ भगवत्सेवा के आ जानेसे वृत्त्यर्थ भगवत्सेवा निषिद्ध नहीं है'' (विम.पृ.सं.४५--३९). क्या नामात्मक भगवद्रूपकी तुलनामें साक्षात् भगवत्स्वरूपकी भगवत्ता विमर्शकारको न्यून लगती है! भगवत्कथाका भी केवल वेतनग्रहणार्थ उपयोग ही निषिद्ध मान कर दक्षिणाका निषेध नहीं मानना चाहिये था! यदि वहां दक्षिणा अग्राह्य हो तो यहां दक्षिणा कैसे ग्राह्य मान ली गयी है? यदि सबसे अपने घरोंमें भगवत्सेवाका निर्वाह शक्य न होनेका बहाना भी बनाना हो तो कमसे कम जिनसे निर्वाह शक्य हो, उन्हें तो स्वयं उनके घरोंमें बिराजते सेव्यस्वरूपकी सेवाके लिये प्रेरित करना चाहिये, उन्हें अपने घरोंमें भटकता बनाये रखनेके बजाय.

एतावता सिद्ध होता है कि हम गोस्वामिओंद्वारा अनुष्ठित भगवत्सेवा व्रजभक्तोंके अनुकार्य रहस्यभावोंसे सर्वथा रहित होनेपर भी भगवत्सेवाके प्रदर्शनकी अनुमोदनीयता भक्तिमार्गीय प्रयोजनवश तो शक्य नहीं.

(२) द्वितीय हमारी भगवत्सेवामें क्रियांश हमारा और भावांश व्रजभक्तोंका स्वीकारनेपर सबसे बड़ी कठिनाई यही आती है कि हमारे आराध्यका स्वरूप न केवल भावात्मक है अपितु हमारी सेवासामग्री द्रव्य तथा क्रिया सभीमेंसे पुष्टिप्रभु भावोंका ही अंगीकार करते हैं. अतएव

श्रीप्रभुचरणके सेवाश्लोकोंमें आता है ''भावात्मकृतसामग्र्यां भोगेच्छां प्रकटी कुरु''--''...उद्दीप्तो भावभोजनमाचर''--''भुङ्क्ष्व भावैकसंशुद्धम्'' (प्रभुचरणकृत सेवाश्लोक.५७,५८.६२). अन्यथा भावरहित केवल द्रव्य या क्रिया का अंगीकार तो मन्त्रबलसे पूजामार्गीय देवताओंके बारेमें भी मान्य ही होनेसे पुष्टिप्रभुके वैशिष्ट्यका ही प्रत्याख्यान हो जायेगा. मूलमें यही हेतु था कि गृहिणोपसंहाराधिकरणमें तथा साधनदीपिकामें आधुनिक गृहस्थ भक्तोंके भावोंके संगोपन अर्थात् अस्वीय भक्तोंके समक्ष अप्रकाशनका नियम समझाया गया था. यह निजाचार्यप्रभृति पूर्वपुरुषोंकी कितनी बड़ी मनोवैज्ञानिक सूझबूझ थी ! कारण एक ही था कि उनकी कृष्णसेवा भगवदाराधना ही थी. वह न तो जनाराधना थी और न धनाराधना. हम गोस्वामिओंके दुर्दैवविपाकवश वह हमारी कृष्णसेवा अब सकलभक्तजनविगर्ह्य केवल धनजनाराधनाका नग्नताण्डव बन गयी है, जिसकी वकालत 'विमर्श' द्वारा की जानी कायिकी नग्नताके अलावा वाचिकी भी नग्नता नहीं तो और क्या हो सकती है?

वैसे विमर्शकारने 'देवलकप्रकरण'में अपना उत्तरपक्ष कोष्ठक (ग) के सामने दिये श्रीहरिराय महाप्रभुके वचनके अभिप्रायनिरूपणके साथ प्रारम्भ किया परन्तु शीघ्र ही वार्ताके आधार खोजने पलायन कर अन्तमें ''भगवत्सेवाके मिषसे अपने लाभ एवं अपनी पूजा केलिये किये जानेवाले प्रयत्नमें उपधर्मत्व देवलकत्व आदिका सम्पादकत्व है'' (विम.पृ.सं.३४) स्वीकार कर भी पृष्ठसंख्या ३८-३९ पर वृत्त्यर्थ परार्थ भगवत्सेवाको पुन: निर्दोष मान लिया है. अवधेय है कि वृत्ति यदि स्वार्थ भोगोपयिक न हो तो वह 'वृत्ति' ही नहीं कहलायेगी सो श्रीहरिरायजीका ''न भोगार्थं'' निषेध वृत्त्यर्थ परार्थ भगवत्सेवाके निषिद्धतामें ही पर्यवसित होता होनेसे 'विमर्श'का शिक्षापत्रद्रोह ही यहां प्रकट हो रहा है. इसमें लेशमात्र सन्देह रह नहीं जाता है. यदि वृत्तिको भगवद्विनियोगार्था मान कर भी चलें तो भगवदुद्देश्यक देवस्व ही सिद्ध होनेसे पुन: देवलकत्वापत्ति दुष्परिहरा सिद्ध होगी. देवोद्देश्यक गोस्वामिस्वामिक परद्रव्यांगीकार तो कोई निर्लज्ज पुरुष ही घोषित कर सकता है, भक्तपुरुष नहीं.

इस सारे विषयके स्पष्टीकरणार्थ पुनः नड़ियादके केसमें पू.पा. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्रीके कुछ वक्तव्य उद्धृत करना चाहेंगे. इनके अवलोकन करनेसे सारी अस्पष्टता दूर हो कर सभी मुद्दे करतलामलकवत् स्पष्ट दिखलायी देने लगेंगे. यथा :

> ''गोस्वामी बालकोंकें घरमें बिराजते स्वरूपोंको वैष्णव अर्पण कर नहीं सकते हैं. परन्तु गुरुओंको भेंट दे सकते हैं. अतः देनेवालेका मालिकाना हक दी भेंटपर रहता है या नहीं का प्रश्न उपस्थित नहीं होता... भेंट और अर्पण दोनों अलग बाते हैं भेंटमें देनेवालेका मालिकाना हक निवृत्त हो जाता है और लेनेवालेका पैदा होता है और समर्पणमें समर्पण करनेवालेका मालिकाना हक कायम रहता है. अतः भेंट और समर्पण एक ही बात नहीं... (पृष्टसं.८).
>
> **वकील :** वैष्णवोंद्वारा जो भेंट धरी जाती है वह श्रीठाकुरजीकी सेवाके लिये नहीं परन्तु गुरुके लाभार्थ दी जाती है, ऐसा आपका कहना है?
>
> **महाराजश्री :** नहीं.
>
> **वकील :** वैष्णवोंके द्वारा श्रीठाकुरजीको उपर कहे गये अनुसार दी जाती भेंट गुरु, श्रीठाकुरजीकी सेवार्थ स्वीकारते हैं क्या यह ठीक है?
>
> **महाराजश्री :** श्रीठाकुरजीकेलिये भेंट धरी ही नहीं जाती तो गुरु वैसी भेंट भेंट स्वीकारते हैं या नहीं यह प्रश्न ही नहीं उठता. परन्तु स्वयंके आत्मकल्याणकेलिये वैष्णव भेंट धरते हैं.
>
> **वकील :** वे किसे भेंट धरते हैं?
>
> **महाराजश्री :** गुरुको. (पृ.सं.१८)
>
> ...............................

**वकील :** यदि कोई भी पुष्टिमार्गीय मन्दिरमें वैष्णव श्रीठाकुरजीकी सेवा एवं नेगभोग केलिये और श्रीठाकुरजीकी सेवाके निर्वाहकेलिये भेंट आदि धर कर वित्तजा सेवा करते हों तो या मन्दिरमें तनुजा सेवा करते हों तो क्या वह मन्दिर पुष्टिमार्गीय नहीं होता ऐसे आपका कहना है?

**महाराजश्री :** पुष्टिमार्गीय मन्दिरमें वैष्णवोंद्वारा तनुजा, वित्तजा सेवा स्वतन्त्र करनेकी कोई प्रक्रिया नहीं है, और वह करते हों तो वह मन्दिर साम्प्रदायिक नहीं कहा जा सकता.

**वकील :** सुरतके श्रीबालकृष्णजीके मन्दिरमें श्रीठाकुरजी श्रीबालकृष्णजीकी सेवाकेलिये वैष्णवोंके द्वारा स्थावर-जंगम सम्पत्ति भेंट धरी जाती है या नहीं?

**महाराजश्री :** यह मेरी निजी हवेली है ओर निजी स्वरूप है और यहां जो कुछ भेंट आता है वह मेरी भेंट होती है.

**वकील :** भेंट तो वैष्णव धरते हैं ओर श्रीठाकुरजीको धरते हैं.

**महाराजश्री :** वैष्णव धरते हैं यह सच्ची बात है परन्तु भेंट तो मेरी ही कही जायेगी.

**वकील :** भेंट तो श्रीठाकुरजीको धरते हैं.

**महाराजश्री :** नहीं. (पृ.सं.२१)

..............................

**वकील :** आपको यह रसीद दिखाययी जा रही है वह आपकेद्वारा दी गयी है कि नहीं?

**महाराजश्री :** हां.

**वकील :** इस रसीदके आधारपर तो आप स्वीकारेंगे कि

श्रीठाकुरजीको भेंट यहां धरी जाती है?

**महाराजश्री :** नहीं.

**वकील :** इसमें ठाकुरजीकी भेंट छपा हुवा है.

**महाराजश्री :** यह तो मैंने अपनी निजी समझकेलिये छापा है.

**वकील :** आपकी निजी समझ यानि कि ऐसी रकम श्रीठाकुरजीकी सेवाकेलिये आपको वापरनी है यही न?

**महाराजश्री :** नहीं.

**वकील :** अर्थात् ऐसी भेंटको भी आप श्रीठाकुरजीकी सेवाकेलिये वापरनेको बंधे हुवे नहीं हैं?

**महाराजश्री :** नहीं. (पृ.सं.२२)

............................

**वकील :** श्रीठाकुरजीकेलिये वैष्णवोंकेद्वारा दी जाती भेंट गोस्वामी महाराजोंद्वारा अनेक बार स्वीकारी जाती है.

**महाराजश्री :** मैं कई बार कह चुका हूं कि श्रीठाकुरजीकेलिये कोई भी वैष्णव भेंट धर ही नहीं सकता तो स्वीकारनेकी बात कहां हो सकती है.

**वकील :** वैष्णवोंको गोस्वामी महाराजोंको श्रीठाकुरजीकी सेवाकेलिये कुछ भी देना ही नहीं चाहिये क्या?

**महाराजश्री :** भेंट धरनेकी पद्धति नहीं है.

**वकील :** भेंट स्वीकारनेकी पद्धति है क्या?

**महाराजश्री :** नहीं. (पृ.सं.२५)

..............................

**वकील :** वैष्णवोंके घर पधरामणीके समय श्रीठाकुरजीकी भेंट अंतर्पट रख कर ली जाती है और उसपर मालिकी आपने महाराजोंकी स्वीकारी तो एक ही समय इस तरह दो–दो भेंट लेनेमें वैष्णवोंसे दोहरी भेंट लेने के आशयसे क्या वह ली जाती है? या अंतर्पटवाली भेंट श्रीठाकुरजीकी सेवाकेलिये ली जाती है?

**महाराजश्री :** श्रीठाकुरजीकी सेवाकेलिये नहीं परन्तु श्रीठाकुरजीके लिये ली जाती है. (पृ.सं.३२)

यह गवाही पू.पा.महाराजश्रीने दिनांक १६।१२।१९४६ के दिनक साड़े बारह बजे पूरी की थी, बी.बी.देसाई (कमिशनर्स् कैरा स्पेशियल सूट नं.२५४३) के समक्ष. 'विमर्श'के आमुखलेखनका काल २८।४।१९९२ दिनांकित हुवा है. इन छियालीस वर्षोंमें पू.पा.महाराजश्रीके विशेष स्वमार्गीय ग्रन्थाध्ययनवशात् यह विचारोंमें परिवर्तन आया है कि वार्धक्यवशात् दृष्टिलोप हो जानेके कारण पू.पा.महाराजश्रीके हस्ताक्षर उन्हें अनवगत प्रलेखपर ले लिये गये हैं? आखिर उनके विचारोंमें इतना अन्तर कैसे आ गया और क्यों आया? यह अब विमर्शकारको समझाना पड़ेगा. क्योंकि इस गवाहीमें पू.पा.महाराजश्रीने स्वीकारा है कि पुष्टिमार्गीय हवेलियोंमें भगवत्सेवार्थ न तो धन देनेकी पद्धति है और न धन लेनेकी (यह कथा दूसरी है कि तब भी स्वयं गवाही लेने आये वकीलसे श्रीठाकुरजीके भेंट स्वरूप सेवा स्वीकारी गयी थी और उसकी रसीद भी दी गयी थी!). साथ ही साथ यह भी स्वीकारा गया था कि इस तरह यदि परद्रव्य कहीं लिया–दिया जाता हो तो उसे पुष्टिसम्प्रदायानुसारी कृत्य नहीं माना जा सकता. 'विमर्श'में, परन्तु, अब यह कहा जा रहा है कि

"**'जहां धन मिले अपना निर्वाह हो' इस उद्देश्यसे मनोरथ आदिका सम्पादन नहीं किया गया हो वहांपर मनोरथ आदिके लिये प्राप्त द्रव्यका भगवत्सेवामें विनियोग होनेपर प्रसादग्रहण करनेमें अचोपजीवकत्वका दोष आ नहीं सकता.**" (पृ.सं.१३–१४)

अजीब दास्तां है ये कहां शुरु कहां खतम ये मंजिलें कौन सी न वो समझ सके न हम ! कल तो कोई वारांगना भी कहने लग जायेगी कि ‘‘जो अविवाहित या विधुर पुरुष होते हैं उनकी दारुण कामपीड़ाके त्रासको निवृत्त करनेकी अंशत: भी परोपकारकी भावना जिस हृदयमें न हो ऐसी स्त्रीके द्वारा किये जाते देहके व्यापारद्वारा अर्थोपार्जनको अनीति माना जा सकता है परन्तु अंशत: भी परोपकारका भाव हृदयमें होनेपर कामपीड़ितोंद्वारा, वेतनत्वेन नहीं प्रत्युत उपायनत्वेन प्रदत्त द्रव्यपर स्वोपभोगार्थ स्वत्व स्थापित करना अनीति नहीं मानी जा सकती!’’ तो ऐसे परोपकारके कृतज्ञाताज्ञापनरूप उपायन और कायव्यापरके अनाचारद्वारा अर्जित द्रव्यमें विमर्शकार कैसे विभाजकरेखा खींच पायेंगे यह जिज्ञास्य है? ऐसा नहीं कि इसके मूलमें सामाजिक समस्यासे तत्तद् देशकी सरकार वाकिफ न हों. अन्यथा वारांगनाओंको कानूनन अपनी कायाके व्यापार करनेका अनुज्ञापत्र (लायसंस्) देनेकी परिपाटी क्यों होती? फिरभी यह तो एक तथ्य है अन्न वस्त्र रत्न भूमि-भवन आदिके व्यापार करनेवालोंकी समाजमें जैसी प्रतिष्ठा होती है ऐसी अपनी कायाके व्यापार करनेवाली स्त्रीकी सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं होती. अतएव कुछ स्त्रियां सरकारी अनुज्ञापत्रके साथ प्रकट सार्वजनिक कायाव्यापार करनेके बजाय निजी गृहोंमें अपना स्वत्व रखते हुवे ऐसा व्यापार भी करती हैं समाजमें अपनी प्रतिष्ठा भी निभाना चाहती हैं. शास्त्रोंमें भी अतएव निजगेहमें भक्तिभावपूर्वक अर्चनादि सुविधा जिन्हें नहीं उनकेलिये परार्थ देवालय और उनमें अर्चकोको अर्चनाकी दक्षिणा स्वीकारने और देनेकी अनुज्ञा दी ही है. धार्मिक जगत्में भी धर्मोपदेशक गुरु आचार्योंके जैसी इन अर्चकोंकी धार्मिक प्रतिष्ठा नहीं दिखलायी देती है. हम गुसांई महाराजोंने भी अतएव निजी घरोंमें अपने आराध्यको परार्थ प्रतिष्ठापित सार्वजनिक देवालयस्थ भगवद्विग्रहकी तरह पधरानेके बजाय अपने स्वत्वके डिंडिमघोषके साथ अपनी निजी आराधनाको आजीविकाके रूपमें निभानेका जो छलप्रपंच किया है उसकी ही वकालत ‘विमर्श’ करना चाहता है.

अत: इसवी सन् १९५० में बरोड़ासे प्रकाशित परशुरामकल्पसूत्रके वचनको विमर्शकार--

**“यस्तु भक्त्या प्रयत्नेन स्वयं सम्पाद्य चाखिलम् ।
साधनं चार्चयेद् विद्वान् स समग्रफलं लभेत् ।।
योऽर्चयेद् विधिवद् भक्त्या परानीतैश्च साधनैः ।
पूजाफलार्धमेवास्य न समग्रफलं लभेत् ।।”**

इन वचनोंको इसी पृष्ठपर उद्धृत कर उसका समाधान यों प्रस्तुत करते हैं कि “शिष्योंका उस द्रव्यमें स्वत्व होता नहीं इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि गुरुघरमें ऐसे द्रव्यको पृथक् रखनेकी व्यवस्था नहीं रही, न है.... अतएव गुरु उस द्रव्यको अपनी इच्छाके अनुसार विनियोग करते हैं” (विम.पृ.सं.१३). इस बारेमें परन्तु अनेक विकराल प्रश्न खड़े हो जाते हैं.

सर्वप्रथम तो उल्लिखित श्लोकोंमें परानीत साधनोंसे अर्धफल मिलता है ऐसा क्यों कहा जा रहा है? अर्चनसाधनोंको लानेवाले परपुरुषका अर्चनमें यदि आधा हिस्सा न हो तो विमर्शनीतिके अनुसार उन परानीत साधनोंको उपायनतया स्वीकार कर कोई भी अर्चक उन परानीत साधनोंमें, विमर्शोक्तदिशया, अपना पूर्ण स्वत्व स्थापित कर पूर्ण फलका भागी क्यों नहीं बन सकता! इसके अलावा यहां ‘विधिवद्’ पद और ‘भक्त्या’ पद अतीव लक्ष्यमें रखने लायक हैं. अर्थात् ऐसे परानीत गौण साधनोंसे भी यथाकथंचित् अर्चनाको निभानेकी भक्तिकी अनुज्ञा शास्त्रवचनसिद्ध होनेपर भी, है विहित होनेके कारण ही. अतएव तदनुसार ही अर्चकको अर्धफल मिलता है, सो भी वह भक्तिभावपूर्वक किया गया पूजन हो तब ही. अर्थात् उससे अपनी आजीविकाका निर्वाह न करता तब ही. अन्यथा तो देवलकत्व ही आता है. यह हम विशोधनिकाके द्वितीय परिच्छेदमें प्रतिपादित कर ही चुके हैं.

पुष्टिभक्तिके अन्तर्गत तो प्रभुचरणकृत निषेध तथा उसके व्याख्याताओंद्वारा कृत व्याख्याओं यथा --

१. “वित्तं दत्त्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका, एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा. एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्.”

२. ‘‘नच यागो यजमानस्येव वित्तदातुः फलति इति **शङ्क्यं,** तत्र ऋत्विग्वरणादिवद् अत्र तद्दानादेः भक्तिमार्गे भगवता अनुक्तत्वाद्. अतः तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्.’’

३. ‘‘ ‘उक्तसेवा’=मानसी सेवा. ‘इतरे’=तनुवित्तजे. ‘एका’ इति वित्तजा इति अर्थः. ‘एतादृशेन’=वित्तग्रहीत्रा पुरुषेण. ‘अपरा’=तनुजा. ‘तत्साधिके’=फलरूपसेवासाधिके. तथाच एककर्तृकेएव ते तत्साधिके इति फलितार्थः.’’

४. ‘‘तनुश्च वित्तञ्च तनुवित्ते ताभ्यां जाता=कृता स्वतः प्रादुर्भूता वा तनुवित्तजा. द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् तनुजा वित्तजा च तत्सिद्धौ ‘ते’=संसारनिवृत्तिः ब्रह्मबोधनम्. ‘वस्तुस्वभावाद्’ इति मानसीपूर्वरूप-वस्तुस्वभावात्. मानसीसेवासिद्ध्यै तनुवित्तजा.’’

(१.सिद्धा.मुक्ता.विवृ.२ २.विवृ.प्रका. ३.विवृ.टिप्प. ४.टिप्प.विवृ.).

द्वारा निराकृत होनेसे ऐसी सेवा अवैध ही मानी जायेगी. इस बारेमें सारे खुलासे विशोधनिकाके प्रथम परिच्छेदमें किये जा चुके हैं.

दूसरे प्रतिपक्षके वकीलको श्रीठाकुरजीकी भेंटसेवाकी रसीद क्यों दी गयी? क्या तथाप्रचारित षष्ठपीठमें पीठाधीशोंको जितनी भी भेंट आती है उसे वे किस कार्यमें विनियोग करेंगे इसकी रसीद दी जाती है? यदि नहीं तो केवल श्रीठाकुरजीकी रसीद देनेका हेतु क्या था? अतः ऐसे द्रव्यको पृथक रखनेकी व्यवस्था थी या नहीं, अथवा सम्प्रति है या नहीं, अथवा भविष्यमें रखी जायेगी या नहीं, ऐसी लचर बातोंको प्रमाण कैसे माना जा सकता है! वैसे स्वयं मैने एक बार जिज्ञासार्थ किसी वैष्णवद्वारा सुरतके समाधानीसे पुछवाया था कि श्रीठाकुरजीकी भेंटकी रसीद दो तो समाधानीने उस वैष्णवको कह कि ‘‘ऐसा करनेसे सरकारी लफड़ा होता है अतः बिना रसीदके भेंट जमा करानी हो तो करा जाओ’’ इसकी रेकोर्डेड् केसेट् भी उसने मुझे ला कर दी है! इससे अधिक ‘‘मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् व्यवहारे पुनरन्यथा’’ का उदाहरण और क्या

हो सकता है? ये सब तो खैर, विमर्शकारकी अपनी आजीविकासम्बन्धी विवशता हो सकती हैं परन्तु इसे सिद्धान्तमें प्रमाणतया कैसे स्वीकारा जा सकता है?

वैसे इन सारी बातोंका विस्तृत विशोधन हम अपने अपनी द्वितीय विशोधनिकामें कर ही चुके हैं सो विस्तार अब यहां आवश्यक नहीं. परन्तु नाशिकमें उसे उपहारतया देने गये सज्जनको विमर्शकारने कहा था कि 'विशोधनिका-अशुद्धिप्रदर्शन' हम भी लिख कर प्रकाशित करवा देंगे परन्तु चातककी तरह उसकी प्रतीक्षा करनेके बावजूद अभी तक वह मुझे मिला नहीं है. ''कब देखो मेरी ओर? हम चितवत तुम चितवत नाहि मेरे करम कठोर!''

## (घ)

इसके बाद क्रमानुरोधात् प्राप्त होता है स्वयं विमर्शकारद्वारा उद्धृत श्रीगोकुलनाथजीके चोबीस वचनामृतमें जो कहा गया है उसकी संगतिका विचार कि वह विमर्शके साथ कैसे शक्य है? ''**भगवत्सेवा है सो गोप्य है. सो काहूसों जनावे नाहीं**'' कह कर ''**जो सेवा प्रकट करी अपनी प्रतिष्ठा बढ़ावे तो वाकों 'पाखंडी' कहिये. सो ताकी सेवामें कुछ पुष्टिमार्गको फल नहीं और पाखण्ड करिवेवारेके हृदयमें लौकिक आवेश आवे सो लौकिक आवेशते बहिर्मुख होय. सेवामें प्रतिबन्ध पडे. पाखण्डको मूल लोभ-भय है सो लोभ-भय छूटे तब पाखण्ड न होय. और लोभके लौकिकके लिये जगतमें पाखण्ड करत हैं, सो लोभी पाखण्डी होय. ताको अन्याश्रय होय जाय. लोभके वशते ज्ञान-विवेक जाते रहें. लोभी-पाखण्डीके हृदयमें श्रीठाकुरजी कबहू न बिराजे. तातें भगवद्धर्म-सेवा थोड़ी बने तो बाधक नहीं, सो थोड़े ही शुद्ध धर्मते याके सघरे कार्य सिद्ध होय जायें. और बहोत करे और पाखण्ड करे परन्तु पाखण्ड-लोभ (उदा. पीठाधीशताकी प्राप्ति, भूति-प्रतिष्ठार्थ छप्पनभोग आदिके यत्र-तत्र आयोजन गो.श्या.म.)लौकिक आसक्तिके भगवद्धर्म न बढ़े**''. जिस सदाचारकी इतनी दुहाई विमर्शकार देते हैं, उस सदाचारके इतिहासमें कभी न मनाये गये ऐसे श्रीयदुनाथजीके उत्सवोंका आयोजन भूतिप्रतिष्ठार्थ नहीं तो और क्या माना जा सकता है? षष्ठपीठाधीशतया घोषित होनेको केवल नाथद्वारामें

छप्पनभोग आयोजित किया गया था (जिसके बांटे गये परचे प्रमाण हैं. गो.श्या.म.) अत: भूति-प्रतिष्ठाके बढ़ावेके लिये भगवत्सेवाको प्रचार नहीं करनो चाहिये (वैसे 'वैष्णववाणी'में पेम्फलेट भेजे गये थे. गो.श्या.म.) ''अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये भगवद्दर्शन कराना उचित नहीं परन्तु लोगोंका उद्धार करनेके लिये दर्शन कराना उचित है'' (विम.पृ.सं.१९९-२०१)

वैसे हकीकत तो यह है कि इन अक्षरोंको लिख रहा हूं उससे ठीक दो दिन पूर्व जामनगरके एक वैष्णवभाई मुझे कह रहे थे ''**महाराजश्रीनी पासे अढलक धन होवा छतांय, हूं मुंबई आवतो हतो तेथी पहेला दर्शन करवा गयो. त्यारे महाराजश्रीए आज्ञा करी-'...भाई! अधिकमास आवी रह्यो छे खयालमां तो छे ने?' हूं तो मारुं द्रव्य प्रभुनी सेवामां विनियोग थाय ते मारुं सौभाग्य मानुं पण आटली अढलक सम्पत्ति होवा छतांय महाराजश्रीने अमारा जेवा जीवो पासे मांगवुं पडे ऐनुं कारण समजातुं नथी**'' इससे सिद्ध होता है कि कीर्ति भी यदि मिलती होती तो अलौकिक न सही लौकिक लाभ कुछ न कुछ स्वीकारा जा सकता था. परन्तु लौकिक शोखमोजके लिये धन धन धन और धनके अलावा कोई भी कामना हम गोस्वामिओंके हृदयमें शेष बची हो ऐसा पुष्टिमार्गके अनुगामिओंको कमसे कम लगता नहीं है.

क्योंकि जनताके उद्धारके उदात्त आशयसे भगवत्प्रदर्शन किया जाता होता तो धनलालसा छोड कर निजधनसे सारे अधिकमासके मनोरथ करके दर्शन खोले जा सकते थे!

विमर्शकार ''येन केन प्रकारेण'' कल्पका समाश्रयण करके कहते हैं ''**अनन्यशरण भगवद्भक्त उत्तम वैष्णवोंको एश्वर्यके लिये पूजन करनेमें दोष नहीं है. वे वैष्णव वेतनके लिये देवकी पूजा न करे परन्तु रक्षा और पोषण के बिना देवकी पूजा न करें**'' (विम.पृ.सं.४५)

वैसे तो धनार्थ भगवत्सेवा गर्हिततम दुष्कृत्य है फिरभी जनता उसे भी क्षमा कर देती, यदि याचनापूर्वक न की जाती होती तो परन्तु स्वमुख समाधानी पेम्फ्लेट अखबारोंमें विज्ञापन आदि द्वारा 'सिद्धान्तरहस्य' ग्रन्थपर

प्रवचनका आयोजन करके सिद्धान्तरहस्य जिज्ञासाके सात्त्विक भावभरे भोले श्रवणार्थिओंसे अन्तमें अधिकमासमें निजाराध्य भगवत्स्वरूपके मनोरथोंको सम्पन्न करने द्रव्ययाचना कर ली जाती है. किन्तु गर्ह्यम् अतः परम् !

**(ङ)**

विमर्शकार (पृष्ठ : २०१)ने जो ''**भक्तानां दैन्यमैवैकं हरितोषणकारणम्**'' के आदर्शके अनुसार दैन्य रखते हुए जनताके उद्धारार्थ भगवत्प्रदर्शनकी रीति बताई है तो वहां यह प्रश्न उठता है कि इसी तरहका दैन्य रख कर वैष्णव जनता भी व्यावसायिक प्रदर्शनवाले मन्दिर व्यक्तिगतरूपेण या सार्वजनिक न्यासकी गतिविधिके रूपमें चलाये तो वहां नित्यनियमसे दर्शन रक्षण-पोषण करने क्यों गोस्वामिगण जाते नहीं? क्योंकि केवल हम गोस्वामिओंके दैन्यके पाषण्डसे यदि वैष्णव जनताका उद्धार हो सकता हो तो हमारी अनुगामी जनताके व्यावसायिक प्रतिनिधिओंके भी दैन्यके पाषण्डसे हम गोस्वामिओंका उद्धार क्यों नहीं हो पाता है? क्यों ऐसे मन्दिरोंमें हम दर्शन-भेंट-सामग्री-मनोरथोंके लिये दौड़ादौड़ नहीं करते? यदि कहा जाये कि गोस्वामिओंके पास तो उनके अपने ठाकुरजीकी सेवा रहती है तो जिन वैष्णवोंके पास उनके अपने ठाकुरजी बिराजते हों उनको तो यह रहस्य कमसे कम समझा देना चाहिये. क्यों नहीं समझाया जाता? यदि गोस्वामिओंद्वारा किये जाते व्यावसायिक भगवत्सेवाके प्रदर्शनसे ही जनताके उद्धारका कोई सिद्धान्त हो तो अहंकार ही हमारा उजागर होता है, दैन्य नहीं.

इससे सिद्ध होता है :

''**चित्तेन (पदप्रतिष्ठालालसा+वित्तलालसा) दुष्टः वचसापि (स्वमुखगतेन समाधानिमुखगतेन पेम्फ्लेटगतेनापि) दुष्टःकायेन (भगवत्सेवेतर व्यवसायिक सार्वजनिक यज्ञयागादि भागवतसप्ताह व्रजयात्रा आदिना)दुष्टः क्रिययापि (अस्वतनु-अस्ववित्त-जन्ययापि) दुष्टः ज्ञानेन (विमर्शसदृश लेखन प्रकटनसामर्थ्येन) दुष्टः (खैर जाने दो...) कतिधा विचार्यः!**'' हम गोस्वामिओंका भक्तिमार्गसे अधःपात तो भयंकर ही हुआ है.

यह सहज सम्भव है कि मेरे इस लेखनांशको अनेकानेक सौम्य पाठक निर्वैर सैद्धान्तिक आलोचनाके रूपमें स्वीकारनेके बजाय रागद्वेषप्रयुक्त व्यक्तिगत आलोचनाके रूपमें मेरे हृदयके वैयक्तिक रागद्वेष असूया मात्सर्य आदिके दुर्गुणोंका प्रमाण मानना चाहेंगे. ऐसे मूल्यांकनसे मैं अवश्य ही सहमत भी हो जाता परन्तु विमर्शकारकी विचारशैलीका प्रतिबिम्ब प्रकट करनेको मैं यह कहना चाहूंगा कि विमर्शकारकी व्यक्तिबुद्ध्या आलोचना माननेपर यह व्यक्तिनिन्दाकी अक्षम्य दोषदृष्टि हो सकती हे परन्तु अपसिद्धान्तके केवल एक क्षुद्र उदाहरणकी दृष्टिसे देखनेपर इसे व्यक्तिनिन्दा नहीं मानी जा सकती!

इस तरह मैं यदि प्रतियुक्ति दूं तो क्या स्वयं विमर्शकार उसे मान्य रखने उद्यत होंगे? ''**यश्चोभयो: समो दोष: परिहारश्च ययो: सम:**''

विमर्शकार एक ओर कहते हैं कि भगवत्सेवाका प्रदर्शन जनताके उद्धारार्थ अनुमोदनीय है दूसरी ओर कहते हैं कि लाभपूजार्थ भगवत्सेवाप्रदर्शन अनुचित होता है. और तीसरी ओर यह भी स्वीकार लेते हैं कि भगवत्कृपया भगवत्सेवाप्रदर्शनसे लाभपूजा मिलती हो तो वह दोषरूप नहीं. यह तो बहुत भारी झांसेबाजी हो गयी! क्योंकि चोथी ओर विमर्शकार वृत्त्यर्थ तथा भूत्यर्थ भगवत्पूजनकी वकालत भी करना ही चाहते हैं. इससे अधिक वदतोव्याघातका नग्नताण्डव और क्या संभव होगा?

इस सन्दर्भमें अधिक तो क्या भक्तिमार्गाब्जमार्तण्ड सुबोधिनीकारके कुछ वचन ही हृदयके इर्दगिर्द घिरे दुराशयके तिमिरको निरस्त कर भक्तिरसपूरित कमलके रूपमें हृदयको खिला सकते हैं :

वे वचन यों हैं :

**(१) तस्य प्रसादएव दुर्लभ:, प्रसन्ने न किञ्चिद् अदुर्लभम्. यथा स्वस्य भोगे न कापि न्यूनता तथा तस्यापि.**

**(२) भक्तिश्च प्रेमपूर्विका सेवा. हेतु: फलानुसन्धानम्, तद्रहिता अहैतुकी... या भक्ति: इति... नतु चौर्यादिना विषयान् सम्पाद्य भगवत्सेवाकरणम्.**

**(३) लोकनिष्ठता भगवन्निष्ठता च परस्परं विरुद्धा.**

**(४) साधवोहि महत् कर्म कृत्वा स्वयमेव तुष्यन्ति नतु प्रत्युपकारम् अपेक्षन्ते.**

**(५) धर्मकीर्तिविरोधे धर्मो रक्षणीयः इति सिद्धान्तः.**

**(६) दुष्टैव श्रीः अन्यगता शुद्धा कृष्णैकतत्परा, कृष्णमेव ततो वाञ्छेद् न श्रियं बुद्धिमान् क्वचित्.**

(सुबो.(३)१३।५०,२९।१२.सुबो.(१०)८।२६,२९।२२,७३।३३,८५।९)

स्पष्ट है आजके हम पुष्टिमार्गाचार्यवंशजोंको भगवत्प्रसादपर अविश्वास हो गया है. हमारे भीतर भगवान् विष्णुके बजाय भगवत्पत्नी श्रीकी लालसा इतनी प्रबल है कि लक्ष्मीपतिके बजाय लक्ष्मीवाहन अधिक प्यारे लगते हैं. अतएव महाप्रभु कहते हैं कि भगवत्प्रसाद प्राप्त होनेपर कुछ दुर्लभ नहीं परन्तु हमें तो प्रसादकर्ता प्रभुके साक्षात् स्वरूप हस्तगत हो जानेपर भी उनके सार्वजनिक व्यावसायिक प्रदर्शनद्वारा जनताके उद्धारकी तथाकथित उदात्त भावनाके साथ वृत्त्यर्थ-भूत्यर्थ भगवदाराधन करना न केवल अन्तर्मनमें सुहाता है परन्तु प्रकटवाणी द्वारा उसकी वकालतमें लज्जाका अनुभव भी हमें नहीं होता. क्योंकि हमने भक्तिको आज अपनी आजीविकाके रूपमें अपना लिया है सो हमारी भक्ति अहैतुकी भक्ति ही नहीं रह गई है. अतएव हमारे सैव्यप्रभुकी सेवा हमारी भगवन्निष्ठा न हो कर जनताके उद्धारद्वारा अर्थोपार्जनकी लौकिक निष्ठा है. अतएव सामान्य साधुजन जहां, महाप्रभुके अनुसार, प्रत्युपकारकी अपेक्षा नहीं रखता, वहां अहैतुकी भक्तिके उपदेष्टा आचार्यके वंशज होनेके बावजूद हम भगवत्सेवाप्रदर्शनद्वारा हमारी आजीविका वृत्ति तथा समृद्धि की अदान्त लालसाका संवरण नहीं कर पाते हैं. किम् आश्चर्यम् अतः परम् ! निष्कर्षतया हमारे मूलपुरूष मूलाचार्य महाप्रभु जिसे 'दुष्टा श्री' कहते हैं वही आज रावणके जैसे आसुरी भावोंसे ग्रस्त हो जानेसे हमें अधिक प्रिय लग रही है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है.

(च)

विमर्शकारनें या तो एक निरनुयोज्यानुयोग किया है या सम्भावित पूर्वपक्षकी भीतिके वश एक लचर शंका-समाधान ये प्रस्तुत किये हैं :

**''पूर्वोदाहृत श्रीगोकुलनाथजीके 'भगवत्सेवा है सो काहूसों जनावे नहीं'' विधानका पूर्वपक्षियोंने तात्पर्यार्थ जिस स्थानमें भगवत्सेवा करनेपर कोई जान न सके ऐसे गुप्त स्थानमें भगवत्सेवा करनी चाहिये.''**

इसके उत्तरपक्षतया विमर्शकारने प्रश्न भी उठाया है :

**''तब श्रीमहाप्रभुजी एवं श्रीगुसांईजी के समय ऐसा स्थल क्यों नहीं चुना गया जिससे भगवत्सेवा पूर्णरूपसे गुप्त ही रह जाय. तब लोग श्रीमहाप्रभुजी आदिकी आज्ञा प्राप्त होनेपर दर्शनार्थ कैसे आते थे?''** (विम.पृ.सं.२०२)

वैसे इस विषयमें एतिहासिक तथ्य यह तो है ही कि भगवत्सेवार्थ महाप्रभुके द्वारा काशी/प्रयागके बजाय अड़ैलको निवासस्थलके रूपमें चुनना तथा प्रभुचरणद्वारा व्रजमें वृन्दावनादि जैसे अतिप्रसिद्ध स्थलोंके बजाय अल्पप्रसिद्ध गोकुलको निवासार्थ चुनना, हम आधुनिक उनके वंशजोंकी मनोवृत्तिसे सर्वथा विपरीत ही था. क्योंकि जैसा कि भगवद्गीतामें भक्तके निवासस्थलके बारेमें निर्देशन मिलता है **''मयि चानन्ययोगेन भक्तिर् अव्यभिचारिणी विविक्तदेशसेवित्वम् अरतिर् जनसंसदि'' (भग.गीता. १३।१०) तथा नारदभक्तिसूत्रगत ''...कः तरति? यः संगं त्यजति यो महानुभावं सेवते निर्म्ममो भवति. ययो विविक्तस्थानं सेवते...''** (नार. भ.सू.४६-४७) तदनुसार ये पितापुत्र तो भक्तिमार्गप्रवर्तक आचार्य होनेसे पूर्ण निष्ठाके साथ भक्तिको अपना करके ही भक्त्याचारका उपदेश देते थे. जबकि हम आधुनिक गोस्वामी भक्तिमार्गोपदेशक होनेके बजाय सेवाभक्तिप्रदर्शक बनना अधिक पसन्द करते हैं. अतएव विविक्तदेश हमें भगवत्सेवार्थ सुहाते नहीं हैं. प्रायः पुष्टिमार्गीय हवेली गामके बजारवाले भीड़भाड़भरे मुहल्लेमें होती

है ताकि बनियोंको दुकानदारी और दर्शन का लाभ एकहेलया मिलता रहे!

वैसे पुष्टिमार्गीय सैद्धान्तिक आवश्यकता किसी गुप्त स्थलमें सेवा करनेके बजाय अपने भावात्मक भगवत्स्वरूप और भगवत्सेवा को गुप्त रखनेकी है. यह विषयवाक्योंके शुद्ध हृदयमें अवलोकन करनेपर सुस्पष्ट ही है.

आचार्यचरण तथा प्रभुचरण के दर्शनार्थ जो अनुयायी अड़ैल या गोकुल आते थे, उन्हें अपने आराध्य विग्रहकी सेवाराधनाके प्रदर्शनार्थ समाधानी या पेम्फ्लेट के प्राचीनरूप 'पत्रावलम्बन' द्वारा आमन्त्रित नहीं किया जाता था. स्वगृहागत स्वीय भक्तोंको अपने सेव्यप्रभुके दर्शनकी अनुज्ञा, जैसे आज भी अनेकानेक वैष्णव भगवदीय जो स्वगृहमें भगवत्सेवा निभाते हैं, देते ही हैं. यह किन्तु वे अपने सेव्यस्वरूपकी सेवाके प्रदर्शनार्थ समाचारपत्रोंमें विज्ञापन दे कर या पेम्फलेट छपवा कर या समाधानी भेज कर परिचित-अपरिचित सभीको आमन्त्रित नहीं करते. उनका परीचित भगवदीय कोई घरमें आये तो दर्शन भी करा देते हैं.

क्या कारण कि आम पुष्टिमार्गीय भगवदीय अपनी स्वगृहस्थित भगवत्स्वरूपकी सेवाके प्रदर्शनार्थ दर्शनार्थिओंके उद्धारकी भावनाका बहाना नहीं बनाते? प्रश्नके उत्तरतया केवल एक ही तथ्य उजागर होता है कि उनकी भगवत्सेवाको वे आजीविकोपार्जनके रूपमें नहीं निभाते हैं, विशुद्ध भगवत्सुखार्थ भक्तिके रूपमें ही निभाते हैं. अतएव उनके ठाकुरजीकी सेवामें मनोरथ उनके भक्तिभावपूर्ण होते हैं, जबकि हम वल्लभवशंजोंके अपने सेव्यस्वरूपके मनोरथ धनलालसाके नंगे भोंड़े प्रदर्शन केवल रह गये हैं.

विमर्शकार प्रश्नाडम्बर कर रहे हैं कि "महाप्रभुजीकी आज्ञासे दर्शनार्थ कैसे आते थे?" परन्तु यह प्रश्न खड़ा नहीं होता. क्योंकि उन्हें दर्शनार्थ आमन्त्रित नहीं किया जाता था आये हुवोंको दर्शनकी अनुमति दी जाती थी. पितापुत्रोंमें इतनी भक्तिमार्गीय सामर्थ्य थी कि सेवाके दर्शन करते ही बहुधा उनके सेवकोंको सानुभाव सिद्ध हो जाता था. जबकि हम इतने असमर्थ हैं कि अपने सेव्यस्वरूपकी सेवाका प्रदर्शन न करें तो अधिकांश जनता हमारे मूंह देखना भी नहीं चाहेगी. अतएव द्रव्यसंग्रहकी अदम्य

लालसाके विवश हमें कंठी भी कोई पहने या न पहने ऐसे, पुष्टिमार्गमें निष्ठाशील वैष्णवके बजाय प्राय: निष्ठाविहीन धनिकोंको ट्रस्टी बनाना पडता है! हमारे स्वरूपका गुणगान एक पदमें इस तरह मिलता है :

**परिचयसंचयचतुराचार: ।।**

**धनिकवणिग्जनकुसुममधुपगतिदर्शितविविधविकार: ।।१।।**

**शासनजनरञ्जनविगलितमतिचाटुवचनशृंगार: ।।**

**कलैकदेशविबुधतामण्डितखण्डितगौरवहार: ।।२।।**

अतएव हमारी तो यह दुर्गति हुई है कि वैदिक कर्मानुष्ठानमें भी वर्णाश्रमबाह्य मुसल्मान कलेक्टर यदि उपस्थित न हो पाये तो हमें कर्मवैगुण्य लगता है!

अत: प्राचीन आचार्योकी प्रयोजनबुद्धि और हमारी प्रयोजनबुद्धि में आकाशपातालका अन्तर है. प्राचीन आचार्य जिस प्रयोजनवश स्वगृहमें सेवा करते थे उसमें स्वीयभक्तोंके अलावा अन्य किसीको दर्शन करानेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता था. अत: जिन वार्ताओंके उद्धरणोंका तामझाम विमर्शकारने खड़ा किया है, वह तो एक फूंक मारनेपर उड़ जानेवाला हलका तामझाम है. क्योंकि जिनको महाप्रभु प्रभुचरणने स्वगृहस्थित सेव्यप्रभुके दर्शन कराये थे, वे सभी उनकी पैनी दिव्यदृष्टिसे बराबर जाने-पहचाने स्वीय भक्त होंगे ही. उनके तो चरणोदकप्रदान या दीक्षाप्रदान में भी इतनी सामर्थ्य थी कि लेते ही उनके सेवकोंमें मानसी सेवा भी सिद्ध हो जाती थी. हमारी इसके विपरीत ऐसी शोचनीय दुरवस्था है कि हमें यह स्वीकारनेमें भी लज्जा नहीं आती कि वैष्णवोंसे वित्तजा सेवा कर हम तनुजा सेवा करते हैं तो ऐसी सेवा 'क्षीरकारणसामग्री'न्यायेन मानसीकी साधिका न भी हो तब भी उसे निषिद्ध नहीं माना जा सकता! (द्रष्टव्य : विम.पृ.सं.९२-९३).

वैसे तो हकीकत एक यही है कि मतभेद प्राचीन व्याख्याकारोंमें भी होते थे कि भगवत्संयोग परमफल है या भगवद्विप्रयोग; परन्तु, आद्य श्रीवल्लभ और हम आधुनिक वाल्लभों के बीच मतभेदकी रेखाको स्पष्ट

करना हो तो केवल एकही बात घूम फिर कर सामने आती है कि भगवत्सेवाके प्रदर्शनद्वारा जनतासे द्रव्य लिया जा सकता है या नहीं? इस तरहकी जघन्यकोटीके मतभेदोंमें उलझी हमारी सामर्थ्यके वश हम दर्शनार्थी जनताकी उद्धार करनेकी मनोवृत्ति या मनोग्रन्थि रखते हों तो हमसे अधिक आत्मसंमूढ विश्वमें और कौन होगा?

प्राचीन वाल्लभ उपदेश था:

**धनं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते ।**

**कृष्णार्थे तत्प्रयुञ्जीत कृष्णोऽनर्थस्य वारकः ।।**

हम आधुनिक वाल्लभवंशजोका मनोभाव इसके विपरीत ऐसा बन गया है :

**धनं सर्वात्मना ग्राह्यं गृहीतुं चेन्न शक्यते ।**

**'सेवा'नाम्नातु गृह्णीयाद् अथोऽनर्थनिवारकः ।।**

इसलिये अर्वाचीन प्रयोजन दर्शनार्थिजनोद्धारसे पहले हम गोस्वामिओंको हमारा उद्धार कैसे होगा इसका मार्गदर्शन श्रीहरिरायचरणके इन शब्दोंमें खोजना चाहिये :

**तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः ।**

**न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये ।।**

**श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन ।**

**न कल्पितप्रकारेणे न दुर्भावसमन्वयात् ।।**

निष्कर्षतया जैसे कि प्रभुचरणकी सुस्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा मिलती ही हैं:

**(१) " 'कृष्णसेवा' इति फलात्मकनामोक्त्या स्वतः पुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो नतु अन्यशेषत्वेन."** (सिद्धा.मुक्ता.विवृ.१).

**(२) ''भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलके कर्मणि ज्ञाने वा न भक्तित्वं भक्तौ च न स्वरूपातिरिक्तफलकत्वम्... नच 'माम्' इति पदेन पूजायाअपि विषयः पुरुषोत्तमएव इति वाच्यं विभूतिरूपस्यापि भगवद्रूपत्वात् तथा उक्तम्... अन्यफलाद्यनु-सन्धानराहित्यपूर्वकं भगवद्भावनायां क्रियमाणायां पुरुषोत्त-मावेशोऽपि अन्तःकरणे पूज्ये च भवति... तत्रापि अर्थार्थिभिः कृतः चेत् तदा तथा (कर्ममार्गीयः), वृत्तयर्थं चेत् कृषिवद् लौकिकएव, शौचार्थिगंगास्पर्शवत् च. नहि तस्य मलनिवृत्त्यरिक्तो धर्मः उत्पद्यते प्रत्युत निषिद्धाचरणात् पापमपि.''** (भक्तिहंस).

अतः जनोद्धारके छद्ममें वित्तोपार्जनार्थ की जाती भगवत्सेवा अन्यशेषतया अनुष्ठित होनेसे शुद्ध अपसिद्धान्तरूपा ही नहीं प्रत्युत पापाचरण ही सिद्ध होती है. चि.महाकविकी कथा तो लोकविलक्षणा मानी जा सकती है परन्तु प्रातःस्मरणीय श्रीगोविन्दरायजी सदृश आदर्श व्यक्तिके द्वारा सुपाठित उनके आत्मज विमर्शकारद्वारा वृत्त्यर्थ प्रतिष्ठार्थ भगवत्सेवाकी वकालत वस्तुतः पुष्टिसम्प्रदायकेलिये सामुदायिक लज्जाका विषय है, सिर नीचा हो जाता है कि क्या मूंह ले कर अब किसीको पुष्टिभक्ति मर्यादाभक्ति और पापाचरण के बीच रही भेदरेखा समझानी!

वैसे जनोद्धारार्थ या वित्तोपार्जनार्थ ये दोनों अलग-अलग प्रयोजन हैं परन्तु चि.महाकवि, जैसे अधिकारभेदवश स्वीकारते हैं, वैसे ही विमर्शका प्रकरणभेदशः दोनोंको स्वीकारते तो हैं ही फिर दोनोंका एकवद्भावद्वारा निरूपण दोषावह नहीं माना जा सकता (द्रष्टव्य : विम.पृ.सं.४५ तथा २०१)

### इस समग्र विषयकी संग्रहकारिका

**लोकार्थी तु भजन् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ।।**
**जीविकार्थी भजन् कृष्णं भवेद् देवलकोऽशुचिः ।।१।।**
**लोकार्थित्वं जीविकार्थित्वं च गर्ह्ये प्रयोजने ।।**
**सेवा नहीदृशी कार्या पुष्टिमार्गानुगामिभिः ।।२।।**

**कृष्णो हि साधनं भक्तौ भक्तिः कृष्णे हि साधनम् ।।**
**ताभ्यामन्यत्तु यत् किञ्चित् न फलं नापि साधनम् ।।३।।**
**फलसाधनयोः स्थाने एतद्‌भिन्ने प्रकल्पिते ।।**
**न सा भक्तिः पुष्टिभक्तिः कृष्णः पुष्टिप्रभुर्नवा ।।४।।**
**जनतोद्धृतये तस्मात् सेवायास्तु प्रदर्शनम् ।।**
**कल्पितो हि प्रकारोऽयं मार्गे दुर्भावयोगतः ।।५।।**
**शिक्षाश्लोक्यां हि ''लोकार्थी...''कारिकाविवृतावपि ।।**
**आचार्याणां स्फुटाभिप्रायान्नहि जनतोद्धृतिः ।।६।।**
**सेवाप्रयोजनत्वेन वक्तुं शक्या कथञ्चन ।।**
**ननु प्रयोजनं नैतत् सेवायामानुषंगिकी ।।७।।**
**प्रवृत्तिरेषा मन्तव्येति चेद् न तथा भवेत् ।।**
**नियतानियता वेति प्रवृत्तिर्ह्यानुषंगिकी ।।८।।**
**आद्ये सर्वैः कुतो नैवम् अनुष्ठानं प्रदर्श्यते ।।**
**सर्वे न गुरवो यस्मात् सर्वैः कर्तुं न शक्यते ।।९।।**
**गुर्वभावस्य कल्पेतु 'ग्तादृशाश्चेन् मिलन्ति हि ।।**
**प्रकारांशे तु प्रष्टव्याः सेवाया''श्चेति वाक्यतः ।।१०।।**
**अन्येषामधिकारेऽपि हानिर्नैवास्ति काचन ।।**
**स्वाच्छन्द्यान्मार्गलोपस्य शंका चेद् वंशजैरपि ।।११।।**
**स्वाचछन्द्यादेव मार्गोऽयं लुप्तप्रायः कृतोऽधुना ।।**
**तस्माद् यद् हरिरायैस्तु शिक्षापत्रे निरूपितम् ।।१२।।**
**विस्मर्तव्यं न केनापि ह्येतन्मार्गानुगामिना ।।१३।।**
**तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः ।।**
**न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये ।।१४।।**
**श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन ।।**
**न कल्पितप्रकारेण न दुर्भावसमन्वयात् ।।१५।।**

इति श्रीमद्‌गोस्वामिदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचिता
'सेवाप्रयोजन'शीर्षकान्तर्गतसंकलितविषयवाक्यविचारे
'विमर्श'विशोधनिका

# ‘सेवोपदेशदीक्षा’ तथा ‘सेवोपदेष्टा’ शीर्षकान्तर्गत संकलित विषयवाक्यविचारमूलक विशोधन

## (विषयवाक्य)

(क) परम् अत्र न सर्वेषां फलमुखाधिकार: किन्तु येषु भगवत्कृपा, कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते. तत्र आदित: साधनानि आह--कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरं, श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासु: आदरात् (त.दी.नि.का.२।२२७)

‘कृष्णसेवापरम्’ इति, योहि गुरु: सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् तां उत्तमां जानीयात्, तदा कथं स्वयं न कुर्यादिति सेवापरएव गुरु:. तत्रापि निमित्तानि वारयति ‘दम्भादिरहितम्’ इति. सेवाच प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी. अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय अन्यथा करणे न फलसिद्धि: इति अभिप्रयोण आह ‘श्रीभागवततत्त्वज्ञम्’ इति. ‘जिज्ञासु:’ नतु कौतुकाद्याविष्ट:. ‘भजनं’ सर्वभावेन, तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या (त.दी.नि.प्रका.२।२२७).

‘वीक्ष्य’ इत्यनेन मार्गान्तराद् अत्र वैलक्षण्यं ज्ञापितम्. ‘‘ ‘ईक्ष’ दर्शनांकनयो:’’, ‘वि’ना च सम्यक्त्वं परीक्षणे द्योत्यते. तथाच तन्त्रे ‘‘गुरु: परीक्षयेत् शिष्यम्’’ इति वाक्यात् शिष्यो यथा परीक्ष्यते तथा अत्र गुरु:. नोचेद् अतादृशस्य लोकानुगतपशुरूपत्वात्, तादृशो अनुसरणे अन्धानुगान्धवद् उभावपि पतेताम्. एतदर्थमेव जलभेदग्रन्थकरणं ज्ञेयम्... तेन ब्रह्मसम्बन्धोऽपि फलमुख: तस्यैव इति सिद्ध्यति. एवम् अधिकारसूचनेन अनधिकार्यपि व्यावर्तित:

(त.दी.नि.आव.२।२७).

**(क)** यह मार्ग, परन्तु, फलदायक ही सिद्ध हो ऐसा अधिकार सभीका नहीं होता. वह तो जिनपर भगवत्कृपा हो उन्हींके लिए फलदायक बन पाता है. किसी व्यक्तिपर भगवत्कृपा है कि नहीं इसका निर्णय उस व्यक्तिको, भगवत्कृपैकलभ्य भक्तिमार्ग या प्रपत्तिमार्ग में रुचि है या नहीं, इस कसोटीपर उसे जांचनेपर ही निश्चित हो पाता है.

अत: जिनपर भगवत्कृपा रहती है उनके प्रारम्भिक साधनोंका निरूपण करते हैं--

कोई पुरुष कृष्णसेवामें परायण है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवतपुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं, यह सर्वप्रथम देखना चाहिये ओर तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रख कर उसके पास जाना चाहिये.

जिसे गुरुकी हैसियतमें भगवत्सेवाका उपदेश देना है वह स्वयं भगवत्सेवाको उत्तम मानता हो तो स्वयं भी भगवत्सेवा क्यों नहीं करेगा? अत: गुरु तो कृष्णसेवामें परायण ही होना चाहिये. कृष्णसेवा भक्तिभावके अलावा अन्य किसी भी निमित्त (दंभ-काम-लोभ-प्रतिष्ठा) के वश की जाती नहीं होनी चाहिये. अत: गुरुका दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित होना दूसरी शर्त है. यह सेवाभी जब यथोपदिष्ट प्रामाणिक हो तभी पुरुषार्थमें पर्यवसित हो सकती है. अन्यथा, बुद्धि या हृदय में कुछ और विचार या भाव रखकर, जब कोई सेवा करने प्रवृत्त होता है तो वह सेवा सफल नहीं हो पाती. अत: गुरुका श्रीभागवतका तत्त्वज्ञ होना भी आवश्यक है. ऐसे गुरुको खोजनेवाला व्यक्ति जिज्ञासु होना चाहिये, केवल कौतुक आदि भावोंवाली मनोवृत्तिवाला नहीं. गुरुके द्वारा उपदिष्ट प्रकारसे तब सर्वभावपूर्वक सेवामें प्रवृत्त हो

जाना भजनका सच्चा प्रकार है. (त.दी.नि.का.प्रका.२।२२७)

मूलकारिकामें 'वीक्ष्य' पदका प्रयोग किया गया है, इससे अपने मार्गका अन्य मार्गोंसे कुछ वैलक्षण्य सिद्ध करना अभीष्ट है. 'ईक्ष'का अर्थ होता है: 'देखना' या 'अंकित करना'. उसके साथ 'वि'उपसर्ग जोड़नेपर यह अर्थ बनता है कि किसी व्यक्तिको गुरु बनानेसे पहले उसका भलीभांति परीक्षण कर लेना चाहिये. तन्त्रशास्त्रमें जैसे शिष्यकी परीक्षा करनेका नियम है वैसे ही यहां गुरुकी परीक्षाका नियम है. अन्यथा जिस पुरुषमें उल्लिखित लक्षण न मिलते हों उसे लोकानुगत पशु समझना चाहिये. ऐसे पशुका अनुसरण करनेपर एक अंधा दूसरे अंधेका अनुसरण करता हो जायेगा. और एक दिन दोनों ही, एक-दूसरेके कारण, एकसाथ ही गिर पड़ेंगे, जब भी एक जन गिरा तब! श्रीमहाप्रभुने गुरुके परीक्षणार्थ ही 'जलभेद'ग्रन्थ प्रकट किय है... इन सारी बातोंकी सावधानी रखनेपर ही ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा सफल होती है. इस तरह ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षा प्रदान कर पानेवाला अधिकारी कौन हो सकता है यह सूचित करके श्रीमहाप्रभुजीने यह भी समझा दिया है कि ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा कैसे व्यक्तिसे नहीं लेनी चाहिये. (त.दी.नि.आव.२।२२७).

**(ख) माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणां, शास्त्राणाम् उपयोगोऽत्र तत्राकांक्षा गुरोर् भवेत्, कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरं, श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादराद्, देहद्रोण्या यियासूनां परं पारं भवाम्बुधेः, गुरुणा कर्णधारणे उत्तार्या स्वोपदेशतः**. (साधनदीपिका : ९-११)

(ख) भगवन्माहात्म्यज्ञानकी प्राप्तिके लिये भगवद्गुणों एवं भगवल्लीलाओं का श्रवण आवश्यक होता है. शास्त्रोंकी उपयोगिता भी यहीं है और अतएव गुरुकी भी अपेक्षा रहती है.

अतः कृष्णसेवामें परायण, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित; और श्रीभागवतके मर्मज्ञ होनेके रूपमें भलीभांति जान लेनेके बाद ही जिज्ञासुको किसी पुरुषको आदरसहित गुरु बना कर उसकी आज्ञाके अनुसार भगवद्भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये. स्वदेहकी डोंगीसे भवसागरको पार कर लेनेकी इच्छा रखनेवालोंका कर्णधार बनकर गुरुको अपने सदुपदेशद्वारा (न कि सेवाप्रदर्शन या सेवार्थ वित्तग्रहण द्वारा) उन्हें पार लगाना चाहिये (सा.दी.९-११).

**(ग) क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः (जलभेद : ४) ननु ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ''कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमंगलं कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिता'' इति ब्रह्माणं प्रति पृथिवीवाक्यात्, ''मन्नामविक्रयी विप्रो नहि मुक्तो भवेद् ध्रुवं मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते'' इति श्रीनन्दं प्रति भगवद्वाक्यात् च नामविक्रयस्य दोषत्वे शिष्येभ्यो भगवन्नामोपदेशस्यापि दोषत्वापत्तिः, तत्र शिष्योपढौकितग्रहणेन नामविक्रयसम्भवाद् इति चेत्, सत्यम्. तथापि गुरुत्वस्य साहजिकब्राह्मणवृत्तित्वेन अत्याज्यत्वात्... एवञ्च यत् प्रभुचरणैः उक्तं ''विचार्यैव सदा देयं कृष्णनाम विशेषतो अविचारितदानेन स्वयं दाता विनश्यति'' इति, तत्रापि स्वस्य शिष्यस्य च उद्धारं विचार्यैव देयम्. लोभाद् अविचारित दानेतु नामविक्रयापत्त्या दाता स्वयम् अपराधभाग् भवति इति अर्थो ज्ञेयः** (श्रीपुरुषोत्तम-कृत-विवृति : ४).

(ग) घर-गृहस्थीके निर्वाहार्थ भगवद्गुणगान करनेवालोंके मुखसे सुनी हुई भगवत्कथा संसारासक्तिको बढ़ानेवाली होती है (ज.भे.का.४).

यहां एक प्रश्न उठता है कि ब्रह्मवैवर्तपुराणके

श्रीकृष्णजन्मखंडमें ‘‘कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमंगलं कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिता’’ इस ब्रह्माजीको कहे गये पृथ्वीके वचनके आधारपर; तथा ‘‘मन्नामविक्रयी विप्रो नहि मुक्तो भवेद् ध्रुवं मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते’’ श्रीनन्दको कहे गये इस भगवद्वचनके आधारपर भी, भगवन्नामके विक्रयको दोषरूप माना गया है. ऐसी स्थितिमें गुरुभेंट धरनेवाले शिष्यको भी भगवन्नामोपदेश दोषरूप सिद्ध हो जायेगा. क्योंकि शिष्यद्वारा रखी गई भेंटको भी स्वीकारना एक तरहसे नामविक्रय तो हुवा ही न! यह बात तो ठीक ही है फिरभी गुरुत्व ब्राह्मणोंकी सहज एवं शास्त्रानुमोदित वृत्ति है, अत: उसे त्याज्य नहीं मानी जा सकती... इसी तरह जो बात प्रभुचरणने कही है ‘‘पात्रापात्रका विचार करके ही दान करना चाहिये, श्रीकृष्णके नामके दानमें तो इसकी आवश्यकता और अधिक है, क्योंकि बिना विचारे उसका दान करनेपर स्वयं नामदान करनेवालेका ही विनाश हो जाता है’’. अत: अपने और शिष्यके उद्धारकी केवल भावनाके वश नामदीक्षा प्रदान करनेपर दोष नहीं लगता. अन्यथा लोभके कारण पात्रापात्रके विचार किये बिना नामदीक्षा प्रदान करना एक प्रकारका नामविक्रय ही है, जिसके कारण दीक्षादाता उसके विक्रयका अपराधी बन जाता है (श्रीपुरुषोत्तमजीकृत ज.भे.वि.४)

**(घ) सच दुर्लभइति तेनापि वक्तव्यप्रकारम् आह--**

**तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्, परिचर्या सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्रच स्थितम्.**

**‘तदभावे’ इति. ‘क्वचिद्’ देशविशेषे सत्परिपन्थिनाम् अभावयुक्ते, ‘हरेः मूर्तिं कृत्वा’ भजेत्. अयमेव अस्य मार्गस्य प्रकारः उत्तमो यत् मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति** (त.दी.नि.का.प्रका.२।२२८)

**ननु अत्र मूलएव कुठारपातः इति आकांक्षायां कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्त आहुः 'सच' इत्यादि. 'तदभावे' इत्याद्याज्ञापनाद् इदं ज्ञात्वा करणे ''यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथग्'' इति आभासत्वाभावः सेवायाः; तृतीयस्कन्धोक्त-मौढ्याभावः च सेवाकर्तुः साधितः. स्वयमेव सेवाकरणेऽपि प्रकारविशेसन्देहे तादृशा यदि मिलन्ति तदा प्रकारांशे प्रष्टव्याः इत्यपि सूचितम्** (त.दी.नि.प्र.आ.२।२२८).

(घ) ऐसा गुरु तो बड़ी कठिनाईसे ही मिल सकता है. अतः कभी न मिलनेपर क्या करना चाहिये. यह अब दिखलाया जा रहा है : ऐसे गुरुके न मिलनेपर भगवान्‌की मूर्तिको अपना आराध्य बनाकर उसकी परिचर्या-भजन तो सदा करना ही चाहिये. क्योंकि मूर्तिमें भगवान्‌के रूप एवं सत्त्व दोनों ही विद्यमान होते हैं. किसी ऐसे देशमें कि जहां सज्जनोंसे दुर्व्यवहार करनेवाले लोग न रहते हो. हरिकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बनाकर भजन कर लेना चाहिये. भजनका यही प्रकार ऐसी अवस्थामें इस मार्गमें उत्तम है. जो-जैसा कुछ भगवन्मूर्तिके लिये किया जाता है उसे साक्षात् भगवदाराधन ही समझ लेना चाहिये (त.दी.नि.का.प्र.२।२२८).

यहां एक ऐसी शंका उठती है कि ऐसे इस गुरुलक्षणके कारण तो इस बातके मूलपर ही कुठाराघात हो जाता है. अतः जैसा गुरु श्रीमहाप्रभुके अनुसार इस मार्गमें अपेक्षित है वैसे लक्षणवाला व्यक्ति आगे चलकर कलियुगके बलवान् होनेके कारण उपलब्ध न होता हो तो क्या करना चाहिये? इस समस्याके समाधानरूपेण श्रीमहाप्रभु एतन्मार्गीय गुरुत्व स्वयंमें ही प्रस्थापित करते हुवे कहते हैं कि उपरिनिर्दिष्ट लक्षणयुक्त

गुरुके न मिलनेपर स्वयमेव भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. इस तरहकी श्रीमहाप्रभुकी ही आज्ञा है, इसे शिरोधार्य करनी ही चाहिये, ऐसी भावना रखते हुवे जो स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाता है, उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें ''यस्त्विच्छया कृत: पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्'' इस वचनमें निन्दित धर्माभासता या पाषण्ड का आरोप नहीं लगता; और इसी तरह तृतीयस्कन्धमें निन्दित मूढ़ताका आरोप भी ऐसी भगवत्सेवा करनेवालेपर लग नहीं सकता. स्वयं ही सेवामें प्रवृत्त होनेपर भी भगवत्सेवासम्बन्धी किसी प्रकारविशेषकी जिज्ञासा होनेपर, सेवाके जानकार वैसे किसी भगवदीयसे मिलजुल कर कुछ पूछ-जान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है, यह भी सूचित होता है (त.दी.नि.प्र.आ.२।२२८).

(ङ) **गुरुश्च भक्तिमार्गीय: कृष्णसेवापरायण: श्रीभागवततत्त्वज्ञो दम्भादिरहितो नर: तदभावे तथाभूतोपदेशोऽत्र नियामक:. अथाधुनिकतीर्था-नामतथाभूततोऽपि हि, उपदेशस्तथाभूतगुरोरिव फलिष्यति, यदि दु:सङ्गदोषेण नान्यथा चेद् भवेन्मति:** (श्रीहरि.कृत स्व.श.स.से.निरू.४०-५१).

(ङ) गुरु भी भक्तिमार्गानुसारी, कृष्णसेवापरायण, भागवतके तत्त्वको जाननेवाला तथा दम्भादिसे रहित होना चाहिये. ऐसे लक्षणवाले गुरुके न मिलनेपर आचार्यवाणीरूप गुरुसे भी स्वकर्तव्यनियामक उपदेश ग्रहण किया जा सकता है. आचार्यकुलोद्भूत आधुनिक गोस्वामिमहानुभाव यदि उक्त लक्षणवाले न भी हों फिरभी उनसे भी सर्वलक्षणसम्पन्न श्रीकृष्णज्ञानप्रद गुरु श्रीमदाचार्यचरणके वचनानुसारी उपदेश मिलता हो तो सद्गुरुके समान ही फल देनेवाला हो सकता है, यदि दु:संगादिसे मति ही अन्यथा (मार्गविपरीत) न हो गयी हो (तत्रैव).

(च) **अदम्भ: सर्वथापेक्षारहित: करुणापरो विचार्य वरणं श्रीमदाचार्यपदसंश्रय: स्वसेवकाय शुद्धाय सततं प्रयतात्मने प्रयच्छेत् तत् स्वरूपं तु फलरूपतया पुन:** (स्वमा.स्वरू.स्थाप.प्रका.१६-११७).

(च) श्रीमदाचार्यचरणोंका भलीभांति आश्रय ग्रहण कर किसी भी प्रकारकी शिष्यसे अपेक्षा रखे बिना, समुपस्थित जीवात्माका परमात्माद्वारा पुष्टिमार्गमें वरण किया गया है, अत: ऐसा पुष्टिजीव पुष्टिलाभसे वञ्चित न रह जाय बस इसी करुणाभावको रखते हुवे, पुष्टिमार्गपर अग्रसर होनेको सतत प्रयास करनेवाले अपने शुद्ध सेवकके मांथे पुष्ट किया हुवा स्वरूप फलरूपतया (नकि केवल गुरुभावतया अथवा स्वसेव्यसे न्यून पुरुषोत्तमभावतया) पधरा देने चाहिये (तत्रैव).

(छ)... **वञ्चकस्तु ततोऽप्येष... तेतु मार्गे चालयन्ति वचोभि: कटुकौषधै:** (द्र.आमुख : दु:स.विज्ञा.निरू.१३-१५).

(छ) चोरोंकी तुलनामें वञ्चक तो अधिक दुष्ट होता है... जबकि भक्तजन तो कडवी दवाके जैसी बातें करके भी सन्मार्गकी ओर ही ले जाना चाहता है... (द्र.आमुख :तत्रैव).

(ज) **यो वदत्यन्यथावाक्यम् आचार्यवचनाज्जन: संसृतिप्रेरको वापि तत्संगो दुष्टसंगमो, यश्च कृष्णे रतिं नित्यं बोधयत्यप्रयोजनां, निरपेक्ष: सात्त्विकश्च तत्संग: साधुसंगम:** (शि.प.३।८-९).

(ज) आचार्यवचनके विपरीत जो बातें करता हो अथवा संसारप्रेरक बातें करता हो उसका संग दुष्टसंग होता है. जो श्रीकृष्णमें निष्प्रयोजन नित्यरति बढ़ानेकी बातें करता हो और स्वयं भी निरपेक्ष हो उसका संग साधुसंग होता है (तत्रैव).

(झ) **तेन गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति. युक्तञ्च एतद् अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसञ्जनात्. किञ्च ऋतोत्तरम् 'अमृता'ख्याया: अयाचितवृत्ते: उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्यतु एवं संकोचे तस्यामपि प्रशस्तत्वसिद्धि:** (स्ववृत्तिवाद).

(झ) इससे फलित होता है कि गुरुत्व ही अपनी आजीविका या वृत्ति है. यही उचित भी है क्योंकि किसीका कुछ भी कार्य किये बिना मुफ्तमें धन ले लेनेपर लेनेवाला उसका ऋणी बन जाता है जो बन्धनकारी होता है. इसके अलावा ऋतवृत्तिके बाद जो 'अमृत' नामिका अयाचित वृत्ति कहीं गयी है उसे अपनानेपर भी यदि शिष्यसे ही अयाचितग्रहण करनेका आग्रह रखा जाये, हर किसीसे नहीं, तो ऐसा संकोच और भी प्रशंसनीय है (तत्रैव).

**(ञ) गुरुणा वेशादिना मार्गरुचिं परीक्ष्य जिज्ञासां च अवगत्य प्रश्नानतरं सेवादिकम् उपदेष्टव्यम् इति** (त.दी.नि.प्र.आ.२५५-२५६).

(ञ) सेवोपदेश ग्रहण करना चाहनेवाले व्यक्तिकी वेश (भाषा भाव रुचि आचार विचार) के द्वारा मार्गरुचिकी परीक्षा कर के और उसकी जिज्ञासा क्या है यह जान कर तदनुकूल प्रश्न करनेपर ही सेवा आदिका उपदेश करना चाहिये (तत्रैव).

**(संशय)**

इस परिच्छेदमें हमें यह देखना है कि उल्लिखित (क) से (ञ) तकके विषयवाक्योंके आधारपर अथवा एतत्समानार्थक अन्य भी पूर्वाचार्योंके वचनोंके आधारपर पुष्टिमार्गीय सेवाके उपदेशप्रकार एवं दीक्षाप्रकार के विमर्श करनेपर क्या कोई उपदेशक गुरु या गुरुस्थानीय व्यक्ति जनसाधारणके सन्मुख अपनी भगवत्सेवाका प्रदर्शन कर सकता है या नहीं? अपने आराध्य प्रभुकी सेवाके लिये अनुयायिजन अथवा अननुयायिजन से वित्त ले सकता है या

नहीं? जब कोई निजगृहमें निजमस्तकपर बिराजमान भगवत्स्वरूपकी तनुवित्तजात्मिका सेवा निजपरिजनोंके सहयोगसे सम्पन्न करता हो तो निज सेव्यस्वरूपकी सेवाके दूसरें लोगोंको दर्शन कराने तथा दर्शनार्थिओंकी भीड़से सन्मुखभेंट तथा समाधानीद्वारा मनोरथोंकी निश्चितानिश्चित राशीकी वसूली एवं भंडारीद्वारा घी-गुड़-दाल-चावल-मसाला आदि सामग्री जुटाने से सेवाप्रदर्शनार्थी तथा सेवादर्शनार्थी को क्या वस्तुत: भक्तिमार्गीय लाभ होता है या अपराध? अत: इसमें उभरते पूर्वपक्षकी संगतिका निरूपण पहले आवश्यक प्रतीत होता हे.

## (पूर्वपक्ष)

इस संशयग्रस्त विषयको विचारनेकी आवश्यकता या संगति यों हैं--

(१) ''**भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्वभावकत्वाद् आश्रमधर्मैरेव लोके स्वभगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत. एतेन यावद् अन्त:करणे साक्षात्प्रभो: प्राकट्यं नास्ति तावदेव बहि: आविष्करणं भवति. प्राकट्येतु न तथा सम्भवति**'' (अणुभा.३।४।४९).

(२) ''**स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत**'' (साध.दीपि.१७८)

(३) ''**३८ मो अपराध: = गुरुदैवतयो: गुप्तप्रकटीकरणम्. फलं = श्वयोनित्रयम्. ११अपराधो = अवैष्णवस्य स्वसेव्यप्रदर्शनम्. फलं= वार्षिकसेवा निष्फलत्वम्. प्रायश्चित्तं = पञ्चामृतस्नापनम्. ३६तमो अपराध: = भगवन्नाम्ना याचनम्. फलम्=उपचारनैष्फल्यम्. प्रायश्चित्तं = पञ्चगुणितनैवेद्यदानम्. ३५ तमो अपराध: = गुर्वाज्ञोल्लंघनम्. फलम् = असिपत्रादिघोरनरकपात:. प्रायश्चित्तं = वैष्णवगरुप्रसादनम्.**''

(श्रीहरिरायकृत-६६ अपराध फल-प्रायश्चित्तानि).

इन वचनोंके कारण निज सेव्यस्वरूपकी सेवाका प्रदर्शन यदि

सिद्धान्तनिषिद्ध होता तो, महाप्रभु तथा प्रभुचरणों की वार्ताओंमें, अनेक स्वमार्गीय/अस्वमार्गीय वैष्णव/अवैष्णवों भक्त-अभक्तों को भगवद्दर्शन करानेके उल्लेखको अकारण अप्रामाणिक मानना पड़ेगा. इससे यह सिद्ध होता है कि दर्शनके निषेधका नियम यदि गम्भीर होता तो वह सम्प्रदायके आचार्योंके चरित्रमें भी प्रकट होना चाहिये था. प्रत्युत इन नियमोंके विपरीत ही वृत्तान्तोंके उपलब्ध होनेसे ऐसे किसी भी नियमकी गम्भीरता सिद्ध नहीं हो पाती है.

प्रस्तुत अनुच्छेदके विषयवाक्यान्तर्गत (क) तथा (ख) वचनोंमे गुरु स्वयं कृष्णसेवामें परायण है या नहीं इसके वीक्षण = भली भांति परीक्षणकी बात कही गयी है. अत: भावसंगोपनके दुराग्रहके अन्तर्गत यदि भगवत्सेवाको सर्वथा गुप्त ही रखी जाये तो इस सम्प्रदायमें जो दीक्षित होना चाहता हो वह दीक्षाके लेनेसे पहले दीक्षादाताका वीक्षण कैसे कर पायेगा? अत: भगवत्सेवाके उपदेश एवं दीक्षा की प्रणालीके आधारपर भी भगवत्सेवाके प्रदर्शन कमसे कम सेवोपदेष्टा या सेवादीक्षादाता गुरुके लिये कोई आपत्तिजनक बात होनी नहीं चाहिये.

विषयवाक्यान्तर्गत (ग) वचनमें गुरुत्ववृत्तिको साहजिक वृत्तितया 'अत्याज्य' कहा गया होनेसे गुरुत्वकी योग्यताके घटकतया भी भगवत्सेवाप्रदर्शनको दोषरूप नहीं माना जा सकता है. अत: सेवाप्रदर्शनको तथा प्रदर्शनीय सेवार्थ परधनस्वीकारको गुरुदक्षिणात्वेन दोषरहित मान लेना चाहिये.

ये पूर्वपक्ष न तो सिद्धान्तचर्चासभामें चि. महाकविद्वारा प्रस्तुत हैं और न विमर्शकारद्वारा उपस्थापित. फिरभी वैसी मनोवृत्तिकी सम्भावनामें सहज प्रस्तुत हो सकते हैं. अत: विचारार्थ स्वयं मेरेद्वारा ही उट्टंकित है.

**(उत्तरपक्ष)**

इस सन्दर्भमें महाप्रभुप्रभृति पूर्वाचार्योंके वचनोंके स्वारसिक अभिप्रायकी निश्छल मीमांसा करनेपर यह उत्तरपक्ष अवधेय है.

गुरुत्वेन वरणीय पुरुषके कृष्णसेवापरायण होनेकी भलीभांति परीक्षा करना जैसे दीक्षार्थीका कर्तव्य है, वैसे ही उस गुरुत्वेन वरणीय पुरुषद्वारा अनुष्ठित सेवाके प्रकारकी सिद्धान्तशुद्धताकी भी परीक्षा करणीय है कि नहीं? यदि परीक्षा करणीय है, ऐसा स्वीकार कर चलते हैं तो जिस व्यक्तिका गुरुत्वेन वरण करके उससे सेवोपदेश प्राप्त करना है, उससे पहले ही सेवोपदेष्टा बनने जाते तथा उपदेशग्रहणार्थी दोनों ही व्यक्तिओंको भगवत्सेवाके सच्चे स्वरूपका परिज्ञान आवश्यक मानना पड़ेगा. ऐसी स्थितिमें जिज्ञासाका लोप भी सम्भव है. जिज्ञासुता ही न रह जानेपर गुरुके द्वारा किया गया सेवाप्रदर्शन या ज्ञानोपदेश भी निरर्थक सिद्ध होगा. यदि दीक्षार्थीको स्वयं सेवाके शुद्धाशुद्ध स्वरूपका ज्ञान न हो तो गुरुत्वेन वरणीय व्यक्तिद्वारा अनुष्ठित भगवत्सेवा सिद्धान्तशुद्ध है या अपसिद्धान्तयुक्त यह जाने बिना गुरु सेवापरायण है कि नहीं अथवा उसके द्वारा अनुष्ठित भगवत्सेवा स्वमार्गीय सिद्धान्त एवं प्रणालिका के अनुसार है कि नहीं यह जान पाना भी शक्य न हो पायेगा. यह उभयत: पाश है.

अत: अपरिहार्यतया इस उभयत:पाशसे मुक्त होनेको ऐसी कुछ कल्पना करनी ही पड़ेगी कि दीक्षार्थी जिज्ञासु व्यक्तिको कृष्णसेवाके साम्प्रदायिक सेवास्वरूपके बारेमें सूक्ष्म सिद्धान्त एवं प्रकारों का परिज्ञान भले न हो परन्तु स्थूल सिद्धान्त एवं प्रकारों का परिज्ञान तो अपेक्षित होता ही है. तो फिर यह भी स्वीकार लेना चाहिये कि भगवत्सेवाके स्थूल प्रकार एवं स्थूल सिद्धान्तों का सामान्यज्ञान सेवाप्रदर्शनमें दर्शक बने बिना भी कर्णोपकर्ण सत्संगकी प्रक्रियाद्वारा अथवा सामान्य धर्मोपदेशद्वारा ही शक्य होनेपर उसीके आधारपर गुरुत्वेन वरणीय व्यक्तिकी भी भलीभांति परीक्षा कर लेनेकी परिपाटी सुशक्य मान लेनी चाहिये. अत: तदर्थ भगवत्सेवाप्रदर्शन आवश्यक नहीं रह जाता है. उदाहरणतया -- ‘‘किसी रुग्णको अपनी चिकित्सा करानेसे पहले, स्वयं चिकित्सक, रोगनिदान एवं चिकित्सा का भलीभांति जानकार है कि नहीं? वह प्राणापहारी लोभादि दोषोंसे रहित है कि नहीं तथा जो औषधि वह देता है वह शुद्ध है कि नहीं इसका भलीभांति परीक्षण करके किसी चिकित्सकके पास चिकित्सार्थी बनकर जाना चाहिये’’ -- ऐसे विधानकी

विवेचनामें भी उभयत:पाश खोजा सकता है कि यह चिकित्साशास्त्रको पहले भलीभांति जाने बिना सम्भव नहीं और जान लेनेपर अन्य किसी चिकित्सकद्वारा चिकित्सा करानेके बजाय स्वयं ही चिकित्सा भी शक्य बन जायेगी.

इसी तरह कोई धर्मगुरु भी जब अपनी धर्मसाधना निजात्मार्थ न करके जनसंग्रहार्थ या धनसंग्रहार्थ करता है, तो वह अपनी धर्मसाधनाको साधन और धनजनसंग्रहको फल मान रहा है. ऐसी स्थितिमें (क) वचनमें निरूपित **''मनसि अन्यद् विधाय अन्यथा करणे न फलसिद्धि:''** ऐसे व्यक्तिद्वारा अनुष्ठित भगवत्सेवा निष्फल होनेसे सेवोपदेष्टा बनना चाहते व्यक्तिकी (क) वचनमें निरूपित कृष्णसेवापरता असिद्ध हो जानेसे वह व्यक्ति गुरुत्वेन वरणार्थ अयोग्य सिद्ध हो जाता है. ऐसी स्थितिमें श्रीहरिरायजीके **''... तत्संगो दुष्टसंगम:... एवं निश्चित्य सर्वेषु स्वीयेषु अन्येषु वा पुन: महत्कुलप्रसूतेषु कर्तव्य: संगनिर्णय:. श्रीमदाचार्यचरणे मति: स्थाप्या सदा स्वत: ततएव स्वकीयानां सिद्धि: कार्यस्य सर्वथा''** (शि.प.३।८-११) वचनसंगतिके अनुरोधवश **''तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा.. परिचर्यां सदा कुर्यात्''** (त.दी.नि.२।२२८) कल्प समाश्रयणीय बन जाता है. क्योंकि अन्यथा जहां वह स्वयं रहता ही न हो ऐसे गामोंमें अर्थोपार्जनार्थ हवेलियोंको मुखिया-भीतरिया आदिकी बटालियन रख कर चलानेकी आवश्यकता क्या हो सकती है? क्यों वह वहांके अनुयायिओंको स्वयं उनके घरमें ही भगवत्सेवापरायण रहनेकी प्रेरणा नहीं दे पाता? अत: प्रतीत होता है कि ग्रामान्तरोंमें प्रदर्श्यमान भगवत्सेवा कर्तव्यभाववश की जाती भगवत्सेवा होनेके बजाय (क) वचनमें निरूपित **निमित्तान्तरवश** ही की जाती होनी चाहिये. अर्थात् देवलकत्वापादक दम्भवशात् ही की जा रही है. तो वह तो गुरुत्वका अर्थात् सेवादीक्षा अथवा सेवाज्ञा प्रदान कर पानेकी अधिकारिताका निवारक दोष हो गया. ऐसी स्थितिमें उल्लिखित श्रीहरिरायजीके वचन तथा आवरणभंगकार श्रीपुरुषोत्तमजीके **''लोकानुगतपशुरूपत्वात् तादृशो अनुसरणे अन्धानुगन्धान्धवद् उभावपि पतेताम्. एतदर्थमेव जलभेदग्रन्थकरणं ज्ञेयं... एवम् अधिकारसूचनेन अनधिकार्यपि व्यावर्तित:** (त.दी.नि.प्र.आ.२२७)

पारस्परिक संगतिके अनुरोधवश ऐसे पू.पा.महाराजश्री व्यावर्तित सिद्ध हो ही जाते हैं. उल्लेखनीय है कि श्रीपुरुषोत्तमजी इस तरहके अयोग्यव्यक्तिके व्यावर्तनार्थ ही महाप्रभुद्वारा 'जलभेद' ग्रन्थके निर्माणकी बात जो कर रहे हैं वह व्यावर्तन स्वयं उन्हीके शब्दोमें ''**क्षेत्रप्रविष्टा ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः**''(ज.भे.४) की विवृतितया ''गुरुत्वस्य साहजिकब्राह्मण-वृत्तित्वेन अत्याज्यत्वात्... लोभाद् अविचारितदानेतु दाता स्वयम् अपराधभाग् भवति'' निरूपित हुवा है. अतः दोनों वचनोंकी परस्पर संगति भी बैठ जाती है कि अविचारित दीक्षा प्रदान करनेपर भी जहां दाताको लोभदोषवशात् अपराध माना जा रहा है वहां अपनी प्रदर्श्यमान भगवत्सेवामें अविचीरततया दर्शनानुज्ञा प्रदान तथा वित्तजा सेवानुज्ञा प्रदान करनेवाला व्यक्ति तो कितना अधिक अपराधी बन जाता होगा! विमर्शकारको ''**एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थो असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते**'' इस सन्दर्भमें पुनः याद दिलाना चाहेंगे. अर्थात् अविचारिनामदीक्षाके दानवश नामविक्रयापत्ति होती हो जो अपराधरूपा होती है तो अविचारित दर्शनानुज्ञादान और वित्तजा सेवानुज्ञादान (''जो दर्शन करने आया है वह भक्त ही होगा!'' द्र.विम.पृ.सं.८० तथा २०१) क्यों रूपविक्रय नहीं होने चाहिये?

विमर्शकार (पृ.सं.२११) पर कहते हैं कि ''**इस एक वाक्यसे ही व्यवस्था करने चलनेपर ब्रह्मसम्बन्धके बिना ही भगवत्सेवा करनेकी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी दे रहे हैं ऐसा भ्रम होता है. यद्यपि यह विषय यहां कहना नहीं है तथापि प्रसंगतः कहा गया है. 'तदभावे स्वयं वापि' इस वाक्यका तात्पर्य आगे स्पष्ट किया जायेगा**'' (विम.पृ.सं.१०-१४). आगे जब भी जो कुछ विमर्शकार स्पष्ट करेंगे उसका भी विचार निश्चय करेंगे परन्तु वह जब तक प्रकट नहीं किया जाता तब तक इतनी बात तो अवश्य कही जा सकती है कि हम यहां केवल एक वचनके आधारपर कुछ कह नहीं रहे हैं प्रत्युत महाप्रभु, प्रभुचरण गोस्वामिश्रीगोपीनाथजी तथा गोस्वामिश्रीविठ्ठलनाथजी ही नहीं; अपितु, श्रीहरिरायजी एवं श्रीपुरुषोत्तमजी आदि सभीके वचनोंकी एकवाक्यताके आधारपर यह जो कुछ कह रहे हैं वह आधारित है. क्योंकि महाप्रभु (क) वचनमें ''**तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या**'' आज्ञा प्रदान

कर रहे हैं नकि ''तदा तत्प्रदर्शिता सेवा द्रष्टव्या अथवा तत्समाधानीद्वारा याचितसेवार्थं वित्तजा सेवा कर्तव्या'' आज्ञा कर रहे हैं. अतएव श्रीगोपीनाथ प्रभुचरण भी (ख) वचनमें अनुयायिजनोद्धारार्थ **''माहात्म्यज्ञापनायैव श्र(/श्रा!)वणं गुणकर्मणां शास्त्राणाम् उपयोगोऽत्र तत्र आकांक्षा गुरोर्भवेत्... गुरुणा कर्णधारेण उत्तार्या: स्वोपदेशत:''** भगवन्माहात्म्य भगवद्गुण भगवल्लीला के श्रवणार्थ ही शास्त्रानुसारी उपदेशकी ही बात कर रहे नकि भगवत्सेवाप्रदर्शनकी, श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण भी (ग)वचनमें उद्धृत कारिकामें अविचारित दीक्षा प्रदानके कारण दीक्षादाता गुरुके अपराधी होनेकी निन्दा कर रहे हैं सो ''एकत्र निर्णीत: शास्त्रार्थ असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते'' न्यायानुसार अविचारित भगवत्सेवादर्शनानुज्ञा या वित्तजसेवानुज्ञा पर भी लागू करनेमें विमर्शकारको बाधा क्या लग रही है, यदि उसे अपनी आजीविका ही बनानेकी कोई विवशता न हो तो ! श्रीहरिरायजी भी दु:संगविज्ञाननिरूपणमें **''तदीयत्वभ्रमात् तस्मिन् विश्वासो संगदोषतो असत्यपि सद्भावात् पतनं भक्तिमार्गत: अतएवोक्तम् आचार्यै: गुरोरपि च वीक्षणं 'कृष्णसेवापरं वीक्ष्ये'त्यादिपद्ये निबन्धगे... अनाकारितएवासौ संगे लगति सर्वथा प्रार्थिता भगवद्भक्ता: कृपयन्ति कथञ्चन. स द्रव्यमेव विज्ञाय सज्जते स्वार्थमोहित:''** (दु.वि.प्र.२०-३४) द्रव्यार्थ विमोहित जो दर्शन करने आ रहा है वह भगवद्भक्त ही होगा ऐसा अविचारित उपदेश या अविचारित अनुज्ञा अपने भगवत्सेवाप्रदर्शनमें देता हो उसके संगको महाप्रभुद्वारा आज्ञप्त वीक्षणकी प्रक्रियाद्वारा दुष्टसंगतया निर्धारित करना चाहते हैं सो एकवाक्यता सर्वथा सुस्पष्ट ही है. आवरणभंगकार श्रीपुरुषोत्तमजी तो इन सर्वनिर्णयकारिकाओंके आवरणभंगमें **''कले: बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्त: आहु: 'सच' इत्यादि. 'तदभावे' इत्याद्याज्ञापनाद् इदं ज्ञात्वा करणे... आभासात्वाभाव: सेवाया:... मौढ्याभाव: च सेवाकर्तु: साधित:''** (त.दी.नि.प्र.आ.२२८) सुस्पष्टतम शब्दोमें श्रीमदाचार्यचरणोंके अनन्यगुरुके प्रतिपादनपूर्वक स्वतो भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेकी रीतिको आचार्यचरणाज्ञाप्त ही मान कर चल रहे हैं. फिरभी इस निजाचार्याज्ञाकी अवहेलना कर विमर्शकारका यह कह पानेका महान् दु:साहस

कि ‘‘**इस एक वाक्यसे ही व्यवस्था करने चलनेपर ब्रह्मसम्बन्धके बिना ही भगवत्सेवा करनेकी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी दे रहे हैं ऐसा भ्रम होता है**’’ आचार्यचरणके साथ ही असूयामें पर्यवसित हो रहा है! किन्तु गर्ह्यम् अत: परम् ! लगता है कि श्रीहरिरायचरणनिरूपित ६६ अपराधोंमेंसे ११वें अपराधकी वकालत विमर्शकार ३६वें अपराधकी दुर्दम मनोवृत्तिवश कर रहे हैं जिसके कारण श्रीहरिरायजीके अनुसार ३५वें अपराधके ओर वे अपराधी ही सिद्ध होते हैं! यह सभी इन उद्धृत वचनोंकी एकवाक्यतामूलक निष्कर्ष है किसी एकाद वचनका लेभागू अभिप्रायाविष्करण नहीं.

इस ३६वें अपराधकी मनोवृत्तिके विवश कोई व्यक्ति जनधनसंग्रहकी निम्नमनोवृत्तिका भी उदात्तीकृत प्रयोजन जनतोद्धार प्रचारित कर सकता है. इसमें, परन्तु, समझनेकी बात यही है कि प्रत्येक व्यक्तिका आत्मोद्धार तो स्वयं उसके द्वारा अनुष्ठित धर्माचरण ‘‘**तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा**’’ द्वारा ही सम्भव होता है नकि तत्प्रदर्शित भगवत्सेवाप्रदर्शनको केवल आर्थिक प्रोत्साहन देनेमात्रसे. स्वधर्मानुष्ठान स्वयंकृत होना चाहिये परकृत धर्मानुष्ठानके हेतु केवल वित्तप्रदाता दर्शक बननेसे आत्मोद्धारकी कल्पना अतीव बचकानी मनोवृत्ति प्रकट करती है.

यदि परकृत धर्मानुष्ठानके हेतु वित्तदानपूर्वक दर्शनमात्रसे आत्मोद्धार शक्य हो जाता हो तो जिस कनिष्ठ गोस्वामीने जिस ज्येष्ठ गोस्वामीसे ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा ली हो उस दीक्षाप्रदाताके द्वारा अनुष्ठित कृष्णसेवाके प्रदर्शनसे कनिष्ठ दीक्षाग्रहीता गोस्वामीका भी उद्धार शक्य हो जाना चाहिये था. यदि जनसाधारणका व्यावसायिक छप्पनभोगके प्रदर्शनमें दर्शक या आर्थिक सहयोग प्रदान करनेमात्रसे ८४ लाख योनिओंमें चलनेवाले जन्ममरणके दुष्चक्रसे छुटकारा हो जाता हो तो कनिष्ठ गोस्वामीका भी हो जाना चाहिये. यदि नित्यप्रदर्शित कृष्णसेवाके दर्शनोंके असकृद् आवर्तनोंसे ही जनसाधारणका उद्धार हो जाता हो तो कनिष्ठ गोस्वामीका भी हो जाना चाहिये. यदि सकृद् अथवा असकृद् दर्शनोंके आवर्तनोंके बावजूद गोस्वामिसमाजका उद्धार स्वयंकृत कृष्णसेवासे ही होता हो तो वही बात

जनसाधारणके लिये भी सत्य होनी चाहिये. यदि इसे इष्टापत्तिके रूपमें स्वीकारा जाता है तो ज्येष्ठ गोस्वामिप्रदर्शित कृष्णसेवाद्वारा ही केवल कनिष्ठ गोस्वामिओंका उद्धार निश्चित हो जानेके कारण कनिष्ठ गोस्वामिंओकी कृष्णसेवाका प्रयोजन केवल जनोद्धार ही शेष रह जायेगा. अर्थात् आत्मोद्धार नहीं. तब यह प्रश्न उठ खड़ा होगा कि कृष्णसेवाप्रदर्शन क्या--

(क) अन्यनिरपेक्ष वैकल्पिक या अनुकल्पिक एकाकी उद्धार साधन है?

अथवा

(ख) अन्यसापेक्ष सहकारिकारण?

अथवा

(ग) अन्य किसी अंगी अनुष्ठानका अंगभूत या आनंषंगिक साधन है?

(क) इनमें वैकल्पिक साधन होनेके कल्पको स्वीकारनेपर तो दर्शनार्थी जनताको [१]ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा प्रदान करना, [२]उससे अपने ठाकुरजीके लिये भेंट-सामग्री-मनोरथके रुपये ऐंठनेको वित्तजा सेवा करानी, [३]उसे प्रवचन-भागवतकथा सुनाना या [४]व्रजयात्रा करवाना आदि सभी जलताडनवत् निरर्थक क्रिया सिद्ध होंगी.

भगवत्सेवाप्रदर्शनको आत्मोद्धारका आनुकल्पिक कारण/साधन माननेपर मुख्य कल्प जो भी हो उसपर भार देनेके बजाय इस अनुकल्पके अनन्यावलम्बनकी आवश्यकता क्या? मुख्य कल्प यदि 'तनुजा और/अथवा वित्तजा' हो और वह वैष्णवोंसे देशकालकी विपरीतताके कारण निभ नहीं पाती, ऐसा मान लेते हैं, तो उपदेशकर्ता स्वयं उस मुख्य कल्पका अवलम्बन क्यों नहीं करते? महाप्रभु तो स्वयं स्पष्ट आज्ञा करते हैं ''**योहि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् ताम् उत्तमां जानीयात् तदा कथं स्वयं न कुर्याद्**'' (वहीं) इससे स्पष्ट होता है कि गुरु सेवाके जिस या जैसे प्रकारको उत्तम मानता हो तदनुसार गुरुके उपदेश और अनुष्ठान में एकरूपता होनी चाहिये. तनुवित्तजा

सेवाके आचार्योपदिष्ट कल्पकी अक्षम्य अवहेलनाके बावजूद 'तनुजा और/अथवा वित्तजा' सेवाके कपोलकल्पित प्रकारका भी अनुष्ठान हम सेवाप्रदर्शक गोस्वामिओंके आचरणमें भलीभांति अनुष्ठित होता दिखलाई तो नहीं देता. क्योंकि अधिकांश तनुजा सेवा पगारदार नोकर करते हैं और वित्तजा सेवा प्राय: दर्शनार्थी जनता ही. अत: भगवत्सेवाप्रदर्शनके आनुकल्पिक एकाकी कारण होनेकी कल्पना करनेपर मुख्य कारण अन्य कोई अनुपदिष्ट अप्रदर्शित है, जबकि उपदेश्य प्रदर्शित कारण कृष्णसेवाका भोंडा प्रदर्शन होगा अनुकल्परूप. इस तरह उपदिष्ट एवं अनुष्ठित धर्मोमें भेद किसी न किसी तरहके दम्भका ही प्रमाण बन जायेगा.

(ख) यदि इस कारणसे भगवत्सेवाप्रदर्शनको आत्मोद्धारके अन्य किसी/किन्हीं साधन/साधनोंका सहकार कारणके रूपमें स्वीकारा जाये तो जिन दर्शनार्थी व्यक्तिओंको ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा अथवा भागवतकथा-प्रवचनोपदेश एवं व्रजयात्रा सेवाप्रदर्शक गोस्वामी न कराते हों उनके सन्दर्भमें कृष्णसेवाप्रदर्शन जलताडनवत् निरर्थक क्रिया सिद्ध होगी.

यदि कहा जाये कि बहुजनके उद्धारार्थ अनुष्ठित कृष्णसेवाप्रदर्शनके कारण अब्रह्मसम्बन्धी या भेंटसामग्रीमनोरथोंके निमित्त वित्तजा न करनेवाले कतिपय अवैष्णव मुफतिया दर्शनार्थिओंका उद्धार सहकारी कारणके अभाववश न भी हो पाता हो, एतावता कृष्णसेवाप्रदर्शनको निरर्थक नहीं माना जा सकता, तो इस नैरर्थक्यपरिहारके सन्दर्भमें यह कथनीय है कि कमसे कम मन्दिरोंके द्वारपर एक चपरासी तो दर्शनार्थिओंकी भीड़की छंटनीके लिये नियुक्त करना चाहिये. ताकी सबको यह वास्तविक्ता पता चल जाये कि सहकारी कारणके अभावमें केवल कृष्णसेवाप्रदर्शनमें दर्शक बननेसे आत्मोद्धार नहीं हो जाता है! इससे एक और अतिरिक्त सूचना हम प्रदर्शनप्रेमी गोस्वामिओंको उपलब्ध हो पायेगी कि दर्शनार्थिओंमें ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लिये हुवे कितने लोग होते हैं और कितने लोग ऐसे ही जो आत्मोद्धारक भावनावश नहीं प्रत्युत एक धार्मिक तमाशा या साधारण कुतुहलवश आ धमकते हैं. कुतुहलवश जागी दर्शनार्थिता दर्शन में अनधिकारिता है ऐसा तो विमर्शकारने

(पृष्ठ.२०५) स्वीकारा है तब भी उसकी सावधानी तथाकथित अपनी षष्ठपीठमें ली जाती हो ऐसे प्रमाण उपलब्ध नहीं होते. उस चपरासीसे निरन्तर यह भी घोषणा करवाई जा सकती है कि ''ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लिये बिना एवं वित्तजा सेवाके बिना, केवल कृष्णसेवाप्रदर्शनमें दर्शक बननेसे आत्मोद्धार नहीं होगा.'' हमारे मन्दिरोंमें इस व्यवस्थाका प्रावधान रखे बिना वैष्णव बहुजनोंके उद्धारकी बात तो युक्तियुक्त नहीं लगती.

(ग) यदि कृष्णसेवाप्रदर्शन आत्मोद्धारका एक आनुषंगिक कारण हो तो मुख्य कारण कौन सा है यह खुलासा भी करना पड़ेगा. यदि तनुवित्तजा सेवा हो तो सेवोपदेष्टा हम गुसांई स्वयं वह क्यों नहीं करते? यदि 'तनुजा और/अथवा वित्तजा' सेवा तो भी क्यों मुखिया-भीतरिया आदिकी बटालियन रखते हैं और क्यों वैष्णवावैष्णव दर्शनार्थिओंसे सेवाके नामपर धन ऐंठते हैं? प्रदर्शनके गौण या आनुषंगिक कारण होनेपर भी उसपर इतना भार कि निरन्तर विज्ञापनोंद्वारा उसका ही प्रचार करते हैं परन्तु मुख्य कारणका प्रचार विज्ञापनोंद्वारा क्यों नहीं करते? यदि कहा जाये कि कृष्णसेवाप्रदर्शन निषिद्ध तो माना नहीं गया है केवल आनुषंगिक माना गया है और आधुनिक वैष्णव समुदाय उनके आत्मोद्धारके मुख्य कारण तनुजा-वित्तजा सेवाको निभा पानेमें सक्षम नहीं. अत: अनुकल्पके अवलम्बनद्वारा उनके उद्धारके केवल सदाशयवश कृष्णसेवाप्रदर्शनपर इतना प्रचारभार दिया जाता है. अत: इसे सभीको अनुमोदनीय ही मानना चाहिये.

वास्तविकता इस विषयमें यह है कि आज जितनी महत्ता दर्शनकी सीधी या तिरछी तरह दिखलाई जा रही है, उसे देखते हुवे कोई भी इसे पुष्टिमार्गीय धर्मानुष्ठानकी आनुषंगिक या अनुकल्परूपा प्रवृत्ति मान नहीं पायेगा. कई दर्शनार्थी हम गोस्वामिओंद्वारा प्रदर्शित कृष्णसेवाके दर्शनके बिना घरमें भोजन भी नहीं करते. उन्हें रोकने-टोकनेके बजाय प.भ.के रूपमें बिरदाया जाता है. कई बार तो कण्ठत: वैष्णवोंको उनके घरमें बिराजते ठाकुरजीकी उत्सवसेवा हमारी कृष्णसेवाके प्रदर्शनसे पहले न करनेकी भी आज्ञा दी जाती है.

तनुवित्तजा न सही तनुजा/वित्तजा सेवाको भी सिद्धान्ताभिमत मान कर चलें तो भी हम अनेक गोस्वामिओंके अनेकानेक मन्दिर जो अनेकानेक गांवोंमें चलाये जा रहे हैं, वहां तो हम गोस्वामिओंका उपस्थित रह पाना भी शक्य नहीं तो तनुजा सेवाका तो प्रश्न ही उठ नहीं सकता. रही बात वित्तजा सेवाकी तो वहां जिस मन्दिरमें हम स्थायिरूपेण निवास करते हैं उस मन्दिरमें हमारे स्वयं आयके स्रोत हमारी चरणभेंट, अथवा और भी जो कुछ हों, उनसे सेवाप्रकार नहीं निभाते प्रत्युत ठाकुरजीकी सन्मुखभेंट, भंडारमें और पेढ़ी में जमा होनेवाली सामग्री और मनोरथसेवा आदि अनेकविध भेंटोंसे सेवा निभाते हैं. अपनी चरणभेंट तो अपने टी.वी. विडिओ नई-नई कारमोडेलों आदिके वैभव निभानेमें ही खर्ची जाती है.

इसके अलावा कृष्णसेवाप्रदर्शन यदि 'तनुजा और/अथवा वित्तजा' सेवाकी आनुषंगिक प्रवृत्ति हो तो वह केवल हम गोस्वामिओंका एकाधिकार क्यों बना दी गयी है? जो भी पुष्टिमार्गानुगामी ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र या वर्णाश्रमेतर व्यक्ति भी, क्योंकि कृष्णसेवार्थ तो सभीको अधिकारी माना गया है, हम गोस्वामिओंकी तरह व्यावसायिक सेवाप्रदर्शन क्यों नहीं कर सकता? क्या हमें अपने इस व्यवसायपर अपने एकाधिकारको हानि पहुंचनेकी भीति सताती है?

यदि 'हां'में उत्तर दिया जाये तो बात खुल गयी कि कृष्णसेवा हम गोस्वामिओंकी भक्तिमयी प्रवृत्ति न हो कर केवल अर्थोपार्जनार्थ एक आजीविका मात्र है. अन्यथा अधिकाधिक मन्दिरोंके उद्घाटन करवा कर सभीको कृष्णसेवाप्रदर्शनार्थ क्यों प्रेरित नहीं किया जाता है. जनतामें बहुसंख्याक जीवोंके उद्धार होनेमें बुराई क्या हो सकती है!

केवल हम गोस्वामिओंकी गुर्वाज्ञाकी मर्यादा हो तो आर्थिक या कानूनी हक जताये बिना केवल नामसे जुड़े हुवे होनेसे आज्ञानुसार चलते होना अनिवार्य बताया जा सकता है. उसमें भी पुन: भीति यहीं अन्तर्मनमें सताती होनी चाहिये कि ऐसे मन्दिर अधिक प्रसिद्ध या जनप्रिय बन कर हमारी कृष्णसेवाकी व्यावसायिक गतिविधिमें कहीं प्रतिस्पर्धी न बन जायें!

इसके अलावा यह भी तो विचारणीय है कि हम गोस्वामिओंके नाम और आज्ञा में क्या वस्तुत: इतनी दिव्य सामर्थ्य है कि स्वयं परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण, उनकी सेवा अथवा सेवाका प्रदर्शन भी हमारी आज्ञाके आधीन ही हो कर जनोद्धारक हो पाते हैं? अन्यथा नहीं!

यदि यह नियम त्रैकालिक या शाश्वत हो तो इसका निरूपण भागवतादि भक्तिप्रतिपादक शास्त्रोंमें क्यों नहीं मिलता? यदि यह नियम तात्कालिक या व्यावहारिक है, तो ऐसे नियमके औचित्य एवं सम्प्रदायके हितमें होनेका प्रमाण क्या? क्योंकि यदि सार्वकालिक इस नियमको मानते हैं तो भागवतादि अवतारकथाओंमें वर्णित अनेकानेक जीवोंके उद्धारको अप्रमाणिक मानना पड़ेगा. क्योंकि वहां हम गोस्वामिओंकी आज्ञासे उद्धारका कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता. और त्रैकालिक न मान कर वल्लभवंशजोंकी विद्यमानताके कालमें सीमित नियम मानते हैं तो केवल कालसीमा ही क्यों देशसीमा क्यों नहीं इस नियमपर लादी जाती कि ''जिस देशमें वल्लभवंशज गोस्वामी विद्यमान हों वहां हम गोस्वामिओंकी आज्ञा एवं नामसे जुड़े बिना कृष्णसेवाप्रदर्शन जनोद्धारक नहीं होगा?''

यदि ऐसा देशनियम भी स्वीकार लिया जाता है तो हमारी जिन अनेकानेक हवेलिओंमें हम रहने नहीं जाते उनमें चल रहे व्यावसायिक कृष्णसेवाप्रदर्शनकी उद्धारकता निरस्त हो जायेगी. क्योंकि जिन छोटे-छोटे नगर या गांवों में हमें प्रचुर आय नहीं होती चरणभेंट-पधरामणी-तपेली आदिकी वहांकी पुष्टिमार्गीय निर्धन जनता हम गोस्वामिओंके पधारनेकी बांट चातक बन कर निहारती रहती है परन्तु हम जाना पसन्द नहीं करते.

यदि इस नियमको कालमें सीमित परन्तु सार्वदेशिक मान लेते हैं तो जो गोस्वामिमहानुभाव जहां अपने व्यावसायिक मन्दिर चला नहीं पाते वहां उन उन गोस्वामिओंसे ली हुयी ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा निरर्थक सिद्ध होगी. क्योंकि कृष्णसेवाको प्रदर्शित करनेवाला किसी गोस्वामीके नामसे जुड़ा मन्दिर वहां चल ही नहीं रहा. अत: दीक्षा प्रयोजनहीन बन जायेगी.

कोष्ठक (क)के अन्तर्गत उद्धृत महाप्रभुवचन तथा श्रीपुरुषोत्तमजीकृत

उसकी व्याख्या दोनोंके आधारपर यह स्पष्टतया दिखलायी देता है कि कृष्णसेवोपदेशदीक्षाकी सफलता ''**भागवततत्त्वज्ञत्वे सति दम्भादिरहितत्वे सति कृष्णसेवापरायणत्वे सति नरत्वं**'' लक्षणवाले गुरुसे ग्रहण करनेपर निरूपित हुयी है नकि केवल वल्लभवंशजत्वके आधारपर : ''**एवम् अधिकारसूचनेन अनधिकार्यपि व्यावर्तित:**'' (वहीं) व्याख्याके आधारपर यह करतलामलकवत् स्पष्ट है.

यह तो हम कह ही चुके हैं कि ''**तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या**'' (वहीं) विधान उपलब्ध होता है नकि ''**तदा तत्प्रदर्शिता सेवा द्रष्टव्या**''. अत: वास्तविक सिद्धान्त और वर्तमान अन्धरूढ़ि के बीच आकाश-पातालका अन्तर स्पष्ट दिखलायी देता है.

यह भी दिखला चुके कि कोष्ठक (ख)के वचनमें भी यही सूचित हो रहा है कि भगवन्माहात्म्यज्ञानके लिये भगवद्गुण एवं भगवच्चरित्र का श्रवण आवश्यक होता है और इस आवश्यकताकी पूर्ति शास्त्रोंसे होती है और शास्त्रोपदेशग्रहणार्थ ही गुरुकी अपेक्षा होती है. वह गुरु महाप्रभु निर्दिष्ट लक्षणविशिष्ट होना चाहिये. ऐसे गुरुके उपदेशके अनुसार, स्वधर्मानुष्ठानसे उद्धार सिद्धान्तित हुवा नकि सेवाप्रदर्शनसे या सेवादर्शनसे. स्पष्ट है कि गुरुकी यहां इस वचनमें दृष्टोपकारकता निरूपित हुयी है नकि अदृष्टोपकारकता.

कोष्ठक (ग)के रूपमें उद्धृत वचनकी भी मीमांसामें भगवन्नामोपदेशद्वारा गुरुत्वकी वृत्तिसे भी भगवन्नामविक्रयके दोषका परिहार तभी सम्भव माना है जब वह केवल कर्तव्यनिर्वाहबुद्ध्या तथा शिष्योद्धारैकप्रयोजनवश कथञ्चित् अपनायी जाती हो. अन्यथा धनलोलुपतावश या अधिकारविवेक रखे बिना किये जानेपर तो नामोपदेशदीक्षा भी उपदेशरूपा न होकर विक्रयरूपा बन जाती है. अत: ''**एकत्र सिद्ध: शास्त्रार्थ: असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते**'' न्यायके अनुसार ही भगवत्सेवोपदेश भी भगवत्स्वरूप/भगवद्भजनके विक्रयमें विकृत न हो जाये इसकी नितान्त सावधानी अपेक्षित थी. ऐसी स्थितिमें व्यावसायिक सेवाप्रदर्शनकी कथा तो सिद्धान्तसे कितनी दूरापास्त है !

यदि वैष्णवावैष्णव या स्वीयास्वीय के अधिकारविचार और विवेक के बिना सभी दर्शकोंके सामने सेवाप्रदर्शन और सभीसे द्रव्य तदर्थ ऐंठा जाता हो तो उसे भगवत्स्वरूप तथा भगवत्सेवा का विक्रय ही मानना पड़ेगा.

उल्लेखनीय हो जाता है कि विमर्शकारने कृष्णसेवाप्रकरण (पृ.५-१०) में क्रीत या विक्रीत तनुजा सेवायें मानसीकी साधिका सेवा नहीं होती, एतावता उन्हें निषिद्ध नहीं मान लेना चाहिये ऐसा अश्रुतपूर्व-अकल्पितपूर्व कुविमर्श तो कर दिया परन्तु वे भूल गये कि नामविक्रयको जब नामविक्रेताका विनाशकारी दोष माना गया है तो ''**एकत्र सिद्धः शास्त्रार्थः असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते**'' न्यायानुसारिणी शुद्धा सात्त्विकी मति रखते हुवे भगवत्सेवाके भी क्रय-विक्रयको भी दोषरूप मानना क्यों भूल गये? भगवत्सेवाको आजीविका ही बनानेका ऐसा भी दुराग्रह किस कामका?

यों कृष्णसवाप्रदर्शन दर्शनार्थी जनताका उद्धारक होता है, इस धारणाके खण्डित होनेपर भी ''**तुष्यतु दुर्जनन्यायेन**'' कथञ्चित स्वीकारनेको उद्यत भी हम हो जायें एतावता अपनी सेवाके प्रदर्शनद्वारा दर्शनार्थी जनतासे द्रव्य ऐंठनेकी बात कथमपि उचित ठहरानी शक्य नहीं लगती.

''**विचार्यैव सदा देयं कृष्णनाम विशेषतः अविचारितदानेन स्वयं दाता विनश्यति**'' वचनके अनुसार जब पुष्टिमार्गप्रवेशार्थ नामदीक्षाग्रहणमें सभीका अधिकार मान्य नहीं रखा गया तब पुष्टिमार्गीय कृष्णसेवाके प्रदर्शनसे सभीका उद्धार हो जायेगा ऐसा कहा ही नहीं जा सकता है. ''**एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थः असति बधके अन्यत्रापि पुज्यते**'' न्यायके अनुसार ही.

कोष्ठक (घ)के वचनके अनुसार यह भी हम दिखला ही चुके हैं कि मार्गप्रवेशार्थ आधुनिक गुरुओंकी अपेक्षा या उपयोगिता होनेपर भी अनिवार्यता नहीं है. क्योंकि कृष्णसेवामें स्वयं भी प्रवृत्त हुआ जा सकता है और ऐसी कृष्णसेवामें न तो धर्माभास होनेका दोष स्वीकारा गया है और न कृष्णसेवामें स्वतः प्रवृत्त होनेवालेके बारेमें मौढ्यादि दोष ही स्वीकारे गये हैं. तब महाप्रभुपदिष्ट लक्षणवाले या लक्षणरहित हम गोस्वामिओंद्वारा प्रदर्शित

कृष्णसेवाके दर्शनकी अपरिहार्य न होनेके बारेमें प्रश्न भी उठ नहीं सकता है.

कुछ लोग कहते हैं कि **''जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृद्''** (सर्वोत्तमस्तोत्र : १२) नामके अनुसार धार्मिक जनताको भगवत्सेवाके प्रशिक्षणार्थ प्रदर्शन आवश्यक होता है ताकि प्रदर्शित सेवाविधिको जान कर स्वयं निजगृहमें अनुयायिजन भलीभांति सेवा कर पायें.

इस सन्दर्भमें कई तथ्य विचारणीय लगते हैं. यथा--

(१) आजकी तारीखमें यह रेडिमेड सेवाप्रदर्शन लोगोंमें कितनी गृहसेवारुचि जगानेमें बढ़ानेमें और निभानेमें सक्षम हुआ है अथवा घटाने और नष्ट करनेमें सफल हुआ है, इसके पुष्टिमार्गीय सर्वेक्षणद्वारा कितने प्रतिशत क्या कर रहे हैं इसका आकलन जब तक कोई प्रकट न करता हो तब तक कोई प्रामाणिक अभिप्राय कैसे बांधा जा सकता है?

(२) इन सेवाप्रदर्शनोंमें भटकनेवाले दर्शनार्थिओंकी निष्ठा स्वमार्गीय सिद्धान्त साधना धर्मोपदेश या धर्मोपदेशकों में भी बढ़नेके बजाय घटी है. क्योंकि अन्यमार्गीय सिद्धान्त साधना और धर्मोपदेश करनेवालोंको सुनने मानने जानेवालोंमें अधिकांश नहीं भी तो अच्छी-खासी तादातमें पुष्टिमार्गीय वैष्णव या वैष्णवपुत्र होते ही हैं. कृष्णसेवाप्रदर्शनकी, साम्प्रदायिक हितके सन्दर्भमें, इससे अधिक निरर्थकता और क्या हो सकती है?

(३) स्वयं इन रेडिमेड प्रदर्शनोंसे होनेवाली रेडिमेड आमदनीके कारण आश्वस्त हम गोस्वामिओंमें स्वमार्गीय ग्रन्थोंके भी--मूलभूत शास्त्र या अन्यमार्गीय ग्रन्थोंकी कथा ही दुरापास्त है --अध्ययन-अभ्यासकी रुचि क्षीणप्राय रहती है. परिणामरूपेण कतिपय अपठित गोस्वामी बालकों तो गंडा-ताबीज झाड़-फूंकके गोरखधंधेमें वैष्णवोंकोभी उलझाना पड़

रहा है.

(४) अपने घरमें ब्रह्मवर्चस्वी गोस्वामी आचार्योचित गौरवपूर्ण जीवन जीनेके बजाय धनिक वणिग्जनोंको ट्रस्टी बना कर उपानदुपलेही बन कर देवलकतोपजीवन करनेको बाधित होना पड़ता है. कुछ गोस्वामिओंको निजगेहस्थित प्रभुपरसे अपना स्वत्व भी खोना पड़ा है. चोरी आदिके आरोप लगाकर कुछ गोस्वामिओंका भगवत्सेवामेंसे निष्कासन भी हुआ है. स्वयं विमर्शकारको हालमें अपने सेव्यस्वरूपको वराछामें अपने बंगलामेंसे पुन: चौटाबाजार स्थित जर्जर भवनमें पधरानेको बाधित होना.)

(५) वीडिओ जैसी आधुनिक कमखर्चीली प्रशिक्षण सुविधाओं द्वारा भगवत्सेवाप्रशिक्षण सुकर होनेपर भी केवल जनप्रशिक्षणके क्षुद्र प्रयोजनार्थ अपनी कृष्णसेवा जैसी दिव्यतम साधनाको व्यावसायिक प्रदर्शन बनाना कहां भक्तिमार्गीय नीतिमत्ता या बुद्धिमत्ता हो सकती है? नित्यसेवा ऋतुसेवा उत्सवसेवा मनोरथसेवा के विडिओसेट तैयार कर वितरण और/अथवा विक्रय कर कृष्णभक्तिप्रशिक्षण सिद्धान्तशुद्ध गौरवपूर्ण ढंगसे भी दिया जा सकता है.

(६) महाप्रभुके नाममें भी ''**जनशिक्षाकृते कृष्णभक्ति कृत्**'' पद प्रयुक्त हुवे हैं परन्तु ''**जनशिक्षाकृते कृष्णसेवाजीविकाकृद्**'' अथवा ''**जनशिक्षाकृत कृष्णसेवाप्रदर्शनकृद्**'' पद प्रयुक्त नहीं हुवे है.

(७) आज महाप्रभु और प्रभुचरण के निधि सेव्यस्वरूपोंमें से बहुतोंके उपर उनके हम वंशजोंका स्वत्व इसी सेवाप्रदर्शनकी जघन्य मनोवृत्तिके वश नि:शेष हुवा है. अपने देहसम्बन्धी बहुबेटिओंकों तो अन्योंकी कुदृष्टिकी आशंकाके वश परदेकी

ओटमें हमने छिपाये रखना चाहा परन्तु अपने आत्मसम्बन्धी सेव्यस्वरूपपरसे जहां पहुंचनेपर स्वत्व खोना पड़े ऐसी सीमाओंको लांघकर भी प्रदर्शन करना चाहा. हमें न तो पुष्टिमार्गीय विवेक और न किसी तरहकी आत्मसम्मानमूलक लज्जा ही अपने इन कुकृत्योंसे बचनेको हमें रोक पायी! इससे अधिक निम्नतर कक्षा हमारे अध:पतनकी और क्या हो सकती है?

(८) यदि कृष्णसेवाप्रशिक्षण हमारी कृष्णसेवाका वास्तविक प्रयोजन हो तो वह कृष्णसेवा न तो कर्तव्यभावसे और न तत्सुखके भावसे अनुप्राणित मानी जा सकती है. अत: ऐसी अवस्थामें लोकहितार्थ केवल होनेके कारण वह भगवदर्थ न होनेसे आधिदैविक दृष्टिसे कितनी निम्नस्तरीय बन जाती है. इसके विपरीत अनेक हमारे अनुगामी जनोंके घरोंमें अनुष्ठित भगवत्सेवा या भगवत्सुखैकार्थ होनेसे आधिदैविक या आत्मकर्तव्यता अनुष्ठित होनेसे आध्यात्मिक रूपा ही होती है, आधिभौतिक तो नहीं ही. यों कृष्णसेवाके उपदेशकोंकी कृष्णसेवासे तो वह हर तरह उच्चस्तरीय होती है. अत: हम कृष्णसेवोपदेशक गोस्वामिओंको हमारे शिष्योंसे भगवत्सेवाका वास्तविक स्वरूप एवं प्रयोजन समझना चाहिये, उन्हें गुरुतया मान्य रख कर.

(९) यदि वस्तुत: कृष्णसेवाप्रशिक्षणार्थ कृष्णसेवाप्रदर्शनका औचित्य हम सिद्ध करना चाहते हों तो भी दर्शनार्थिओंके प्रशिक्षणार्थ उन्हें सेवामें जो भीतर नहाना चाहे उसे रोकना टोकना नहीं चाहिये. सेवा को देखनेके बजाय सेवा को करने देनेसे प्रशिक्षण और भलीभांति दिया जा सकता है.

वैसे पता नहीं कि इतना वाहियात तर्क विमर्शकारको अभीष्ट है कि नहीं परन्तु अन्य कई हमारे देवलकबन्धु भरी सभामें ऐसा तर्क देते हैं.

इस तरह **‘कृष्णसेवोपदेशदीक्षा’** शीर्षकके अन्तर्गत प्रस्तुत विषयवाक्योंका स्वारसिक अर्थविचार करनेपर कृष्णसेवाप्रदर्शनकी सिद्धान्तविपरीतता सिद्ध होती है. इसके बाद **‘सेवाप्रदर्शन’** शीर्षकान्तर्गत विषयवाक्योंके विचारार्थ प्रस्तुत होनेसे पूर्व प्रस्तुत प्रकरणसे सम्बन्धित विचारोंकी संग्रहकारिका सुविधार्थ यहां प्रस्तुत कर रहे हैं :

## संग्रहकारिका

**प्रदर्शनेनोद्धारश्चेद् दर्शकस्य यदा तदा ।।**
**उद्धाराय बहूनां तु कुतो न क्रियतेऽधुना ।।१।।**
**सर्वैर्हि पुष्टिमार्गीयैः कृष्णसेवाप्रदर्शनम् ।।**
**गोस्वाम्येककृतं तच्च मतं सेवाप्रदर्शनम् ।।२।।**
**तत् किं तेषां प्रभुः सेव्यः परार्थइति हेतुना ।।**
**उत सेवैव दम्भार्था क्रियते तैरिति स्थितिः ?।।३।।**
**तत्र नाद्यः परार्थत्वे गोस्वामिगृहताक्षतेः ।।**
**परार्थश्च गृहे चेति न कथं व्याहतः स्वतः!।।४।।**
**वन्ध्या च जननीचेयं नारीति कथनं यथा ।।**
**दम्भैकार्था ततः सेवा दीक्षादातृत्वलोपिका ।।५।।**
**तथा चोक्तं निबन्धस्य सर्वनिर्णयवर्णने ।।**
**‘कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्’’।।६।।**
**इहावरणभंगेऽपि व्याख्यातं नृवरैः स्फुटम् ।।**
**‘अधिकारविनिर्देशाद् मार्गे ह्यनधिकारिणौ ।।७।।**
**लोकानुगः पशुह्यन्धोऽपरस्तमनुगस्तथा ।।**
**व्यावर्तितावुभौ तेन कथं तस्योद्धृतिर्भवेत् ?।।८।।**
**जलभेदस्य विवृतौ प्रभुक्तं समुदाहृतम् ।।**
**पुरुषोत्तमैस्तु तच्चेह स्मर्तव्यं हि सर्वदा ।।९।।**
**‘‘विचार्यैव सदा देयं ‘कृष्ण’नाम विशेषतः ।।**
**अविचारित दानेद स्वयं दाता विनश्यति’’।।१०।।**

मार्गेऽत्र दीक्षाग्रहणाधिकारो
नो सर्वगस्तत्र मुधास्मदीयाः ।।
उद्धारमोहेन परस्य तेऽत्र
जाता स्वयं नो पतयालवः किं! ।।११।।
गोपीनाथप्रभूक्तं च ह्यवधेयं स्वमार्गिभिः ।।
''माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम् ।।१२।।
शास्त्राणामुपयोगोऽत्र तत्राकांक्षा गुरो''रिति ।।
आकांक्षा नैव तस्येह कृष्णसेवाप्रदर्शने ।।१३।।
प्रदर्शनेन नोद्धारो ह्युद्धारः स्वोपदेशतः ।।
दुर्लभत्वे तु तस्यापि ह्याचार्यवचसा स्फुटे ।।१४।।
स्वयं वा कृष्णसेवैका निजोद्धृतिकरा सदा ।।
कर्तुश्च मौढ्यदम्भादिदोषराहित्यवर्णनाद् ।।१५।।
सेवोपदेशदीक्षादेः सिद्धान्ते दातृकर्तृकम् ।।
सेवाप्रदर्शनं नैव जनतोद्धारकारणम् ।।१६।।
'जनशिक्षाकृतेकृष्णभक्तिकृद्वंशजा'इति ।।
प्रदर्शनं हि सेवायाः नन्वेषं न विरुद्ध्यते ।।१७।।
जनशिक्षाथवा कृष्णसेवा स्यादत्र वै फलम्?।।
अन्त्ये किमन्तर्गडुना जनानां शिक्षणेन तु ।।१८।।
गुरुत्वादिति चेन्नात्र दम्भादिरहिता सदा ।।
श्रीकृष्णसेवापरता प्रथमा योग्यता मता ।।१९।।
प्रदर्शनकृते सेवा कृता चेद् दम्भितैव हि ।।
नो भक्तिर्नैव धर्मो वा जनोद्धारकरः क्वचित् ।।२०।।
नाम्नैतेन निजाचार्यनिन्दनं किमु कार्यते?।।
इति चेन्नहि तन्नास्ति कृष्णभक्तिप्रदर्शनम् ।।२१।।
उच्यते किन्तु कर्तृत्वं ह्यपाषण्डित्वबोधकम् ।।
आचिनोति शास्त्राणि स्वाचारे स्थापयत्यपि ।।२२।।
यश्चोपदिशत्यन्यान् तमाचार्यं विदुर्जनाः ।।

**निबन्धेऽप्येवमेवाहुराचार्यचरणाः स्फुटम् ।।२३।।**
**''उपदेक्ष्यन्हि तां सेवामुत्तमां यदि मन्यते ।।**
**स्वयमेव कुतो नायं कृष्णसेवापरो भवेत?''।।२४।।**
**इति हेतोः सदा कृष्णसेवायां तत्परं जनम् ।।**
**संवीक्ष्य वै गुरुं कुर्यात् साधनं हीदमादिमम् ।।२५।।**

**तस्मान्नैवोपदेशेहि प्रदर्शनम् अपेक्ष्यते ।।**
**न परार्था ततः कृष्ण-सेवा सिद्धान्तसम्मता ।।२६।।**
**अथापि चेत् प्रदर्शनं मतं वरं हि साधनं**
**कृतं तदा कृतेन कायिकेन सेवनेन तु**
**यतोहि वर्ततेऽधुना तु साधनं हि वीडियोः ।।**
**प्रदर्श्यते कुतो न तेन वार्षिकं हि सेवनम् ।।२७।।**

इति श्रीमद्गोस्वामिदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचिता
'सेवोपदेशदीक्षा'-'सवोपदेष्ट्'शीर्षकान्तर्गतसंकलितविषयवाक्यविचारे
'विमर्श'विशोधनिका

***

# ‘सेव्यस्वरूप’शीर्षकान्तर्गत संकलित विषयवाक्यविचारमूलक विशोधन

## (विषयवाक्य)

(क) **गुप्तो हि रसो रसत्वम् आपद्यते--अगुप्तो रसो रसाभासः स्यात्** (सुबो.१०।१८।५--१०।५९।४४).

(क) गुप्त रखनेपर ही रस रस रह पाता है--प्रकट होनेपर वही रस रसाभास बन जाता है (तत्रैव)...

(ख) **सच दुर्लभइति तेनापि वक्तव्यं प्रकारम् आह--**

**तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् ।**
**परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम् ।।**

**‘तदभावे’ इति. ‘क्वचिद’ देशविशेषे सत्परिपन्थानाम् अभावयुक्ते, ‘हरेः मूर्तिं कृत्वा’ भजेत्. अयमेव अस्य मार्गस्य प्रकारः उत्तमः यत् मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति. तत्र मूर्तेः भगवत्त्वं त्रेधा निरूपयति ‘तद्रूपम्’ इति. वस्तुविचारेण सर्वस्य भगवद्रूपत्वाद् विशेषस्तु अयम् : ‘एनम् उद्धरिष्यामि’ इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतो, भक्तिमार्गानुसारेण आह ‘तत्रच स्थितम्’ इति** (त.दी.नि.प्र.२।२२८).

**ननु अत्र मूलएव कुठारापातः ! इति आकांक्षायां, कलेः बलिष्ठेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्तः आहुः ‘सच’ इत्यादि. ‘तदभावे’ इत्याद्याज्ञापनाद् इदं ज्ञात्वा करणे, ‘‘यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिः आभासो ह्याश्रमात् पृथग्’’ इति आभासत्वभावः सेवायाः, तृतीयस्कन्धोक्तमौढ्याभावः च सेवाकर्तुः साधितः. स्वयमेव सेवाकरणेऽपि प्रकारविशेषसन्देहे तादृशाः यदि मिलन्ति तदा**

**प्रकारांशे प्रष्टव्याः इत्यपि सूचितम्** (त.दी.नि.आ.१।२२८).

(ख) ऐसा गुरु तो बड़ी कठिनाईसे ही मिल सकता है अत: कभी न मिलनेपर क्या करना चाहिये यह अब दिखलाया जा रहा है-ऐसे गुरुके न मिलनेपर भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बना कर उसकी परिचर्या-भजन तो सदा करना ही चाहिये. क्योंकि मूर्तिमें भगवान्का रूप एवं सत्त्व दोनों ही विद्यमान होते है. यह किसी ऐसे देशमें कि जहां सज्जनोंसे दुर्व्यवहार करनेवाले लोग न रहते हों, श्रीहरिकी मूर्तिको (अपना आराध्य) बना कर भजन करने लग जाना चाहिये. भजनका यही प्रकार ऐसी अवस्थामें इस मार्गमें उत्तम है. जो-जैसा कुछ भगवन्मूर्तिके लिये किया जाता है, उसे साक्षात् भगवदाराधन ही समझ लेना चाहिये (त.दी.नि.प्र.२।२२८).

यहां एक ऐसी शंका उठती है कि जिसके कारण इस बातके मूलपर ही कुठाराघात हो जाता हे-जैसा गुरु श्रीमहाप्रभुके अनुसार इस मार्गमें अपेक्षित है, वैसे लक्षणवाला व्यक्ति आगे चल कर कलियुगके बलवान् होनेके कारण यदि उपलब्ध न होता हो तो क्या करना चाहिये? इस समस्याके समाधानरूपेण श्रीमहाप्रभु एतन्मार्गीय गुरुत्व स्वयंमें ही प्रस्थापित करते हुवे कहतें हैं कि निर्दिष्ट लक्षणयुक्त गुरुके न मिलनेपर जो स्वयमेव भगवत्सेवामें प्रवृत हो जाता है उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें ''यस्त्विच्छया कृत: पुम्भि: आभासो ह्याश्रमात् पृथक्'' इस वचनमें निन्दित धर्माभासता या पाषण्ड का आरोप नहीं लग सकता. और इसी तरह तृतीयस्कन्धमें निन्दित मूढ़ताका आरोप भी सेवाकर्तापर नहीं लग सकता. स्वयं ही सेवामें प्रवृत्त हो जानेपर भी, भगवत्सेवासम्बन्धी किसी प्रकारविशेषके बारेमें जिज्ञासा होनेपर, किसी वैसे जानकार भगवदीयको मिलकर कुछ पूछ-जान लेने में कोई आपत्ति नहीं.

यह भी सूचित होता है (त.दी.नि.आ.२।२२८).

(ग) **गुरुदत्तां स्वयं लब्धां भक्तैरपि सुपूजिताम् ।**
**व्यंगांगीमपि सेवेत यदि भावो न बाधते ।।** (साध.दीपि.९०)

(ग) भगवत्स्वरूप चाहे गुरुकेद्वारा अपने मांथे पधराया गया हो, या स्वयं कहींसे प्राप्त हुवा हो, या अन्य किसी भक्तके द्वारा सुपूजित हो; अथवा खंडित भी चाहे क्यों न हो, परन्तु है वह है तो 'अपने मांथे बिराजता सेवयस्वरूप' ऐसा भाव उस स्वरूपके प्रति अखंडित रहता हो (अर्थात् वहां 'वोल्टेज' कम न लगते हों) तो ऐसे स्वरूपकी ही सेवा अनन्यभावसे करनी चाहिये (साध.दीपि.९०).

(घ) **सेवाविधिः समग्रोपि क्रमेणैव विलिख्यते ।**
**प्रकारोत्तमतः पूर्वं मूर्तो सेवा विधीयते ।।**
**मूर्तौ भगवतो ज्ञानं साकारावेशतो मतम् ।**
**भक्तिमार्गप्रकारेण ज्ञानतस्तु तदात्मता ।।**
**पूजामार्गे भवेन्मन्त्रविधानात् पूज्यसेवनम् ।**
**विशेषो भक्तिमार्गेऽयं पुरुषोत्तमरूपिणः ।।**
**मणिस्पर्शेन ताम्रादि सौवर्णमिव तत्त्वतः ।**
**अतस्तत्र कृतं सर्वं साक्षात्कृष्णे कृतं भवेत् ।।**
(श्रीहरिरायकृत : स्वमा.शर.सम.से.नि.३९-४१)

(घ) अब समग्र सेवाविधि क्रमशः लिखी जाती है. उत्तम प्रकार होनेके कारण सर्वप्रथम मूर्तिकी सेवा कही जाती है. भक्तिमार्गके प्रकारके अनुसार मूर्तिमें प्रभुका ज्ञान प्रभुके साकार होनेके कारण एवं मूर्तिमें आविष्ट होनेके कारण मान्य किया गया है. ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाये तो सब कुछ भगवदात्मक होनेसे मूर्ति भी साक्षाद् भगवद्रूप ही होती है. पूजामार्गके

अनुसार प्राणप्रतिष्ठा मन्त्रादिकी विधिके कारण मूर्तिमें पूजनीय प्रभुकी सेवा प्राप्त होती है. भक्तिमार्गमें, किन्तु, अन्य मार्गोकी अपेक्षा विशेषता यह है कि मूर्ति स्वयं पुरुषोत्तमरूप मानी गयी है (विभूति, प्रतिनिधि या केवल अक्षरात्मक नहीं). जैसे पारसमणिके स्पर्शसे तांबा आदि धातु तत्वत: सुवर्ण बन जाती हैं, वैसे ही मूर्तिके साथ किया गया भक्त्युपचार तत्त्वत: साक्षात् श्रीकृष्णके प्रति किया गया भक्त्युपचार हो जाता है (श्रीहरिरायकृत : स्वमा.शर.सम.से.नि.३९-४१).

(ङ) **स्वमार्गसेव्यरूपस्य चिन्तने रीतिरुच्यते ।**
**तदेकहृदयस्थायी तद्भाव: कृष्णएव हि ।।**
**लीलासहस्रवलित: सामग्रीसहितस्तथा ।**
**भावनीय: सदानन्द: सदानन्दादिलालित: ।।**
**इदमेवोक्तमाचार्यै: सिद्धानतस्य निरूपणे ।**
**''आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेवे''ति यद्वच: ।।**
**तदाशयस्तु विवृत: कृपयैव प्रभोर्मया ।**
**अवगत्य जना: सर्वे चिन्तयन्तु हरिं सदा ।।**
(श्रीहरिरायकृत श्रीमत्प्रभोश्चिन्तनप्रकार : १-१३).

(ङ) स्वमार्गीय सेव्यस्वरूपके चिन्तका प्रकार अब कहा जाता है... पुष्टिभक्तके हृदयमें स्थित जो भक्तिभाव है वह निश्चित श्रीकृष्ण ही हैं, जो श्रीकृष्ण अनेक लीलायुक्त हैं और उन लीलाओंकी सामग्रीके सहित बिराजमान रहते हैं. ऐसे सदानन्दरूप और सदा श्रीनन्दादि व्रजभक्तोंद्वारा सेव्यमान श्रीकृष्णका ही भावन करना चाहिये. सिद्धान्तमुक्तावलीमें ''आत्मानन्दसमुद्रमें स्थित श्रीकृष्णका ही चिन्तन करना चाहिये'' इस वचनद्वारा श्रीमहाप्रभुने यही बताया है. उसके आशयका विवरण प्रभुचरण श्रीगुसांईकी कृपासे मैंने किया ताकि सभी लोग उसे भलीभांति समझ कर सदा श्रीहरिका

चिन्तन कर पायें (श्रीहरिरायकृत श्रीमत्प्रभोश्चिन्तनप्रकार : १-१३)

(च) **भक्तिमार्गस्थितैः श्रीमदाचार्यपदसंश्रितैः ।**
**सेव्यमानं सदा भावैर्निरोधं साधयेद् ध्रुवम् ।।**
(श्रीहरिरायकृत स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकार : १८)

(च) श्रीमदाचार्यचरणोंके आश्रय पानेके सौभाग्यशाली ऐसे भक्तिमार्गीयोंद्वारा पुष्टिभावोंसे (प्रवाही भावोंसे नहीं) सदा सेव्यमान प्रभु निश्चित ही निरोध-प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति-को सिद्ध करेंगे ही (श्रीहरिरायकृत स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकार : १८).

**(संशय)**

संशय इन वचनोंके आधारपर यहां यह उठता है कि पुष्टिमार्गमें भगवत्स्वरूप भावात्मक होनेसे रसात्मक होता है और अतएव वह भावात्मिका सामग्री और भावात्मिका सेवा का ही अंगीकार करता है, यह बात यदि सत्य हो तो (क) वचनके आधारपर न केवल स्वरूप अपितु सेवा-सामग्री सभी कुछ संगोपनीय होनी चाहिंये. यों इस सुबोधिनीके वचनकी तात्पर्योट्टंकना 'सेवाप्रदर्शन' शीर्षकान्तर्गत पूर्वोदाहृत भगवद्भावाविष्करण-निषेधपरक **''लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत''** (अणुभा.३।४।४९) भाष्यवचनके साथ समन्वयसाधिका बात लगती है. इस अभिप्रायकी श्रीगोपीनाथप्रभुचरणकी सेवा या सेव्य के प्रदर्शनकी अनुज्ञा **''स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्''** (सा.दी.१०८) के साथ तुलना करनेपर ऐसे 'स्वीय भक्तो'कों पूर्वोक्त सामान्यनिषेधका अपवादरूप विशेषविधान स्वीकारना पड़ता है. उसके बाद कोई स्वीय भी हो और देवतान्तरका भक्त भी हो तो उसे दर्शन कराने कि नहीं? इसका स्पष्टीकरण पूर्वोदाहृत श्रीहरिरायचरणके **''११.अपराधः=अवैष्णवस्य सेव्यप्रदर्शनम्. फलं=वार्षिकसेवानिष्फलत्वं, प्रायश्चित्तं=पञ्चामृतस्नानम्. ३६तमो अपराधो भगवन्नाम्ना याचनम्. फलं=उपचारनैष्फल्यं. प्रायश्चित्तं=पञ्चगुणितनैवेद्य-दानम्''** (षटष.अप.फ.प्राय.) वचनमें उपलब्ध होता है. अतः यहां भी पुनः

सामान्यविशेषभाव संगति ही स्फुट होती है. पुनः जैसा कि विमर्शकारने भावप्रकाशका एक वचन उद्धृत किया ही है कि **''अपने ठाकुरजीके दर्शन अन्यमार्गीकों न करावने यहू जतायो''** (दो सौ बावन वार्ता : ३८।१) तो यहभी सामान्यविशेषभावानुपाती बन कर या तो वैष्णवोंमें भी कदाचित् स्वमार्गीय वैष्णवके ही दर्शनाधिकारकी नियतिका अथवा अधिकाधिक अस्वमार्गीय वैष्णव भक्तोंके भी दर्शनाधिकारके नियमका विधायक बन कर अपने सेव्य तथा उनकी सेवा के एतदितरके दर्शनाधिकारके निषेधमें पर्यवसित होगा. (ख) वचनमें जैसा निरूपण मिलता है तदनुसार सेवांगीकरणार्थ **''एनम् उद्धरिष्यामि''** पदप्रयोगवशात् भगवान्का यह विशेष प्राकट्य ही होता है, सर्वजनसाधारण प्राकट्य नहीं. अतएव ६६अपराधान्तर्गत ३६वां अपराध भगवत्सेवाके नाम ले कर परायोंका द्रव्य/सामग्री ले कर सेवामें विनियोगका पुष्टिभावके साथ ३६ आंकड़ेका सम्बन्ध है यह किशोरी बाईकी वार्तामें-- **''तब श्रीठाकुरजी बोले जो तेनें मेरेलिये सामग्री क्यों लीनी? सो हम कैसे आरोगे?**(वार्ता) **यामें यह जताये जो वैष्णवकों औरकी सत्ता–सामग्री अपने श्रीठाकुरजीको आरोगावनी नाहीं. और कछू वैष्णवपेतें लैके श्रीठाकुरजीको विनियोग न करावनो. सो श्रीठाकुरजी अंगीकार न करें**(भा.प्र.)**''**(२५२ वैष्ण.वा.२०९।२) आते इस नियमके साथ एकवाक्यता करनेपर यह बात और भी पुष्ट हो जाती है.

स्वयं विमर्शकारने भी 'पुष्टिने शीतल छांयड़े'में पहले यह सिद्धान्त स्वीकारा ही था--

> **''पुष्टिमार्गमें जो स्वरूप अपने मांथे पधराया जाता है वह प्रभु (स्वरूप) और उनकी सेवा प्रत्येकको व्यक्तिगत रूपमें उसकी भावनाके अनुसार पधराया जाता है. अपने श्रीठाकुरजीकी सेवा पुष्टिमार्गीय जीवका एकमात्र निजी कर्तव्य बन जानेवाला निजी धर्माचरण है. पुष्टिमार्गमें सेवा सामूहिक जीवनका विषय नहीं परन्तु व्यक्तिगत जीवनका विषय है. जैसे लोकमें पत्नी अथवा माता का पति अथवा पुत्र की सेवा या वात्सल्य प्रदान करना उनका व्यक्तिगत धर्म कर्तव्य और अधिकार होता है. इसी तरह**

**जिस सेवकका जो सेव्य स्वरूप हो उनकी सेवा करनेका उसका व्यक्तिगत धर्म और अधिकार होता है. सेवा यह कोई सार्वजनिक प्रवृत्ति नहीं परन्तु सेवा तो स्वयंके आन्तरिक जीवनके साथ सम्बन्ध रखनेवाली अपने जीवनकी अपने घरमें की जाती स्वधर्मरूप प्रवृत्ति है.''** (पु.शी.छां.पृ.सं.१५७)

अब, परन्तु, वही व्यक्ति 'विमर्श'में ''**सेवार्थ अनुग्रहपूर्वक द्रव्यग्रहीता एवं द्रव्यसे सम्पन्न प्रसादके ग्रहीतामें देवलकत्वादि नहीं**'' (विम.पृ.सं.३३) ऐसा विपरीत विधान करे तो इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भगवत्सेवार्थ परद्रव्य लिया जा सकता है या नहीं इस बारेमें पुष्टिमार्गीमें वैष्णव अनुयायी तथा वैष्णव गुरु यों दोनोंकेलिये अलग-अलग तरहके नियम हैं!

क्या सचमुचमें ऐसा हो सकता है, यह भी संशय होता है. कहीं ऐसा तो नहीं जब अपनेपर कोई कानूनी आपत्ति आये तब पू.पा.गोस्वामिओंकी भगवत्सेवा निजी कर्तव्य और निजी गृह की प्रवृत्ति बन जाती है और जब वह बाधा निवृत्त हो जाये तो पुन: भगवत्सेवा गुरु-शिष्योंके बीच, आर्थिक आदानप्रदानकी समुदायिक प्रवृत्ति! एतदर्थ हम देख चुकें है कि पू.पा.श्रीव्रजरत्नलाल महाराजश्रीने नड़ियादकी सैद्धान्तिक गवाहीमें वैष्णवोंके द्वारा पू.पा.महाराजोंके हवेलिओंमें न तो तनुजा और न वित्तजा सेवा की कोई पद्धति होनी स्वीकारी थी. साथ ही साथ इस स्पष्टीकरणके साथ ऐसा व्यवहार कहीं चलता हो तो उसे पुष्टिमार्गीय नहीं माना जा सकता. वह गवाहीके तोरपर परन्तु सूरत-बड़ौदा-कलोल की स्वयंकी हवेलियोंको सन् ८0में निजी घोषित करवानेको तत्कालीन असीस्टेंट् चेरीटी कमिश्नर् श्रीमान् एन्.के.झवेरीके समक्ष प्रस्तुत सिद्धान्तके नमूने कुछ देखने लायक हैं :

"All celebration, seva, puja of a deity is made by maharajshri. Vaishanav or public has nothing to do for that" (p.10). "As against that it is the case of the opponent that whatever offerings or gifts are made they are made to maharajshri...All celebration seva, puja of a deity or idol is

made by maharajshri or Acharya. Vaishana or public has nothing to to do for that" (p.12).

और इस तरह निजी मान्य करा कर कानूनी बाधा दूर हो जानेपर अब केवल एक ही युग अर्थात् बारह वर्षके बाद पुन: सकल शिष्टाचारकी दुहाई दे कर वैष्णवोंसे द्रव्य लेनेका सिद्धान्त प्रकट हो गया है 'विमर्श' में देखिये :

> **''किशोरी बाईको जिस वैष्णवने ठाकुरजीकेलिए सामग्री दी है वह किशोरी बाईके परिवारका है या शिष्य है इसमें कोई प्रमाण नहीं है. सकल शिष्टाचारके अनुसार परिवार आदिके द्वारा प्रदत्त सामग्रीका भगवत्सेवामें विनियोग करना मान्य होनेसे किशोरी बाईकी वार्ताके भावप्रकाशमें वर्णित नियमको परिवारजन तथा गुरुशिष्य स्थलमें न मानना ही उचित है.''**
>
> **''सेव्यसन्तोषजनकक्रिया सेवा कहलाती है. ऐसी स्थितिमें शिष्योंद्वारा गुरुघरके ठाकुरजीकेलिये सोंपे गये द्रव्यपर शिष्योंके स्वत्वको रखना या न रखना गुरुके सन्तोषपर निर्भर रहता है.''** (विम.पृ.सं.११-१३)

ऐसा सिद्धान्त प्रकट हो गया ! अत: ऐसी परस्पर विरोधाभासी स्वीकृतिओंको देखनेपर वास्तविक सिद्धान्तके बारेमें संशय उठ जाना स्वाभाविक ही है. अत: पूर्वस्वीकृतिके आधारपर सेवा/तत्सामग्री भी सार्वजनिक प्रदर्शनार्ह नहीं हो सकती. नूतन विमर्शके आधारपर हो सकती हैं.

वैसे गुरुद्वारा पुष्ट किये गये हों या नहीं, भगवत्स्वरूपके भगवत्वमें, महाप्रभुके अनुसार, कोई न्यूनाधिक भाव तो होता नहीं है परन्तु वह भगवत्त्व पुन: सेवार्थ समुद्यत भक्तविशेषके विशेषभावोंका ही अनुकारी होता है या सर्वसाधारण जनताके सर्वसाधारण भावोंका भी अनुकारी हो सकता है?

श्रीपुरुषोत्तमजीद्वारा किये गये (क)वचनके व्याख्यानके अनुसार इस प्रकारकी सेवा करनेमें गुरुद्वारा सेवाकर्ताके आत्मनिवेदनदीक्षामें दीक्षित होने या सेव्यस्वरूपके पुष्ट किये जानेको अनिवार्य नहीं माना गया है. और ऐसा

करनेमें, श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार, न तो धर्माभास न पाषण्ड और न मूढ़ता आदि दोषकी ही कोई संभावना सोची जा सकती है. अत: पू.पा.गोस्वामिओंके ही यहां स्वमार्गीय वैष्णव भक्तोंके लिये भी बाह्य तनुजा या वित्तजा सेवा करनेकी रीति पुष्टिमार्गमें कोई आवश्यक कर्तव्य सिद्ध नहीं होती.

ऐसी स्थितिमें इसे नियत कर्तव्यता दिखलाना अनुयायिजनोंको कुपथपर चलनेको बरगलाना है कि नहीं? भगवत्स्वरूप और भगवत्सेवा का प्रचलित व्यावसायिक प्रदर्शन पुष्टिमार्गमें क्या न केवल अनावश्यक है अपितु मूल भगवत्प्राकट्यके सिद्धान्तके भी विपरीत होनेसे वर्जनीय ही होता है या नहीं? (गा कोष्ठकगत श्रीगोपीनाथप्रभुचरणके वचन भी इसके उपोद्बलकतया ही सामने आते हैं. अन्यथा ''**गुरुदत्तां/स्वयं लब्धां**'' का विकल्प या तो अर्थहीन अनुज्ञा सिद्ध होगी या फिर इसका अन्य कुछ अभिप्राय खोजना पड़ेगा. (घ), (ङ) और (च) कोष्ठकगत श्रीहरिरायजीके तीनों वचनोंके आधारपर भी तथाकथित गुरुस्थानीय गोस्वामिवर्गके परार्थ सेव्य भगवत्स्वरूप और अनुयायिजनोंके स्वार्थ सेव्य भगवत्स्वरूपों के बीच किसी भी तरहका तारतम्य तो किसी भी तरह इंगित होता नहीं है.

अत: न तो महाप्रभु, न प्रभुचरण और न श्रीहरिरायजी के ही इन उद्धृत वचनोंको देखनेपर तथाकथित 'शिष्टाचार' या प्रचलित अन्धरूढि की कोई सैद्धान्तिक संगति प्रतीत होती है. सभी भगवत्स्वरूप समान ही हों तो अपने आराध्य भगवत्स्वरूपको छोड़ कर अन्यत्र दर्शनार्थ भजनार्थ प्रसादग्रहणार्थ अथवा निजद्रवयविनियोगार्थ भटकना क्यों आवश्यक माना जाता है? ऐसी स्थितिमें गोस्वामिओंद्वारा सेवित भगवत्स्वरूपोंके दर्शनादि ही जब पुष्टिमार्गमें नियत कर्तव्यतया प्राप्त न होते हों तो ''न स्वैरी स्वैरिणी कुत?'' न्यायेन गोस्वामिसेवित स्वरूपोंके दर्शन मनोरथ भेंट या सामग्री पुष्टिमार्गमें न केवल जलताडनवत् निष्प्रयोजन कृति अपितु मार्गविद्रोह भी क्यों न मान लेने चाहिंये?

फिरभी विगत डेढ़सो-दो-सो वर्षोंमें पनपी ऐसी परम्पराके अनुसार

ऐसा करना अनिवार्यतया माना जाता होनेसे संशय होना स्वाभाविक लगता है.

## (पूर्वपक्ष)

पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (दि.१०-१३ जनवरी ९२, पार्ले मुंबईमें) विमर्शकाराभिनन्दित चि.हरिरायजीद्वारा गृहीत पक्ष जैसा कि पहले कह आये है इस तरह था :

> ''पुष्टिमार्गीय वैष्णवके लिये जब सेव्य स्वरूप पधराया जाता है तो वह स्वार्थप्रतिष्ठा होती है; परन्तु, पुष्टिमार्गीय... गुरु जो सेवा करता है, वो सेव्यस्वरूप स्वार्थ-परार्थ प्रतिष्ठा होती है. अर्थात् परार्थ भी होती है.... (वैसे स्वरूपके यहां परार्थ भी होने पर भी स्वामित्व तो भगवत्स्वरूपपर गोस्वामी गुरुओंका ही होता है, यह बात कभी भूलनी नहीं चाहिय)''. (विस्तृ.विव. पृ.१५९)

## (उत्तरपक्ष)

क्योंकि गोस्वामी गुरुओंके मांथे बिराजते स्वरूपोमें कुछ अपवादोंको छोड़कर अवशिष्ट भगवत्स्वरूप प्राय: वैष्णवोके ही मांथे पधराये जानेके हेतु महाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा पुष्ट किये गये थे; अत:, उस भावप्रतिष्ठाको यदि हम अक्षुण्ण मानते हो तो आज भी उन सारेके सारे स्वरूपोंकी स्वार्थ ही भावप्रतिष्ठा स्वीकारनी पड़ेगी. यदि महाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा स्वार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूप गोस्वामिगृहोंमें पुन: पधारनेके कारण स्वार्थ+परार्थ=उभयार्थ बन जाते हों तो वह महाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा सम्पन्न उस भावप्रतिष्ठाको निवृत्त करके अथवा निवृत्त किया बिना ही? यदि निवृत्त करके तो वे भगवत्स्वरूप महाप्रभु-प्रभुचरणके निधिस्वरूप नहीं रह जायेंगे! यदि निवृत्त किये बिना तो स्वीकारना पड़ेगा कि महाप्रभु-प्रभुचरणकी तुलनामें उनके वंशजोंका सामर्थ्य अधिक है. क्योंकि महाप्रभु-प्रभुचरणद्वारा स्थापित धर्मको भी हमारे पू.पा.गोस्वामिबन्धु निवृत्त कर सकते हैं(!). ऐसी स्थितिमें, परन्तु, क्योंकि प्रभुचरण अपने छट्ठे लालजीको श्रीबालकृष्णलाल पधराना चाहते थे एतावता उनमें आज भी षष्ठत्व धर्म अक्षुण्ण माननेकी बात उपपन्न नहीं हो पायेगी!

क्योंकि तीसरे घरमें बिराजनेके कारण सुरतिस्थ श्रीबालकृष्णलालजीमें तृतीयनिधित्व अथवा उपतृतीयनिधित्व ही प्रकट हो पायेगा. ऐसी स्थितिमें महाप्रभुके कालमें जो श्रीनाथजीके सेवाप्रकारमें मंदिर तथा दर्शन का जो प्रावधान था वह भी अक्षुण्ण नही रह जायेगा. क्योंकि सतघरा (मथुरा) में प्रभुचरणके गृहमें पाट बिराजते ही वह प्रावधान निरस्त हो जायेगा! इसके अलावा श्रीनाथजीकी सेवामें बिना ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लिये हुवे बंगालिओंको साक्षात्स्वरूपसेवाका अधिकार था सो शिष्टाचारपरिपाटीके अनुरोधवश आज भी भगवत्सेवाधिकारार्थ पू.पा.गुसांईओंसे ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा अनिवार्य नहीं रह जायेगी. ऐसी स्थितिमें पू.पा.गुसांईओं और पुष्टिमार्गीय वैष्णवोंके बीच गुरु-शिष्यभाव भी अनिवार्य न रह जानेसे उस सम्बन्धसे वैष्णवद्रव्यांगीकार पुनः किशोरी बाईकी वार्ताविमर्शानुसार अवैध हो जायेगा!

वैसे जहां तक चि. महाकविद्वारा अंगीकृत पक्षोंका प्रश्न है तो उनकी बातें तो प्रायः ग्रन्थावबोधशून्य केवल काव्योत्प्रेक्षासदृश ही होती हैं. इस विषयमें किसी तरहके प्रमाणकी अपेक्षा हो तो चि. महाकविद्वारा विरचित श्रीमद्‌भागवतभाषालक्षणम् नामक ग्रन्थ, जिसमें ग्रन्थकारके निरंकुशकल्पनाकौशलके प्रदर्शनवश समाधिभाषाका लक्षण घोड़े-गधेमें भी अतिव्याप्त हो रहा है, उसमें स्वयं चि.महाकविके स्वयंके शब्दोंमें पुष्टिभक्त्याधारभूत समर्पणके बारेमें उनकी समझ देखने लायक है--

> **''यद्वा न्यायो अयं भङ्ग्या व्युत्पाद्यते उत्सर्गो नाम दानम्, अर्थात् त्यागः, स्वेच्छया कृतइति. तथाहि जीवात्मा यदा स्वाभिन्नत्वेन देहेन्द्रियदाराऽऽगारपुत्राद्यवच्छेदकम् अहंता-ममता-रूपाविद्यावच्छिन्नं जीवत्वम् आत्मना सह भगवत्कृपया सर्वात्मभावेन भगवन्तं भजन् तच्चरणारविन्दयोः स्वसर्वस्वम् अन्तःकरणेन समर्पयति निर्गुणपुष्टिमार्गानुरोधात् तदा सएव भगवदनुग्रहैकलभ्य उत्सर्गः इति ज्ञेयम्.''**
> (श्रीम.भाग.भा.ल.पृ.सं.६४)

''ईश्वर अल्ला तेरे नाम सबको सन्मति दे भगवान्!'' अब क्या

कहना? ‘उत्सर्ग’ यानि दान और ‘दान’ यानि समर्पण! वैसे विवक्षित सन्दर्भमें स्वयं ‘उत्सर्ग’पद श्रीमहाप्रभुद्वारा तो ‘‘बलवद्बाधकापोद्यत्व’’ रूप सामान्यशास्त्रके अभिप्रायवश ही प्रयुक्त है, जहां भङ्ग्यन्तर सोचना भी स्वयंमे एक अकाण्डताण्डव ही है. फिरभी महाप्रभुको अभिलषित अभिप्रायके अनुसार लेनेमें महाकविको अपने बुद्धिकौशलके प्रदर्शनका अवकाश न मिलता हो तो इस पदका औत्सर्गिक अर्थ तो पुन: ‘‘स्वानुयोगिकप्राप्तवस्तुप्रतियोगिकसम्बन्धविरहेच्छा’’ रूप त्याग ही होता है. यह त्यागरूप उत्सर्ग, परन्तु, ससम्प्रदानक होनेपर ही दानार्थक माना जा सकता है, अन्यथा नहीं. क्योंकि दान तो ‘‘**स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपर–स्वत्वोत्पादानानुकूल: ‘तुभ्यम् अहं सम्प्रददे न मम’ इत्यादिशब्दभिव्यङ्ग्यो मनोव्यापार:**’’रूप होता है, जो प्रत्येक उत्सर्गके उदाहरणमें अनिवार्य नहीं होता. जबकि ‘समर्पण’/‘निवेदन’पदोंका अर्थ तो ‘‘**तदीयत्वानुसन्धानपूर्वक: स्वत्वाभिमानत्यागानुकूलव्यापार: ‘तुभ्यम् अहं समर्पयामि/निवेदयामि इत्यादिशब्दाभिव्यङ्ग्यो मनोव्यापार:**’’ रूप होता है, यह श्रीपुरुषोत्तमजीने नवरत्नविवृतिप्रकाशमें सुस्पष्ट पृथक्करण दिखलाया ही है; फिरभी, महाकविकी मनोवृत्ति ‘‘**शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वै नरा: मनांसि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति... (महाकवय:!)**’’ उक्तिकी बरबस याद दिलाती है!

अब भला पूछा जाये कि ‘‘(उत्सर्ग=दान)=समर्पण’’ ऐसा समीकरण यहां प्रस्तुत करनेपर ‘‘**दाने हि न स्वविनियोगो नतु निवेदने. अन्यथा निवेदितान्नादे: भोजनं न स्यात्**’’ (नव.र.प्रका.१) इस प्रभुचरणके वचनकी क्या गति होगी? तो मान कर चलना पड़ेगा कि फिरसे कोई शाखाचंक्रमण करके ‘‘**तटस्थ मध्यस्थके सामने सारे स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर सकता हूं अन्यथा नहीं!**’’ ऐसा कुशकाशावलम्बन ही एक गति रह जायेगी! ‘‘**स्वभावो दुरतिक्रम:!**’’

‘‘**शास्त्रेषु भ्रष्टा: कवयो भवन्ति**’’ तो सुना था परन्तु ‘‘**तत्र महाभ्रष्टा: कदाचिद् महाकवयोऽपि भवन्ति**’’ तो हमारे महाकविद्वारा ही चरितार्थ हुवा है!

यह तो निश्चय ही महाकल्पनाकौशलकी महासाहसिकताका महाप्रमाण है! अस्तु.

प्रकृतानुसरणार्थ महाप्रभु या प्रभुचरण जब ठाकुरजी पधारते थे तो किसी व्यक्ति या परिवार के मांथे ही पधराते थे. इसमें, परन्तु, यह अवधेय है कि श्रीनाथजी और अन्य कुछ ऐसे भगवत्स्वरूप आपने किसी एकके मांथे पधारनेके बजाय देवालयविधिसे पधराये थे. अत: ऐसे भगवत्स्वरूपको सर्वजनोद्धारक माननेकी परिपाटी रही है. इसे ही तन्त्रशास्त्र 'परार्थप्रतिष्ठा' कहते हैं. ऐसे स्वरूपकी सेवाके गोपनकी आवश्यकता भी उपलब्ध नहीं होती. इस परार्थ-स्वार्थके अन्तरका निरूपण सुविशदतया द्वितीय प्रकरणमें हो ही चुका है. अतएव महाप्रभुका ''...**जो श्रीठाकुरजीकी इच्छा यह है जो जगत्‌में पुजाय बहोत जीवको उद्धार करेंगे. सो देवालयकी रीति यहां राखनी उचित है**'' (८४ वैष्ण.वा.२४।१) विधान भी तो वार्तासाहित्यमें उपलब्ध होता है.

यहां एक शंका उठ सकती है परार्थ प्रतिष्ठापित देवालयमें भी पुरषोत्तमत्व तथा रसात्मकत्व तो स्वीकारना ही पड़ता हे. अत: वहां भी भगवत्स्वरूपकी सेवाके प्रदर्शन करनेसे उसमें रसाभासता ''**गुप्तो ही रसो रसत्वम् आपद्यते--अगुप्तो रसो रसाभास: स्यात्**'' (सुबो. १०।१८।५-१०।५९।४४) वचनोंके बलपर या तो स्वीकारनी पड़ेगी अथवा संगोपनकी अपरिहार्यता स्वीकारनी पड़ेगी. यों दोमेंसे कुछ एक तो स्वीकारना ही पड़ेगा.

यह विभीषिका, परन्तु, षोडशग्रन्थ तथा सुबोधिनी के अवलोकनसे वितृष्ण लोगोंके लिये कारागार बन सकती है अन्यथा नहीं. क्योंकि सर्वप्रथम तो ''**सेवाकृते: गुरो: आज्ञा बाधनं वा हरीच्छया**'' (नव.७) वचनके अनुसार वह गुर्वाज्ञाके अनुसरणका कल्प नहीं था परन्तु गुर्वाज्ञाके बाधनका कल्प था. अतएव सुबोधिनीके अनुसार कहना हो तो ''**अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यवत्त्वेन रसाभासप्रकारेणापि रसम् उत्पादयितुं शक्त:**'' (सुबो.१०।२९।१४) रीतिसे भगवान्‌के अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यका यह कल्प या निदर्शन भी हो सकता है. एतावता अन्यथाकर्तुम् असमर्थ जीवात्माओंको भक्ति जीवात्माओंके सहज

धर्मकी तरह रसशास्त्रीय प्रक्रियाद्वारा निष्पन्न होनेवाला एक स्वतन्त्र रस भी है अत: सो सर्वत्र रसाभास --आजीविकोपार्जनार्थ भगवत्सेवाके प्रदर्शनद्वारा भक्त्याभास अर्थात् भक्तिके दम्भ या पाषण्ड--=धर्माभासको सदैन्य प्रकट करनेकी या गुर्वाज्ञाके उल्लंघनकी अनुमति दी नहीं जा सकती! क्योंकि गुर्वाज्ञाका अनुसरण औत्सर्गिक कल्प है जबकि गुर्वाज्ञाके बाधनका कल्प आपवादिक कल्प.

यहीं चि.महाकविके कल्पनाकौशलवश प्रकटी भीतिसे एक ऐसी आशंका हृदयमें जाग सकती है कि कहीं यहां भी उसी ''**भङ्ग्यन्तरवशाद् उत्सर्गो=दानं, दानं=समर्पणं**'' कल्पनाकौशलका प्रदर्शन कर गुर्वाज्ञाके औत्सर्गिक कल्पको भगवदाज्ञालब्ध कर्तव्यार्थ उसे देय अर्थात् समर्पणीय कहीं न मान लिया जाय!

वैसे यह एक वास्तविकता है कि आज उस आज्ञासिद्ध अपवादको हम आचारकी दुहाई देकर उत्सर्ग बना-मान कर चल रहे हैं. अतएव पूछा जा रहा है कि सूरदासजीने जैसे अपुष्टिमार्गीय अभक्त बनियाको आग्रहपूर्वक श्रीनाथजीके दर्शन करवाये थे; वैसे ही स्वगृहमें बिराजमान भगवत्स्वरूपका भी प्रदर्शन अस्वभक्तोंको क्यों नहीं कराया जा सकता? अपुष्टिमार्गीय दर्शनार्थी, परन्तु, जब कभी यह कहेंगे कि श्रीनाथजीकी सेवामें गैरब्रह्मसम्बन्धी बंगाली भी जब नहा सकते थे तो हम क्यों नहीं नहा सकते? तब क्या जवाब देना? श्रीनाथजीकी निजेच्छावश उस समय अपवादके रूपमें जो कुछ करना पड़ा उसे औत्सर्गिक सिद्धान्तके रूपमें मान्य करनेपर आज हरेकृष्णवाले अमरीकीओंको क्यों सेवामें नहाने नहीं दिया जाता? यदि कहा जाये कि हरेकृष्णवाले अमरीकिओंको ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा नहीं होती तथा ''**आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनार्हा: न इतरे. अतो निवेदने भजनाधिकार:... द्विजस्य वैदिककर्मणि गायत्र्युपदेशजसंस्कारवत्**'' (नव.विवृ.१) वचनके आधारपर ब्रह्मसम्बन्धदीक्षाके बिना सेवाधिकार सिद्ध नहीं होता होनेसे सेवा नहीं दी जाती. तो मीराबाई जैसे अस्वमार्गीय भक्तको दर्शन करवानेके उदाहरणके आधारपर अस्वमार्गीयके सामने कृष्णसेवाप्रदर्शनका औचित्य जैसे सिद्ध किया जा रहा है, वैसे ही बंगालिओंको साक्षात् स्वरूपसेवाकी

अनुमतिके उदाहरणके आधारपर अब्रह्मसम्बन्धिओंको प्रदर्श्यमान कृष्णसेवाके व्यवसायमें भेंट-न्योछावर ले कर साक्षात् स्वरूपसेवाकी अनुमति क्यों नहीं दी जाती? बंगालिओंको बिना ब्रह्मसम्बन्धके श्रीनाथजीकी साक्षात् सेवाका शिष्टाचार महाप्रभुके समयसे प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजी तथा श्रीविट्ठलनाथजी के काल तक तो था ही. उसके आधारपर ब्रह्मसम्बन्धिबुद्ध्या साक्षात् सेवाकी अनुमति प्रदान करनेमें कोई भी दोष हो नहीं सकता. अत: ब्रह्मसम्बन्धिओंको भी भक्तबुद्ध्या साक्षात् सेवानुमति प्रदान करनेमें कोई दोष, कमसे कम विमर्शकारकी विचारनीतिके अनुसार होना तो नहीं चाहिये (द्र.: विम.पृ.२०५).

बतर्ज पु.सि.सं.शि.चि.महाकवि--

**''श्रीनाथजीकी सेवा जो प्रकट करी उसमें मन्दिरसेवा और अब्रह्मसम्बन्धी बंगालिओंको साक्षात् स्वरूपसेवाधिकारका प्रावधान था. उस समय अब्रह्मसम्बन्धिओंके सेवाधिकारको सिद्धान्तत: स्वीकार लिया गया था!''**

परन्तु ऐसी छलनाभरी बातोंमें मूल हेतु यही दिखलायी देता है कि वल्लभवंशजत्व पुरुषोत्तमसेवारूपव्यवसायप्रदर्शकत्व देवलकत्व पुरुषोत्तमत्व अपठितत्व अपाठकत्व दोराधागा-ताबीज-मन्त्र-झाडफूंककारित्व प्रसादविक्रेतृत्व व्यावसायिकव्रजयात्रानायकत्व वैदिककर्मयजमानत्व आदि जिन-जिन उपाधिओंसे द्रव्य मिलता हो उसे कथंचित् बटोरते ही रहना हम गोस्वामिओंको अपने जीवनका एकमात्र लक्ष्य प्रतीत होता है ! अतएव गो. बालकको भेंट करके व्यावसायिक सार्वजनिक मन्दिर भी चलाया जा सकता है परन्तु गो.बालकसे ब्रह्मसम्बन्ध लिये बिना, गो.बालकसेपुष्ट कराये बिना कोई भगवत्सेवा भी नहीं कर सकता! इस तरहकी स्वार्थपूर्ण नीतिमें कितनी सैद्धान्तिक भक्तिभावना और कितनी व्यापारिक एकाधिकारितासे भरी दुर्मनोवृत्तिवाली द्रव्यलालसा काम कर रही है, यह आजकी तारीखमें कोई गुप्त कथा नहीं रह गई है! अतएव शास्त्री तथा वैष्णव भी अब सार्वजनिक हवेली खोलने लगे हैं. उन मन्दिरोंमें गुरुकी आज्ञाके बिना भी मनोरथ करवाने लगे हैं. गुरुद्वार बिना ही मूर्तिको पुष्ट भी करवाने लगे हैं. भागवतकथाव्यास

भी अब ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा देने लगे हैं और वैष्णवगण लेने भी लग गये हैं. यह खुल्लम्-खुल्ली उपेक्षा गोस्वामिवर्गकी जो होने लगी है, क्या यह हमारी सिद्धान्तन्ठिाविहीनताके प्रति सर्वथा और सर्वथा उचित ही प्रतिभाव प्रतीत नहीं होता! सिद्धान्ततः यह अनुचित होना चाहिये था परन्तु **''नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि''** न्यायसे तो उचित ही लगता है.

अतएव **''तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात्''** वचनमें गुरुलक्षणरहित निजवंशजोंद्वारा दी जाती दीक्षाकी या की जाती स्वरूपप्रतिष्ठाकी या सेवाकी आज्ञा आदिकी अपरिहार्यता निरस्त की ही गई है. श्रीपुरुषोत्तमजी भी इस भगवत्सेवामें स्वतःप्रवृत्तिको धर्माभास या मूढता नहीं मानते. विमर्शकार तो अपने-आपको श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुगामीके रूपमें दरसाते हैं. अतः इसे इन्कार भी नहीं पायेंगे, चि. महाकवि तो प्रभुचरणके भी वचनोंके प्रामाण्य मानने भी बंधे हुवे नहीं और न अपने स्वयंके पितृचरणके तो बिचारे श्रीपुरुषोत्तमजीकी तो बिसात ही क्या? यह तो कर्तव्यविचारणाप्रयुक्त निरूपण हुवा.

तत्त्वविचारणाकी दृष्टिसे भी पुरुषोत्तमभजनकी स्वधर्मरूपता व्रजभक्तोंके भावोंके अनुसरणद्वारा ही उपदिष्ट हुयी है. व्रजभक्तोंके रसात्मक भावोंका पात्रस्थानीय अर्थात् आलम्बन विभावात्मक स्वरूप यथायथ अवतारलीलामें कभी शुद्धसत्त्वात्मक वासुदेव व्यूह होता है अथवा कभी लोकवेदप्रसिद्ध पुरुषोत्तम.*

उन व्रजभक्तोंके भावोंकी हृदयमें निरन्तर चलती भावनाके कारण श्रीमदाचार्यचरणके हृदयमें भी तद्भावात्मक भगवान् सर्वदा बिराजमान रहते हैं. इन महाप्रभुहृदयस्थितभावात्मक स्वरूपकी हृदयमें भावना करके जब भगवत्मूर्तिके अंगप्रत्यंगमें भावन्यास किया जाता है तब वह भगवन्मूर्ति उस भावकी पात्रस्थानीय आलंबनविभाव बनती है. उसमें साक्षात् रसात्मक पुरुषोत्तमकी भावना रखते हुवे जब शृंगारादि सेवा और सेवाके अनवसरमें व्रजलीलाके अनुभावन द्वारा सेवा-स्मरण करनेवालाका भाव बंधना शुरु होता है. तब वह भगवत्स्वरूप सेवा-स्मरण करनेवाले भक्तके भी बाह्याभ्यन्तरमें

आलम्बनविभावात्मक तथा स्थायिभावात्मक स्वरूप धारण कर विभिन्न रसानुभावोंको प्रकट करने लग जाता है. अर्थात् सेवा–स्मरणकर्ताको भगवान् उसके भावोंसे भावित होते हुवे निजनिरुद्ध बना लेते हैं. इसीका निरूपण श्रीहरिरायचरणने ''**भक्तिमार्गे स्थितैः श्रीमदाचार्यपदसंश्रितैः सेव्यमानं सदा भावैः निरोधं साधयेद् ध्रुवम्**' (स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकार).

इस ग्रन्थके प्रारम्भकी भी कुछ कारिकायें, अतएव, इस विषयपर प्रकाश डालती हैं :

**प्रार्थयित्वा निजाचार्यान् ध्यात्वा तद्हृदयस्थितम् ।**
**भावात्मकं प्रभो रूपं सर्वलीलायुतं सदा ।।**
**.......................................।**
**रक्षामिषेण विहितं भावात्मस्थापनं प्रभौ ।।**

*द्रष्टव्य : ''**ननु प्रभोः रसात्मनः आलम्बनाभावे कथं प्राकट्यः सम्भवः इति चेद् वासुदेवव्यूहस्य शुद्धसत्त्वात्मकस्य अत्र प्रकटितस्य तत्स्थानियत्वात्**'' (भगवत्प्रादुर्भावसिद्धान्तः)

**स्वाचार्यसंश्रितैः तद्वन् मूर्तावपि हरिस्थितिः ।**
**इदमेवोक्तम् आचार्यैः भक्तिमार्गप्रकारतः ।।**
**'तत्र च स्थित'मित्यादि स भावात्मा हरिः स्मृतः ।**

(स्व.मा.स्वरू.स्थाप.प्रका.५–९)

अतएव जबतक कोई व्रजभक्तोंके तथा महाप्रभुके भावात्मक प्रभुको निजभावनासे भावित नहीं कर पाता तब तक भगवन्मूर्ति न्यूनातिन्यून भगवदाकारविशिष्ट ब्रह्मसदंश केवल होती है अथवा अधिकमें अधिक सच्चिदानन्दात्मक पूर्णपुरुषोत्तम भक्तिभावालम्बनरूप पात्रस्थानीय भगवन्मूर्ति. वह रसात्मक पुष्टिपुरुषोत्तमतया प्रकट तो किसी व्यक्तिविशेषकी व्रजभावो तथा पुष्टिमार्गीय भावोंकी भावनासे भावित होनेपर ही हो पाती है.

यहां ''**मल्लानामशनि**'' (भाग.१०।४३।१८) न्यायानुसार तत्तद्

दर्शनार्थिओंके तत्तद् भावानुरोधवश तत्तद्रसात्मिका भगवन्मूर्तिके दर्शनका कल्प परार्थ देवालस्थ भगवत्स्वरूपके बारेमें सोचा जा सकता है, **''कृत्वा तावन्तम् आत्मानम्''** (भाग.१०।३०।२०) न्यायानुसार स्वगृहाधिष्ठित स्वार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूपके सेवनका कल्प समजना चाहिये. ऐसे स्वगृहाधिष्ठित रसात्मक स्वरूपकी रसात्मकलीलानुभावनात्मक भजन यदि सर्वजनतामें प्रदर्शनार्थ हो तो सर्वत्र परार्थ देवालय ही होनेमें बुराई क्या थी? प्रत्येक वैष्णव मोहल्ला गांव नगरमें एक-एक सार्वजनिक परार्थ पुष्टिमार्गीय देवालयमें **'मल्लानामशनि''**न्यायसे अपने-अपने घरसे आकर गोस्वामी भी सेवा क्यों नहीं कर लेते, जैसे दर्शनार्थी वैष्णव जनतासे वे अपने अर्थसंचयकी दुर्लालसावश अपेक्षा रखते हैं? इसमें आपत्ति हम क्या गोस्वामिओंको क्या हो सकती है? रोजी-रोटीके सवालका तो हल ऐसे परार्थ देवालयोंमें पौराहित्यकी दक्षिणासे भी हो ही सकता था! इसमें देवलकताके कलंकसे भी बचा जा सकता था!

अत: सिद्ध होता है कि स्वार्थप्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूप अस्वीय भक्तोंके समक्ष तो अप्रदर्शनीय ही होता है. अन्यथा रसाभासताका दोष दुरुद्धर ही रहेगा. **''कृत्वा तावन्तमात्मानं''**कल्पमें प्रत्येक कुमारिकाद्वारा व्यक्तिश: अनुष्ठित व्रत एवं प्रार्थना को तावद्भावापत्तिमें निमित्त माना गया है. यदि प्रत्येकको ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा दिलवायी जाती है उसे कुमारिकाओंके व्रतस्थानीय मानें तो तावद्भावापन्न प्रभुके स्वरूप ही सेवनीय होते हैं. तब अन्यके समक्ष प्रदर्शनका प्रश्न कैसे उठ सकता है? **''यूथाधिपतियूथ''**न्यायके अनुसार स्वयूथके अर्थात् स्वीयभक्तोकों ही अपनी सेवाके दर्शनानुष्ठानमें परिचारक सहभागी बनाया जा सकता है.

विमर्शकार कहते है -

> **''स्वमार्गीय वैष्णवको छोड़ कर अन्य किसीको भी अपने श्रीठाकुरजीका दर्शन नहीं कराना चाहिये ऐसा यदि उस 'अपने श्रीठाकुरजीके दरसन अन्यामार्गीकों न करावने' भावप्रकाशवाक्यका तात्पर्यार्थ है तो प्रश्न आता है कि**

**मीराबाईको श्रीनाथजीका दर्शन श्रीगुसांईजीने कैसे कराया? गोविन्ददास खवासको नामनिवेदनके पूर्व श्रीगुसांईजीने दर्शन कैसे कराया? सूरदासजीने उस बनियाको श्रीनाथजीका दरसन कैसे कराया? अत: 'स्वमार्गीय वैष्णवको छोड़ अन्य किसीको भी अपने श्रीठाकुरजीका दर्शन नहीं कराना चाहिये' यह भावप्रकाशवाक्यका तात्पर्यार्थ है ऐसा नहीं स्वीकारा जा सकता अपितु 'जो भगवद्भक्त नहीं हैं ऐसे अन्यमार्गीयोंको भगवद्भक्त ये नहीं है यह जानते हुवे बुद्धिपूर्वक भगवान्का दर्शन कराना निषिद्ध है' इतना ही इस वाक्यका तात्पर्यार्थ है. यह स्वीकारना पड़ता है. उज्जैनिके पास रहनेवाली ब्राह्मणीने वह शाक्त भगवान्का दर्शन करना चाहता है तो भगवद्भक्त ही होगा यह समझ कर यदि उसे भगवान्का दर्शन कराया होता तो कृष्णभट्ट यह न कहते कि 'हमारे श्रीठाकुरजी बनजव्यापार करत नाहीं जो ऐसे लोगन्कों दिखाइये... ओर वे लोग ऐसी भांति वैष्णव जानि अहसान करें तो वैष्णवता बिकानी' इस वाक्यका तात्पर्यार्थ यह है कि भगवद्भक्त यदि होगा तो वह भक्तिभावसे प्रभुका दर्शन करेगा और उसमें अपना अहोभाग्य समझेगा. अपने उपर दर्शन करनेवालेने अनुग्रह किया यह समझेगा. अभक्त जब भगवान्का दर्शन करने जाता है तब वह जिस प्रकार संग्रहालय (म्यजिअम्)में रखी हुई वस्तुको देखने लोग जाते हैं उसी प्रकार केवल भगवान्की मूर्ति (स्वरूप)को देखने जाता है.''** (विम.पृ.२०५)

प्रश्न तो इस कुविमर्शको पढ़ कर अनेक मेरे मनमें भी उठ रहें हैं कि हम पू.पा.गोस्वामी जब अपनी व्यावसायिक सेवाका प्रदर्शन अपने सेव्यस्वरूपके दर्शन खोल कर कराते हैं तब क्या इतनी भी सावधानी बरतते हैं? उज्जयनीकी ब्राह्मणीसे तो उस शाक्त अफसरने स्वयं दर्शन करानेको कहा था, तभी उस बेचारी ब्राह्मणीने दर्शन कराये थे! क्योंकि दर्शनकी मना करनेपर अपनी आयके एकमात्र स्रोतरूप अपने खेतके नाप-जोखमें वह शाक्त

अफसर कोई गड़बड़ी न कर दे! इस तरह हमें भी कोई सरकारी अफसर हमारी समृद्धि हमारे भगवत्सेवाव्यवसायके कारण जुटी है या कोई अवैध स्मगलिंग् आदि उपायोंके द्वारा ऐसा जाननेके हेतुवश दर्शन करानेको कहे तब तो हम भी दशृन करा दें तो वह क्षम्य हो सकता था. अन्यथा अकारण क्यों दर्शन कराने चाहिंये? यदि दर्शनार्थीके उद्धारार्थ करा सकते हैं तो उस ब्राह्मणीने भी ऐसी भावनाके वश न कराये हों, इसमे प्रमाण क्या? स्वयं अपनी ओरसे चला कर अपने पेट भरनेको हम पू.पा.गोस्वामिओंकी तरह पेंफ्लेट्स छपा कर, अखबारोंमें विज्ञापन प्रकाशित करवा कर; अथवा, समाधानी भेज कर तो शाक्त अफसरको दर्शनार्थ आनेको ब्राह्मणीने ललचाया नहीं था. हर सूरतमे कमसे कम 'विमर्श' सदृश ग्रन्थ प्रकाशित कर अपनी वित्तैषणा और लोकैषणा को सिद्धान्त होनेका मुखोटा तो उस बेचारी ब्राह्मणीने सर्वथा नहीं पहनाया था. तिसपर भी कृष्णभट्टने उसे यह कह दिया ''**हमारे श्रीठाकुरजी बनज-व्यौपार करत नाहीं हैं जो ऐसे लोगन्को दिखाइये. और वे लोग वैष्णव जानी अहसान करें तो वैष्णवता बिकानी!**'' तो हमारे बारेमें कृष्णभट्ट यदि आज कुछ कहते तो क्या कहते यह सोच कर दिल आत्मग्लानि दहलने लगता है!

अत: सहज सम्भव लगता है कि दर्शन करानेकी मना करनेपर वह शाक्त अफसर नाराज हो कर उसके खेतका गलत नापजोख कर किसी दूसरेकी भूमितया उसके खेतको रजिस्टरमें चढा देता, इसी भीतिके वश वह बेचारी दर्शन करानेको इन्कार कर देनेकी हिम्मत जुटा नहीं पायी होगी! उस बेचारी ब्राह्मणीके पास आत्मनिर्वाहके साथ-साथ अपनी भगवत्सेवाके भी निर्वाहार्थ अन्य कोई आयके स्रोत भी तो थे नहीं.

न तो छप्पनभोग, न व्रजयात्रा, न सोमयागकी ईंटोकी बोली बुलवा कर; और, न नित्यसेवा ऋतुसेवा उत्सवसेवा और मनोरथोंकी झांकियों में अपने ठाकुरजीके दर्शन खोलनेसे मिलती सन्मुंखभेंट, फूलघरमें, पानघरमें, शाकघरमें, गौशालामें घास-लापसीकी भेंट, भंडारमें इकठ्ठी होती आटा -बेसन-दाल-घी-शक्कर-नमक-हलदी-हींग-मसालाकी सामग्रीभेंट

स्वीकारनेके जैसे आयके कोई जघन्यतम गर्हित स्रोत तो उस बेचारी ब्राह्मणीके पास निश्चित ही नहीं होंगे! न वह अपने ठाकुरजीको धरे भोगका विक्रय ही करनेका पातक कर्म करती होगी. उसके पास तो केवल अपना खेतभर रहा होगा. जबकि हमारे अनेकानेक आयस्रोतोमें तो हमारे ठाकुरजीके नित्य उत्सव तथा मनोरथों के दर्शनार्थ आनेवाली जनताकी भीड़ तथा धनिक मनोरथी बनियोंसे मिलती स्वयं हमारी चरणभेंटके अलावा जन्मदिन यज्ञोपवीत विवाह प्रस्ताव पवित्राबारस दान आदिके समय मिलती भेंटके अलावा वैष्णवोंको दीक्षा, विवाहके समय आशीर्वाद, उनके घरपर पधरामणी, उन्हें ठाकुरजी पधरानेकी, उनके ठाकुरजीको पुन: अपनी ग्वालमंडलीमें पधरानेकी, वैष्णवोंकी मृत्युके समय काढ़ी भेंट*, हमारे नित्यलीलामें प्रविष्ट होनेपर कडवाकी भेंट, पुरुषोत्तम(!)लीलाकी भेंट, विमर्शके दो भाग प्रकाशित करानेको ली गयी अग्रिम रु.४०+४०/- की भेंट आदि कितने सारे आयस्रोतोंके बावजूद हम इतनी सी सावधानी भी लेना आवश्यक नहीं समझते कि कहीं म्युजिअमें रखी मूर्तिओंकी तरह हमारे ठाकुरजीको भी ताकने-झांकने तो कोई हमारे व्यावसायिक मन्दिरोंमें घुस तो नहीं रहा! प्रत्युत ऐसे निर्बाध प्रवेशकी वकालत और कर रहे हैं कि ‘‘जो दर्शन करने आ रहा है वह भक्त ही होगा’’ ऐसी सतयुगी आश्वस्तता! किं विगर्ह्यमत: परम्!

(*जिसकी लालसावश श्रीबालकृष्णलालजीके छठ्ठे निधि होनेका मिथ्या दावा आौर तन्मूलक षष्ठपीठाधीश होनेका कलह न केवल श्रीयदुनाथजीके वास्तविक घरवाले उनके वंशजोंके साथ छेड़ रखा है बल्कि अबतो स्वयं विमर्शकार भाईओंमें भी परस्पर हाथापायी और मारामारी के वृत्तान्त आये दिन पुलिसथानेमें दर्ज होते हैं और अखबारोंमें एकदूसरेके विरुद्ध बयानबाजी देनी पड़ रही है!)

विमर्शकार सारी भक्तिमार्गीय लज्जाको ताकपर चढ़ा कर विमर्शमें ही स्वयं यह विधान तो कर ही चुके हैं कि--

> **‘‘अनन्यशरण भगवद्भक्त उत्तम वैष्णवोंको ऐश्वर्यके लिये पूजन करनेमें दोष नहीं है. वे वैष्णव वेतनके लिये देवकी पूजा न करें परन्तु रक्षा एवं पोषण के बिना देवकी पूजा न करें... वृत्त्यर्थ परार्थ भगवत्सेवा निषिद्ध नहीं** (यहां गुरुशिष्यके नियकी

अनिवार्यता क्यों भुला दी गयी?) **अपितु वेतनार्थ परार्थ भगवत्सेवा निषिद्ध** (षष्ठपीठ और उससे जुड़े मन्दिरोंमें जो मुखिया-भीतरिया आदिकी बटालियन भवत्सेवा करती है वह बिना ही वेतनके सम्भवत: कर रही होगी! ऐसा परन्तु लगता तो नहीं!!) **है.''**

(विम.पृ.४५)

सर्वाधिक उल्लेखनीय बात यहां यह है कि व्यावसायिक भगवन्मन्दिरोंको चलानेके दुष्कर्मके परिपाकतया वर्तमान सरकारने जो हमारे सेवास्थलोंको पब्लिकट्रस्टतया घोषित किया है अथवा निजी रखनेपर कराधानोंसे मुक्ति नहीं मिलती ऐसी विभीषिका खड़ी की है उससे डर कर केवल सम्पत्तिमात्रकी सुरक्षाके हेतु कितनी अधिक दुर्मनोवृत्तिके विवश स्वयं हमने चला कर अपने घरोंको पब्लिकट्रस्टतया घोषित या रजिस्टर करवा दिया है, उसकी भी वकालत करनेको स्वधर्माभिमानकी सारी मर्यादाओंका उल्लंघन करते हुवे विमर्शकार कहते हैं-

**''संकटकालीन वयवस्थाके रूपमें (जहां) ट्रस्टका बाह्यस्वरूप मात्र वहां ादिया गया हो (वहां) वस्तुत: ट्रस्ट (होता) है ही नहीं. भले ही ट्रस्टका लेखन क्यों न कर दिया हो... यहां यह विचारणीय है कि भगवत्सेवापयुक्त सम्पत्तिके संरक्षणार्थ जहां ट्रस्टका स्थापक बाह्यरूपमें ट्रस्टकी रचना करे तथा मनसे ट्रस्टकी स्थापना न करे ऐसे स्थलमें ट्रस्टके स्थापकको अनृतभाषणका लगेगा या नहीं? जब 'स्त्रीषु नर्मविवाहेषु वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे  गवमर्थे ब्राह्मणार्थे नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्' इन कार्योंके लिए अनृतभाषणोको दोषावह नहीं माना जाता है तो भगवत्सेवार्थ आवश्यक होनेपर वैसी लौकिक युक्ति किसीने की हो तो .से दोषदृष्टिसे नहीं देखा जा सकता.''**

(विम.पृ.६६)

ऐसे स्थितिमें उज्जयनीकी ब्राह्मणीने भी वृत्त्यर्थ अथवा

भगवत्सेवोपयोगी सम्पत्तिके संरक्षणकी ही केवल भावनासे दर्शन करा भी दिये हों तो हम पू.पा.गुसांईओंकी तुलनामें तो वह अधिक क्षम्य लगती है! यदि कहा जाये कि उसके यहांसे ठाकुरजी तिरोहित हो गये जबकि हमारे यहां तो बिराज रहे हैं, अत: उसकी अधिक अक्षम्यता फलबलकल्प्या है और हमारी क्षम्यता भी तो यह भी सोचा जा सकता है कि उसके अपराध प्रभुने बुरा माना इतना उस ब्राह्मणीको प्रभु अपना समझते होंगे जबकि हमारे अपराध प्रभुको बुरा ही नहीं लगता होगा क्योंकि हमें प्रभु सर्वथा प्रवाही या दुर्ज्ञ आसुरी जीव ही मानते होंगे ! मथुरास्थित श्रीकृष्णजन्मभूमिस्थित भगवद्विग्रहभञ्जक महममद गजनवीके द्वारा खण्डित किये जानेपर भगवद्विग्रह खण्डित हो गया तद्वत् !

स्वयं विमर्शकारने श्रीमत्प्रभुचरणके पत्रमेंसे ''**अन्यच्च यवनादयो भगवद्द्वारे आगच्छन्ति, तदा यथापूर्वं भाषणमिलनप्रसादादिकं कार्यं यद्यपि हार्दं न भवति तथापि बाह्यतोऽपि कार्यम्**'' (विम.पृ.६७) यह जो वाक्यांश उद्धृत किया है उसके आधारपर ही उस ब्राह्मणीने भी दर्शन कराये होंगे ऐसा क्यों विमर्शकार नहीं कह पाते? अस्वमार्गीयताके रूपमें, यवन अफसर और शाक्त अफसर के बीच अन्तर क्या हो सकता है? अत: सिद्ध होता है कि भगवत्स्वरूपसेवाके निर्विघ्ननिर्वाहार्थ सरकारी अफसरोंको निरीक्षणार्थ आने देना दर्शन करने देना दोषरूप न होनेपर भी उनसे सम्पत्तिकी सुरक्षा या प्राप्ति के हेतु दर्शन कराना अवश्य दोषरूप होता होगा.

ऐसी स्थितिमें चला कर अपनी ओरसे गामको आमंत्रित करना और फिर आमंत्रितोंमें कौन भक्तिभावश दर्शन करने घुस रहा है और कौन म्युजिअमकी तरह हमारे घरोंमें भी अनुष्ठीयमान भगवदाराधनको केवल कौतुकवश ताक-झांक करने आ रहा है उसकी भी लेशमात्र सावधानी या विवेक रखे बिना, जो घुस रहा है वह भगवदीय होगा ऐसे सोच लेना ''**प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मतसरणां सताम्**'' (भाग.पुरा.१।१।२) भागवतधर्मके बजाय हमारे घरोंमें कैतवपूर्ण भक्तिके नग्नताण्डवकी गवाही क्या नहीं देता?

अपने आराध्यके दर्शन कराते रहनेसे अपने ठाकुरजीकी सेवाके लिये विविध नामोंको घड़कर द्रव्य ऐंठना तो शुद्धदेवलकता नहीं तो और क्या हो सकती है? सेवार्थ आजीविका और देवलकता आदिकी विस्तृत मींमासा तो अपनी विशोधनिकाके प्रथम और द्वितीय भागोंमें हम कर ही चुके हैं. यद्यपि विमर्शकारको भेंटके रूपमें जब वे पुस्तिकायें भेजी थी तब विमर्शकारने रुष्ट हो कर कहा था कि ''हम भी विशोधनिका-अशुद्धिप्रदर्शन प्रकाशित करवा देंगे'' परन्तु मेरे दुर्भाग्यवश वह या तो लिखी ही नहीं जा सकी है या प्रकाशित नहीं हो पायी! वैसे प्रकाशनार्थ मेरे सहयोगकी अपेक्षा हो तो विमर्शकार नि:संकोच मुझे सूचित करें उसे प्रकाशित करानेको जो भी सहयोग मुझसे बन पड़ेगा देनेके लिये सदा सन्नद्ध हूं. एक बार परीक्षा ही ले कर क्यों देख नहीं लेते! मैं अतीव उनका उपकृत होउंगा! अपनी अशुद्धि समझ आनेपर स्वीकारने भी सदा सन्नद्ध हूं, इतना तो अपनी ओरसे आश्वासन देता ही हूं!

अस्तु, यदि हम पू.पा.गुसांई लोग धर्मनिरपेक्ष सरकारको बेवकूफ बनानेको निजीको सार्वजनिकतया घोषित एवं सरकारी विभागोंमें दर्ज करानेपर भी झूंट बोलनेके दोषी नहीं होते तो उस उज्जयनीकी बांह्मणीने भी झूंटे ही उसकी प्रशंसा न की हो ऐसा क्यों नहीं मानना चाहिये? उसके पक्षमें एक प्रबल अन्यथानुपपत्ति यह भी सोची जा सकती है कि उसे तो श्रीनाथजीके वस्त्रोंकी सेवामात्र करनेसे **''सो वह बाई अति प्रीतिसों श्रीनाथजीकी सेवा करती... तब वा बाईसों श्रीनाथजी सानुभावता जनावन लागे त्यों-त्यों वह बाई मन लगायके सेवा करन लागी. पाछें वा बाईसों श्रीनाथजी प्रत्यच्छ बात करन लागे. वा बाईके पासतें जो वस्तु चहिये सो मांगि लैन लागे!''** (२५२ वैष्ण.वा.३८।१) इतनी उच्चाधिकारिता निरूपित हुयी है. मुझे नहीं लगता ग्रामोद्धारार्थ भगवत्सेवाका व्यावसायिक प्रदर्शन करनेवाले हम पू.पा.गुसांईओंसे हमारे साक्षात् सेव्यस्वरूप कभी सानुभाव जता कर ऐसी प्रसन्नतासे हमारी सेवा स्वीकारते हों.

निष्कर्षतया विमर्शकारद्वारा उद्धृत श्रीगोकुलनाथजीके तीनों वचनामृतोंमें लीलाभाव[क], शरण-निवेदन-भक्ति-मार्गीय मन्त्रों[ख],

भगवत्सेवा[ग] तथा निजधर्म[घ] आदि अनेक बातोंके गोपनकी आज्ञा दे रहे हैं, उन सभी आज्ञाओंको अभिहितार्थ प्रमाण माननेके बजाय लक्षितार्थ या गौणार्थ के अभिप्रायान्तरोंसे उनकी अन्यथाव्याख्या करना तो महाप्रभुकी शास्त्रव्याख्याननीतिके सर्वथा विपरीत ही है. यथा--

(१) लीलाको भाव[क] अन्यमार्गीयकों तथा पात्र बिना न कहेनो. पुष्टिमार्गमें अनन्य होय ताकों मिलिके निवेदन[ख]को तथा अष्टाक्षर-पञ्चाक्षर[ख] तिनकों प्रकाश जहां-तहां पात्र बिना न करनो. (११)

(२) भगवत्सेवा(ग) है सो गोप्य है सो काहूकों जतावे नहीं. जो सेवा प्रकट करि अपनी प्रतिष्ठा बढ़ावे ताको 'पाखंडी' कहिये सो ताकि सेवामें कछु पुष्टिमार्गको फल नाहीं. और पाखंड करिवेवारेके हृदयमें लौकिक आवेश आवें सो लौकिक आवेशतें बहिर्मुख होय. और सेवामें प्रतिबंध परे. सो जब लोभ छूटे तब पाखंड न होय... तातें सेवा थोरी ही करे यथाशक्ति करे. ताको कछु बाधक नाहीं. सो थोरे ही भगवद्धर्मसों वाके सघरे कार्य सिद्ध होय जाय और बहुत करे और पाखंड सहित होय तो भगवद्धर्म न बढ़े. तातें अलौकिक रीतसों सेवा करे सो श्रीठाकुरजीके जानिवेसूं कार्य सिद्ध होयगे जो लोगन्‌के जानेतें कछु सिद्ध होय नहीं.''(२२)

(३) और पुष्टिमार्गमें शरण आवे ताकों अपनो सु(स्व)जाति जाननो. शरण बिना विजाति जानिए उनसों अपनो धर्म[घ] गोप्य राखे.''(२४)

विमर्शकार कहते हैं इन वचनोंका अर्थ भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवा के प्रदर्शननिषेधके रूपमें लेनेके बजाय **''अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानेकेलिए भगवत्सेवाका प्रचार नहीं करना चाहिये. अर्थात् अपनी प्रतिष्ठा हो इसकेलिए**

**लोगोंको यह कहना कि 'हमारे यहां ऐसी भगवत्सेवा होती है' यह सब ठीक नहीं. अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानेकेलिए भगवद्दर्शन कराना उचित नहीं अपितु** (!? सम्भवत: 'किन्तु' पद होना चाहिये था! 'अन्यथा अपनी प्रतिष्ठा बढ़े और दूसरोंका उद्धार भी हो जाये' ऐसे हृद्गत निगूढ़ अभिप्रायका रहस्य यहीं प्रकट हो जायेगा! महान् मनोविद् फ्रॉयड् ऐसी त्रुटिओंकी मनोमीमांसा अचेतनमन या बीजभाव का सचेतनमनद्वारा सम्पन्न होते विचार और वाणी के साथ किये जाते खिलवाड़के रूपमें करते हैं. गो.श्या.म.) **लोगोंका उद्धार हो इसकेलिए भगवद्दर्शन कराना उचित है''** (विम.पृ.सं.२००)

हम, परन्तु, इस सन्दर्भमें विमर्शकारका ध्यान छट्ठे वचनामृतपर आकृष्ट करना चाहेंगे कि जहा श्रीगोकुलनाथजी सुस्पष्ट शब्दोमें **''सेवा, भगवत्स्मरण, भगवद्धर्म इनमें पाखंड न करनो. और काहुकों दिखायवेके अर्थ, पूजार्थ, उद्धारार्थ न करे. अपनो सहजधर्म जानें जैसे ब्राह्मण गायत्री जपे** (वैसे हम गुसांईबालक तो वह भी वैष्णवोंके सामने करना ही पसन्द करते हैं!) **यथालाभसन्तोषसूं सेवा करे... और पाखंडकी पूजा-सेवा प्रभु अंगीकार न करें''**(वचनामृत : ६)

सुस्पष्टतम शब्दोंमें श्रीगोकुलनाथजी यहां दिखानेकेलिये की जाती सेवाकी तरह उद्धारार्थ की जाती सेवा को पाखंडतया गिना दिया है.

वैसे विमर्शकारकी व्याख्यानीतिका अनुसरण करनेपर कल कोई ऐसा भी अर्थ कर ही सकेगा : ''फलार्थ भोगार्थ अथवा प्रतिष्ठाप्रसिद्ध्यर्थ भगवत्सेवाका पाषण्ड भी अहंकारपूर्वक नहीं करना चाहिये परन्तु 'चित्तेन दुष्टो वचसापि दुष्ट: कायेन दुष्ट: क्रिययापि दुष्ट: ज्ञानेन दुष्टो भजनेन दुष्टो ममापराध: कतितधा विचार्य' का दैन्यभाव रखते हुवे भगवत्सेवाका पाखंड करना भी दोषरूप नहीं माना जा सकता है. क्योंकि अन्यथा ऐसे दैन्यभावोद्बोधक श्लोककर्तापर मिथ्याभाषणका आरोप लग जायेगा! एतावता सिद्ध होता है श्लोककर्ता यदि मिथ्याभाषी नहीं हो सकते तो सकल शिष्टोंमें भी ऐसे दोष तो थे ही. सो दोष होना दोष नहीं परन्तु हृदयमें दैन्य न होना दोषरूप होता है!''

अत: यह सिद्ध होता है कि 'विमर्श' **''स्त्रीषु नर्मविवाहेषु वृत्त्यर्थं प्राणसंकटे गवामर्थे ब्राह्मणार्थे नानृतं स्याद् जुगुप्सितम्''** (द्र.विम.पृ.सं.१६७) श्लोकानुप्रेरित हो कर वृत्त्यर्थ गवांस्वाम्यर्थ वित्तसंग्रहको प्राणोपम पवित्र मान कर प्राणसंकटनिवृत्त्यर्थ अजुगुप्सितया अभीष्ट अनृतभाषणात्मक लेखन ही है. अस्तु.

# संग्रहकारिका

भावात्मको हि भगवान् भावो भगवदात्मकः ।।
स्वीयानां धर्मरूपोऽपि ''भजनीयो व्रजाधिपः'' ।।१।।
श्रीमदाचार्यवचनाद् गोप्याश्चैते त्रयः सदा ।।
रसात्मकतया पुष्टौ स्याद्रसाभासतान्यथा ।।२।।
तस्माद्रसत्वे गोप्यत्वापत्तिरस्ति दुरुद्धरा ।।
नोचेद्रसाभासतैव प्रदर्शनकृता भवेत् ।।३।।

**किञ्च**

अंगीकृतातु भावस्य गोप्यता रसतापि च ।।
धर्मस्य धर्मिणो वापि तथात्वे द्वेषिता कुतः ?।।४।।
''एकत्र तु विनिर्णीतः शास्त्रार्थोऽसति बाधके ।।
युज्यते हीतरत्रापि'' न्यायबाधो नवा कुतः ?।।५।।

**तस्माद्**

रसरूपे भक्तिमार्गे रसाभासप्रदर्शकान् ।।
दुर्ज्ञान् देवलकान् धिक् तान्[२] धिक तान् धिगेव तान् ।।६।।

इति श्रीमद्गोस्वामिदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचिता
'सेव्यस्वरूप'शीर्षकान्तर्गतसंकलित विषयवाक्यविचारे
'विमर्श'विशोधनिका

***

# ‘सेवाप्रदर्शन’शीर्षकान्तर्गत संकलित विषयवाक्यविचारमूलक विशोधन

## (विषयवाक्य)

**(क) भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्वभावकत्वाद् आश्रमधर्मैरेव लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत इति एतदाशयेन ते धर्माः उक्ताः. गोपनने मुख्यं हेतुम् आह ‘अन्वयाद्’ इति. यतो भगवता समम् अन्वयं=सम्बन्धं प्राप्य वर्तते, अतो हेतोः तथा. अत्र ‘ल्यब्’लोपे पञ्चमी. एतेन यावद् अन्तःकरणे साक्षात् प्रभोः प्राकट्यं नास्ति, तावदेव बहिः आविष्करणं भवति, प्राकट्ये तु न तथा सम्भवति इति ज्ञापितम्** (अणुभा.३।४।४९).

(क) भगवद्भावके रसात्मक होनेके कारण वह गुप्त रहता है तभी वृद्धिंगत हो सकता है. अतः लोकमें आश्रमधर्मोंकी ओटमें अपने भगवद्भावको छिपाये रखना चाहिये. इसी आशयसे भगवद्भावके साथ-साथ आश्रमधर्मोंका भी निरूपण किया गया है. जिसके हृदयमें भगवान् बिराजते नहीं है वही व्यक्ति अपने भावोंको जनतामें प्रदर्शित कर सकता है. प्रभु यदि हृदयमें बिराजते हों तो भावोंका बाहर आविष्करण=प्रदर्शन सम्भव नहीं है (अणुभा.४।४।४९).

(ख) **स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्** (साध.दीपि.१०८).

(ख) जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिंये. (साध.दीपि.१०८).

(ग) **३८तमो अपराधो=गुरुदैवतयो: गुप्तप्रकटीकरणम्. फलं = श्वयोनित्रयम्. ११अपराधो= अवैष्णवस्य स्वसेव्यप्रदर्शनम्. फलं= वार्षिकसेवानिष्फलत्वम्. प्रायश्चित्तं = पञ्चामृतस्नानम्. ३६ तमो अपराधो= भगवन्नाम्ना याचनम्. फलम्=उपचारनैष्फल्यम्. प्रायश्चित्तं =पञ्च-गुणितनैवेद्य-दानम्. ३५ तमो अपराधो= गुर्वाज्ञोल्ल-ङ्घनम्. फलम्=असिपत्रादिघोर-नरक-पात:. प्रायश्चित्तं = वैष्णव-गुरु-प्रसादनम्.**
(श्रीहरिराय-विरचिता: षट्षष्ठिरपराधा: तत्फलानि प्रायश्चित्तानि च).

(ग) ३८ वां अपराध : गुरु या दैवत (=श्रीठाकुरजीसे सम्बन्धी बातों)के गुप्त-रहस्य-को प्रकट करना. फल : तीन जन्मों तक श्वानयोनि. ११वां अपराध : अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल : एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त : श्रीठाकुरजीको पञ्चामृतसे स्नान कराना. ३६वां अपराध : श्रीठाकुरजीके नामसे (भेंट, सामग्री या न्योछावर)मांगना. फल : सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त : जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांच गुने नैवेद्यका प्रभुको दान (नहीं के समर्पण!) करना. ३५ वां अपराध : गुरु-श्रीमहाप्रभु आदि-की आज्ञाका उल्लंघन करना. फल : 'असिपत्रा'दि नामोंवाले घोर नरकोंमें पतन. प्रायश्चित : वैष्णव और गुरु को प्रसन्न करना (श्रीहरि.विर.षट्)

## (संशय)

इन विषयवाक्योंके स्वारसिक अर्थकी मीमांसामें सर्वप्रथम संशय यह उठता है कि [१]अप्रदर्शनार्ह अर्थात् संगोपनीय केवल भक्त या भक्त्यर्थी सेवाकर्ताके भगवद् विषयकभाव ही होते हैं या [२]सेव्य भगवत्स्वरुप एवं

भगवत्सेवा भी? भगवद्भावकी तरह सेव्य भगवत्स्वरूप एवं भगवत्सेवा के भी संगोपनीय होनेपर क्या [२/क]'अस्वीयत्व+अभयक्तत्व+अवैष्णवत्व' तीनों ही एक साथ जिसमें हो ऐसे व्यक्तिसे गोपनीय होते हैं अथवा [२/ख]'अस्वीयत्व /अभक्तत्व/अवैष्णवत्व' तीनोंमेंसे कोई एक भी जिसमें हो उससे संगोपनीय होते हैं? अथवा [२/ग]न अस्वीयसे न अभक्तसे अथवा न अवैष्णव से ही किन्तु जिस व्यक्तिके बारेमें हमारी धारणा उसके अस्वीय-अभक्त-अवैष्व होनेकी हो, उसे केवल दर्शन नहीं कराये जा सकते हैं? वैसे तो इस तीसरे कल्पमें भी पूर्वोक्त कल्पोंकी दोनों कोटियोंके विन्यासके कारण पुन: संशयघटक दो अवान्तर कोटियां उभर सकती हैं.

फिरभी संशयघटक इतनी सारी कोटियोंके रहते विमर्शकारने [१]केवल भावको ही संगोपनीय माना है, भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवा को नहीं. 'स्वीय', 'भक्त' एवं 'अवैष्णव' पदोंकी 'स्वीयत्वबुद्धि', 'भक्तत्वबुद्धि' एवं 'अवैष्णवत्वबुद्धि' रूपी अर्थोंमें लक्षणा मान कर उन्हें प्रदर्शनानुकूल दर्शनाधिकारिता या अनधिकारिता का अवच्छेदक माना है.

व्यामोहिका भाषाका प्रयोग तो विमर्शकारका विभावानुभाव-संचारिभावनिष्पन्न स्थायिभाव होनेके कारण यदि इस पूर्वपक्षके निरूपणमें मुझसे कुछ निर्मूल निरूपण हो रहा हो तो सहृदय पाठक क्षमा करेंगे. यह बुद्धिपूर्वक अन्यथाव्याख्यान नहीं है परन्तु यथावभात व्याख्यान है. मैंने अपनी ओरसे केवल पूर्वपक्षके उट्टंकनका प्रयास किया है, फिरभी संशयकी तीसरी कोटिके अन्तर्गत अवान्तर कोटियां कौनसी विमर्शकारको अभिप्रेत होनी चाहिये, यह अपने नैसर्गिक बुद्धिसामर्थ्यसे निर्धारित नहीं कर पाया हूं.

इस स्थितिमें इतना तो स्पष्ट ही है कि संशयकी अनेक कोटियोंमेंसे विमर्शकारद्वारा इंगित दिशामें ही अग्रसर हो कर पूर्वपक्षकी जो कोटि उभरती हो .सके समाधानार्थ प्रयास करना चाहिये. अन्यथा अनुक्तोपालंभनकी त्रुटि हो सकती है. अत: अन्य कोटियोंकी हम उपेक्षा करना चाहेंगे.

**(पूर्वपक्ष)**

अत: सर्वप्रथम विमर्शकारद्वारा निरूपित मुख्य कोटि कि केवल भगवद्भाव ही संगोपनीय होता है भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवा नहीं, इसे विमर्शकारके शब्दोंमे ही देख लेना उचित होगा :

> **''यहां ...आश्रमधर्मोंका अनुष्ठान करते हुए भगवत्सेवा करनेको कहा है. भगवद्भाव (भगवद्विषयिणी रति) रसात्मक है. गुप्त होनेपर ही रसकी अभिवृद्धि होती है. अत: भगवद्भावको आश्रमधर्मोंद्वारा लोकमें प्रकट न करते हुए भगवत्सेवा करनी चाहिये, इस आशयसे आश्रमधर्म करने हेतु कहे गये हैं. अन्त:करणमें साक्षात् भगवान्का प्राकट्य विरहदशामें होता नहीं. अन्त:करणमें साक्षात् प्रभुका प्राकट्य संयोगदशामें होता है. उस समय आश्रमधर्मोंद्वारा भगवत्सम्बन्धको गुप्त रखनेपर केवल विरहदशामें भगवद्भावका बाहर आविष्करण होता है, संयोगदशामें नहीं. विरहदशामें विविध भावोंकी उत्पत्ति होनेसे नवधाभक्ति-भक्तधर्मोंद्वारा आश्रमधर्मोंका बाध विरहीमें हो जाता है. ...एवंच यहांपर आश्रमधर्मोंद्वारा अपने भगवद्भावको लोकमें छिपानेकी बात कही जा रही है नकि भगवद्दर्शन न करानेकी बात कही जा रही है. यह सिद्ध होता है.** (विम.पृ.सं.७५-७६)

## (उत्तरपक्ष)

## (क)

महती लज्जाका विषय है कि निरन्तर सुबोधिन्यादि ग्रन्थोंके अवगाहनशील एक मान्य वृद्ध व्यक्ति 'पू.पा.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज' का नाम इस ग्रन्थके कर्ताके रूपमें प्रचारित किया जा रहा है. कभी तो यह अपने पितामहके बारेमें पौत्रोंके निगूढ़ द्वेषका एक प्रबल प्रमाण लगता है कि इस पराकाष्ठापन्न विचारहीन विधानके कर्ताके रूपमें उन्हें व्यर्थ बदनाम किया जा रहा है!

(१) सर्वप्रथम तो भगवद्भाव रसात्मक होता है, भगवान् भी रसात्मक होते हैं तथा सेवा भी भावात्मिका-रसात्मिका होती है तो ''एकत्र निर्णीत: शास्त्रार्थ: असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते'' न्याय यहां क्यों विस्मृत कर दिया गया है? इसका क्या कारण हो सकता है, यह समझमें नहीं आता है.

(२) यदि ''गुप्त होनेपर ही रसकी अभिवृद्धि होती है'' नियम विमर्शकारको मान्य हो तो या तो सेव्य भगवत्स्वरूप एवं उनकी सेवा को अरसात्मक या रसाभासात्मक माने बिना उनके भी अगुप्त रहनेपर अर्थात् प्रकट करनेपर तनुजा-वित्तजाके तदैकप्रवणताक्रमेण मानसी अवस्थामें अभिवृद्धिकी सम्भावना नि:शेष हो जायेगी. इसी तरह सेवात्मिका भक्तिकी भी रुचिप्रेमासक्तिके क्रमसे व्यसनावस्थापर्यन्त अभिवृद्धि अवरुद्ध हो जायेगी. भगवत्स्वरूपमें प्रमाणलीला-प्रमेयलीला-साधनलीला वैशिष्ट्य के क्रमसे फललीलावैशिष्ट्य पर्यन्त अभिवृद्धि अवरुद्ध हो ही जायेगी.

यदि किसी कारणके वश रसात्मक होनेपर भी भगवत्स्वरूप एवं भगवत्सेवा के प्रकट-अगुप्त रहनेपर अभिवृद्धिशील स्वभाव अवरुद्ध न होता हो तो पुन: ''एकत्र निर्णीत: शास्त्रार्थो असति बाधके अन्यत्रापि युज्यते'' न्यायसे नित्यभेंट फेंकनेवाले दर्शनार्थी एवं बड़ी रकम देकर मनोरथी बने सेठियाओंके समक्ष भगवद्भावको भी प्रकट करते रहनेपर वह भी ''दिन-दिन बढ़त सवायो'' होना चाहिये था. अन्यथा आश्रमधर्मोंद्वारा जैसे भगवद्भावको लोकमें प्रकट न करते हुवे भगवत्सेवा करनी चाहिये, वैसे ही भगवान्को भी आश्रमधर्मद्वारा लोकमें प्रकट न करते हुवे भगवत्सेवा करनी चाहिये.

(३) इसके बाद विमर्शकारका यह विधान कि ''अन्त:करणमें साक्षात् भगवान्का प्राकट्य विरह दशामें होता नहीं है'' न केवल श्रीहरिरायजीके शिक्षापत्रादि अनेकानेक ग्रन्थ ही अपितु महाप्रभु प्रभुचरण के भी वेणुगीत युगलगीत भ्रमरगीतकी सुबोधिनी टिप्पणीजीके अनेकानेक ''आन्तरन्तु परं फलम्'' जैसे विरहदशामें भगवान्के साक्षात् आन्तर प्राकट्यके निरूपक वचनोंके अनादरपूर्वक किया गया विधान है! दु:ख इस

बातका उतना नहीं कि यह देवलकतामोहवश किया गया विधान है--दु:ख इस बातका समधिक है कि आजीवन सुबोधिनीके अनुशीलनमें परायण प्रात:स्मरणीय श्रीगोविन्दरायजी फूफाजीके आत्मजोंद्वारा अपने पितामहके नामके साथ मिथ्यायजनपूर्वक किया गया विधान है.

(४) ''अन्त:करणमें साक्षात् प्रभुका संयोगदशामें होता है उस समय आश्रमधर्मों द्वारा भगवत्समबन्धको गुप्त रखनेपर केवलविरहदशामें ही भगवद्भावका बाहर आविष्करण होता है संयोगदशामें नहीं'' इससे अीधक समुचित उदाहरण ''मुखमस्तीति वक्तव्यम्'' का अन्यत्र मिलना दुर्लभ है! सामान्तयतया तो 'संयोग'का अर्थ 'आन्तरसंयोग' न लिया जाता हो तो संयोगमें अन्त:करणमें साक्षात् भगवत्प्राकट्य्र अश्रुतपूर्व तथा आकर ग्रन्थोंमें अदृष्टपूर्व निरूपण ही नहीं अनावश्यक भी है. संयोगमें कृष्णद्वैतघटित विरसताका जनक रासलीलामें भी ''षोडशगोपिकासु अष्टौ कृष्णा:'' का निरूपण इसी कृष्णद्वैतकी अनावश्यकतापर अवलम्बित है. कथंचित् ''तुष्यतु दुर्जन'' न्यायसे उसे स्वीकार भी लें तबभी यह प्रश्न तो बना ही रहता है कि बहि:स्थित भगवत्स्वरूपकी सेवाको विमर्शकार संयोग मानते हैं या विप्रयोग?

यदि संयोगदशा मानते हों तो अपने प्रभुकी पलना हिंडोला रास होली आदि दिव्य लीलाओंके भावोंवाली भावात्मिका सेवा करनेका अपना सम्बन्ध गुप्त रखना चाहिये कि नहीं? यदि नहीं तो वदतोव्याघात ! यदि रखना चाहिये तो प्रतिज्ञाहानि!

यदि विप्रयोग मानते हों तो दर्शनार्थी जनताके सानिंध्यवशाद् विप्रयोग है अथवा चित्तके स्वसेव्यसे संयुक्त न होनेके कारण विप्रयोग है? यदि दर्शनार्थी जनोंके सांनिध्यवशात् तो उनके समक्ष भगवत्सेवाप्रदर्शन करना ही नहीं चाहिये ताकि विप्रयोग हो! यदि भगवत्संनिधिमें भी भगवद्विप्रयोग ही अभिष्ट हो तो सिद्ध हो गया कि दर्शनार्थी जनोंका ही संयोग अभीष्ट हे, भगवद्विप्रयोगरूप फलके साधकतया. अत: स्वकृत भावानुवादके अनुसार भी खुले दर्शनोंमें पलना हिंडोला रास होली जैसी गूढ़लीलाओंके भावको तथा सम्बन्धको प्रकट करनेवाली सेवाको प्रकट करनेके बजाय, सन्ध्या तर्पण या

अग्निहोत्र आदि आश्रमकर्मोंमें ही परायणता प्रदर्शित करनी चाहिये बजाय कि भगवत्सेवाके!

(५) अत: ‘‘संयोगदशामें आश्रमधर्मोंद्वारा भगवत्सम्बन्धको गुप्त रखनेपर केवल विरहदशामें ही भगवद्भावका बाहर आविष्करण होता है, संयोगदशामें नहीं’’ विधानके आसपासकी पंक्तियोंमें ‘यावत्-तावत्’ पदोंके ‘जबतक-तबतक’ अर्थ क्यों छोड़ दिये गये लगते हैं अथवा कहां हैं (द्रष्टव्य : विम.पृ.सं.१९५)? कहीं मूल पदोंके अर्थोंको छोड़नेका विमर्शकारका एकाधिकार तो नहीं है? वैसे तो स्वयं विमशृकारका ही यहां निपातार्थके बारेमें अज्ञान प्रकट हुवा है, जब विमर्शकार पूछते हैं : ‘‘**अणुभाष्यके वाक्यका गलत अर्थ क्यों?... उनका यह अर्थ भ्रामक प्रतीत होता है तथा विचारणीय भी है. क्योंकि ‘यावत्’ पदका कोषानुसार ‘जबतक’ अर्थ होता है ‘तावदेव’ पदोंका कोषानुसार ‘तबतक ही’ यह अर्थ होता है**’’ (विम.पृ.सं.७६).

इस विषयमें वास्तविकता यह है कि कोषानुसार ‘यावत्’ के--

(१)साकल्य (२)अवधि (३)मान (४)अवधारण (५)काल (६)हेतु
(७)सीमा (८)संभ्रम (९)पक्षान्तर (१०)विवरण.

इतने अर्थ मान्य किये गये हैं. तदनुसार :

**साकल्य** =‘‘यावत् कार्यं कुरु’’, **अवधि** =‘‘मूलात् शाखां यावत् प्रकाण्ड:’’, **मान** =‘‘यावत्पात्रं ब्राह्मणान् आमन्त्रयस्व’’, **अवधारण** =‘‘यावद् दत्तं तावद् भुक्तम्’’, **काल** =‘‘यावद् गिर: खे मरुतां चरन्ति’’, **हेतु** =‘‘यावद् भवतु आहितसायकस्य’’, **सीमा** =‘‘यावत्पुरं वृष्टो देव:’’, **संभ्रम** =‘‘यावत्सर्पकोडरम्’’, **पक्षान्तर** =‘‘स यावत् प्रियतां गत:’’, **विवरण** =‘‘बिडोजा: इन्द्र: इति यावत्’’.

अब विमर्शकार ही बतायें कि इनमेंसे कौनसा अर्थ उन्हें यहां भाष्यकाराभिप्रेततया अभिमत है!

क्योंकि ‘साकल्य’अर्थ लेनेपर वाक्यार्थ रचना कुछ ऐसी होगी : अन्त:करणमें साक्षात् प्रभुका प्राकट्य जितना नहीं होगा उतना ही बाहर आविष्करण होगा. प्राकट्य होनेपर बहिराविष्करण सम्भव नहीं रह जायेगा’’. इस व्याख्यानविधाके दोषका निर्देश करें!

‘अवधारण’ अर्थ लेनेपर भी करीब-करीब उपर दिया हुवा ही हिन्दी अनुवाद होगा परन्तु अर्थछाया बदली हुई होगी.

ऐसी स्थितिमें केवल कालार्थक ‘यावत्’पदको लेनेके दुराग्रहका आडम्बर क्यों? निपातार्थाज्ञानवश? तो वह समुचित अध्ययनसे निवृत्त हो सकता है! वित्तप्रदायक दर्शनार्थिजनोंके व्यामोहनार्थ? तो वह वृत्ति तो स्वसेव्यप्रभुमें शुद्ध भाव स्थापित करनेसे ही सुधर पायेगी.

वैसे ‘जबतक’--‘तबतक ही’ अर्थ लिये जायें अर्थात् स्वयं विमर्शकारकी तरह छोड़ न दिये जायें तो किसी भी सूरतमें मेरेद्वारा सिद्धान्तवचनावलीमें दिया गया भावानुवाद : ‘‘जिसके हृदयमें भगवान् बिराजते नहीं हैं, वही व्यक्ति अपने भावोंको जनतामें प्रदर्शित कर सकता है. प्रभु यदि हृदयमें बिराजते हों तो भावोंका बाहर आविष्करण=प्रदर्शन सम्भव नहीं है’’ यह सर्वथा सर्वथा सर्वथा निर्दुष्ट भावानुवाद ही है. कोई शाखाचंक्रमणशील ही ऐसी जगह रेखांकन करवा सकता है, मानवबुद्धिसे सम्पन्न व्यक्ति तो नहीं, क्योंकि ‘यावत्’-‘तावदेव’ पदोंके ‘जबतक’-‘तबतक ही’ अर्थ लेनेपर भी किसी वृक्षपर लटकते आकाशमेंसे टपकते हृदयमें तो भगवत्प्राकट्य होता नहीं है. भगवत्प्राकट्यके हृदयमें होने या न होनेकी कथा ही किसी व्यक्तिके सन्दर्भमें प्रासंगिक होती है अन्यथा अप्रासंगिक ही. ‘यावत्’ पदके साथ ‘यस्य’ पदका; तथा ‘तावदेव’ पदोंके साथ ‘तेन’ पदका स्वारसिक उह अकामगलेपतित है. अन्यथा जबतक अन्त:करण (निर्वैयक्तिक)में भगवत्प्राकट्य नहीं होता तबतक ही (अकर्ताद्वारा!) बहिराविष्करण होता है ऐसा वदतोव्याघात होगा!

लगता है यह युक्ति अवश्य ही पु.सि.सं.शि.ने विमर्शकारको सुझाई है!

(६) जहांतक विमर्शकारकी बाललीलाका यहां प्रश्न है वहां कथनीय यही है कि रश्मिकारके अनुसार भी भाष्यकी इस पंक्तिका अन्वयार्थ पहले समझ लेते तो अच्छा होता. रश्मिकार कहते हैं :

> ‘‘**एतेन** * **यावद् अन्त:करणे साक्षात् प्रभो: प्राकट्यं**--विरहे--**नास्ति तावदेव**--गुप्तान्वयस्य--**बहिराविष्करणं**--आश्रमधर्मद्वारा-**भवति**. अन्त:करणे--**प्राकट्येतु तथा**--बहिराविष्करणं--**न सम्भवति**--विरहे विविधभावोत्पत्त्या नवधाभक्ति-भक्तधर्मै: आश्रमधर्माणां तादृशे बाधाद्--* **इति ज्ञापितं**--तात्पर्यवृत्त्या उक्तम्’’

**अनुवाद :** (१)**इससे यह ज्ञापित**--तात्पर्यवृत्तिद्वारा कहा गया--है कि (२)**जबतक** (किसी व्यक्तिके) **अन्त:करणमें साक्षात् प्रभुका प्राकट्य**-- विरहदशामें--**नहीं होता. तभी तक** (उस व्यक्ति द्वारा)--प्रभुके साथ अपने गुप्तसम्बन्धका/गुप्तसम्बन्धवाले अपने प्रभुका--**बाहर आविष्करण** (=प्राकट्य=प्रदर्शन)--आश्रमधर्म द्वारा (भी) **होता** (=हो पाता) है. (३)(विरहदशामें)--अन्त:करणमें--**प्राकट्य होनेपर वह**-- बाहर आविष्करण--**सम्भव नहीं रह जाता** (४) क्योंकि विरहदशामें विविध भावोंकी उत्पत्तिद्वारा नवधाभक्ति-भक्तधर्मोंद्वारा उस व्यक्तिमें आश्रमधर्मोंका बाध हो जाता है.

इसमें सीधे अक्षर मूलवचनानुवाद है, तिरछे अक्षर व्याख्यानुवाद है तथा कोष्ठकान्तर्गत शब्द अनुवादकद्वारा योजित हैं. एतावता स्पष्ट हो जाता है कि (१) अधोरेखांकित अंशद्वारा, भक्तिनिरूपणके प्रसंगमें आश्रमधर्मोका निरूपण तात्पर्यवृत्त्या द्योतित हो रहा है ऐसे अर्थके निरूपणकी प्रतिज्ञा है. (२) अधोरेखांकित अंशद्वारा प्रभुके हृदयमें प्रकट न होनेके कारण प्रकट होते दोष या न्यूनता की निन्दा है. (३) अधोरेखांकित अंशद्वारा अन्त:करणमें

भगवत्प्राकट्यवशात् प्रकट होते गुणकी प्रशंसा है. (४) अधोरेखांकित अंशद्वारा (२)+(३) अंशकी हेतूपपत्तिका निरूपण अभिलषित है.

ऐसी स्थितिमें भक्तिप्रकरणमें आश्रमधर्मोंके निरूपण करनेवाली श्रुति सिद्ध वृत्तकी निरूपिका है या साध्य वृत्य या कृत्य की विधायिका? यदि सिद्ध वृत्तमात्रका यहां निरूपण स्वीकारते हैं, जैसा कि झांसा विमर्शकार देना चाहते हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि क्या सकलभक्तसाधारण वृत्तका निरूपण यहां अभिलषित है या कतिपय भक्तोंके? सकलभक्तसाधारण वृत्तका निरूपण स्वीकारनेपर वर्णाश्रमबाह्य भक्तोंके बारेमें भी स्वीकारना पड़ेगा कि वे भक्त वर्णाश्रमबाह्य होनेपर भी वर्णाश्रमधर्मका अनुष्ठान करने लग जाते हैं. यह न तो वाचनिक अर्थापत्तिद्वारा प्राप्त है और न प्रात्यक्षिक साक्ष्यसे सिद्ध होता है. कतिपय भक्तोंके सिद्धवृत्तका निरूपण स्वीकारनेपर नामोल्लेखरहित यह निरूपण (१)अर्धांशमें निन्दा अर्धांशमें स्तुति है अथवा (२)सर्वांशमें निन्दामात्र या सर्वांशमें स्तुतिमात्र है. यदि अर्धांश कल्पको स्वीकारते हैं तब भी निन्दाका तात्पर्य भगवद्भावके बहिराविष्करणके निषेधमें इसी तरह स्तुतिका तात्पर्य आश्रमधर्मोंसे भगवद्भावके संगोपनकी विधिमें पर्यवसित होगा. इसी तरह सर्वांशमें निन्दा या सर्वांशमें स्तुति स्वीकारते हैं तब भी पर्यवसान वृत्तिसे उल्लिखित विधिनिषेधमें ही पर्यवसान स्वीकारना पड़ेगा. फलत: अगतिकतया श्रुतिका तात्पर्य साध्य वृत्यके विधानमें है ऐसा स्वीकारना पड़ेगा.

वह साध्य वृत्य भगवद्भावके बहिराविष्करण=प्रदर्शनसे कण्ठोक्त निवृत्ति तथा आश्रमधर्मोंकेद्वारा भगवद्भावके संगोपनमें कण्ठोक्त प्रवृत्तिके सिवा और तो कुछ हो नहीं सकता. वह भगवद्भाव यदि भावात्मक भगवत्स्वरूपकी भावात्मिका सेवाके सार्वजनिक प्रदर्शनमें बहिराविष्कृत होता ही हो तो घट्टकुटिमें प्रभात हो ही जाता है. क्योंकि स्वयं विमर्शकारको भी ''**आश्रमधर्मोंका अनुष्ठान करते हुवे भगवत्सेवा करनेको कहा है. भगवद्भाव (भगवद्विषयिणी रति)रसात्मक है. गुप्त होनेपर ही रसकी अभिवृद्धि होती है. अत: यहां अपने भगवद्भावको आश्रमधर्मद्वारा लोकमें प्रकट न करते भगवत्सेवा करनी चाहिए**'' (विम.पृ.सं.७५) अंशद्वारा सारे झांसोके बावजूद

कृत्योपदेशता तो स्वीकारनी ही पड़ी है. फलतः भक्तकी ऐसी कोई भी कृति (भगवत्स्वरूपप्रदर्शनात्मिका हो या भगवत्सेवाप्रदर्शनात्मिका हो) कि जिससे भगवद्विषयिणी रति प्रकट हो जाती हो तो उसे 'निषिद्धाचरण' तो कहना ही पड़ेगा.

क्योंकि विमर्शकारको, अन्यथा, निर्लज्जतया स्वीकारना पड़ेगा कि जब कोई पू.पा.गोस्वामी भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवा का प्रदर्शन करते हैं तब उनकी भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवामें रति नहीं किन्तु भगवद्विषयिणी अरति या भगवद्विषयक रत्याभाास प्रकट होता है!

मैं तो इसे भी बिना ननु-नच स्वीकारने तैयार हो जाउंगा परन्तु स्वयं अपने कण्ठ या लेखिनी द्वारा इसकी स्वीकृति दें अन्यथा सेवाप्रदर्शनकी निषिद्धाचरणता वज्रलेपायित ही रहेगी.

(७) इसके अलावा श्रीपुरुषोत्तमजीकी भावप्रकाशिकामें मूलसूत्रभाष्यस्थ मुख्यहेतुरूप : 'अन्वय=सम्बन्ध' पदको जो ज्ञापकहेतु है उसे कारकहेतु बनानेका क्या प्रयोजन है, यह समझमें नहीं आया!

भावप्रकाशिकाके अनुसार भी सूत्रभाष्यगत पदोंकी योजना इस तरह है :

**भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धि-स्वभावकत्वाद् आश्रमधर्मैरेव लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत इति आशयेन ते धर्मा उक्ताः. गोपने मुख्यं हेतुम् आह अन्वयाद् इति. यतो भगवता समम् अन्वयं=सम्बन्धं प्राप्य वर्तत अतो हेतोः तथा. अत्र** ***('अन्वयाद्' इति हेतुबोधकपदे) 'ल्यब्'लोपे पञ्चमी. (भगवता सह सम्बन्धं प्राप्य वर्तते इति हेतोः. तथाच सम्बन्धाभावएव आविष्करणं सम्भवति नतु सम्बन्धे सति)*** **एते यावद् अन्तःकरणे साक्षात् प्रभोः प्राकट्यं नास्ति तावदेव बहिराविष्करणं भवति प्राकट्येतु न तथा सम्भवति इति**

**ज्ञापितम्.**

इससे यह सर्वथा स्फुट है कि जिसका प्रभुके साथ सम्बन्ध जुड़ गया वह तो भावका (अर्थापत्त्या भावात्मक प्रभु एवं भावात्मिका सेवाका भी) प्रदर्शन नहीं करेगा. यों भावनाविष्करणपूर्वक भगवद्भजनका यह ज्ञापक हेतु है. इसे दुरभिसन्धिवशात् कारकहेतु बनाया गया है : ''(१)अन्त:करणमें साक्षात् प्रभुका प्राकट्य संयोगदशामें होता है, उस समय आश्रमधर्मो द्वारा भगवत्सम्बन्धको गुप्त रखनेपर (२)केवल विरहदशामें ही भगवद्भावका बाहर आविष्करण होता है''. (१)अंशके अन्तर्गत भगवत्सम्बन्धको (२)अंशके बहिराविष्करणक कारक हेतु बना दिया है. किम् आश्चर्यम् अत: परम्!

यह यदि देवलकताप्रयुक्त दुरभिसन्धि नहीं तो अधीत न्यायादिशास्त्रके साथ तो घोर 'अन्याय' ही कहा जायेगा.

(८) वेदान्तधिकरणमालाका इस विषयमें क्या निरूपण है यह देख लेना भी उपकारक होगा : ''**गृहिणोपसंहाराधिकरणे... तयागानुकल्परूपं गृहे स्थित्वा भगवद्भजनं कर्तव्यम् इति विचार्य... तस्य करणप्रकार: तदाधिक्यं, भगवद्भावस्य लोकेषु अप्रकटनं, भगवद्भजनव्यतिरिक्तसमये लौकिककरणं.. विचारितम्. तेन 'विहितत्वात् च आश्रमधर्मापि' इत्येन यत् पूर्वम् उक्तं तस्य प्रकारो बोधित:.**'' अर्थात् इस गृहिणोपसंहाराधिकरणमें ...जिनसे गृहत्याग शकय न हो उन्हें तदनुकल्पतया घरमें रह कर (न कि सार्वजनिक-व्यावसायिक मन्दिरमें जाकर) भगवद्भजन करना चाहिये. यह विचार करनेके बाद... भगवद्भजन कैसे करना, कैसे वह अधिकाधिक अनुष्ठित हो पायेगा, भगवद्भावको लोकमें प्रकट न करने की बात, भगवद्भजनसे व्यतिरिक्त कालमें लौकिक कर्मोंको करनेकी बात... विचारी गई. इससे ''विहित होनेके कारण आश्रमधर्म भी'' अंशसे जो कुछ पहले कहा गया उसका प्रकार बोधित हुवा.

यहां स्वगृहमें भजनके एक आवश्यक अंगतया भावसंगोपनकी जो बात कही जा रही है वह शाखाचंक्रमणशील शाखामृगोपम बुद्धिवालोंकी

बातोंको क्षम्य तथा उपेक्षणीय ही जानकर चलें तो भी इतना तो एकदम कूढ़के भी समझमें आ पानेवाली बात है कि भावात्मक भगवत्स्वरूपकी भावात्मिका भगवत्सेवाके मुख्यांगभूत भावका संगोपन अर्थापत्तिद्वारा भगवत्स्वरूप एवं भगवत्सेवाके भी संगोपनमें ही पर्यवसित होता है.

देवलकोंकी विवशताके लिये भी, अत:, यहां मानवीय सहानुभूति रखनेका भी कोई सैद्धान्तिक अवकाश नहीं! कुल मिलाकर इतनी सारी अष्टविध दुरुद्धर अनुपपत्तियोंके बावजूद यहां कृष्णसेवाप्रदर्शनका निषेध न मानना विमर्शकारका सर्वभक्तजनविगर्ह्य महासाहस ही सिद्ध होता है. अस्तु.

## (ख)

सिद्धानतवचनावलीमें उद्धृत ''**स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्**'' (सा.दी.१०८) वचनको विमर्शकारने उचिततया पूर्णरूपेण उद्धृत किया हे. फिरभी जो अवधेयांश छूट गया है उसे भी साथ-साथ सम्मुख रखनेपर वचन इतना है : ''**कुर्यात्. ...शृंगारं रंजितै: वस्त्रै: चित्रै: आभरणैरपि मायुरमुकुटै: रम्यै: वेणुवेत्रै: सुमाल्यकै: वितानै: प्रसरै: शुभ्रै: प्रतिसारै: नवैर्नवै: जलक्रीडोपस्करै: च ताम्बूलामोददर्पणै: व्यजनै: जलभृंगारै: देशकालानुसारिभि: अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्.**'' (सा.दी. १०५-१०८)

स्पष्ट है कि इस सम्पूर्ण पदराशिमें दो मुख्य विध्यर्थक क्रियापद हैं :'कुर्यात्' तथा 'प्रदर्शयेत्'; एवं, एक ''समानकर्तृकयो: पूवकाले''सूत्रनिर्दिष्ट अर्थमें ल्यबन्त क्रियापद है 'अलंकृत्यैव'. अत: जैसा कि विमर्शकारने यहां यहां झांसा दिया है उसमें का परस्पर विरोधाभास पहले अवलोकनीय है :

(१) सख्यभक्तिके बिना शृंगारके समय भगवान्का दर्शन वर्जित (विम.पृ.सं.७८)

(२) ''सख्यता बिना सिंगार होत समै काहूकों दरसन न होई यह मार्गकी मर्यादा है'' (२५२ वै.वा.प्र.खं.३९५से उद्धृत विम.पृ.सं.७८)

(३) ध्यातव्य है कि स्वकीय भक्तोंको भी भगवान्‌का दर्शन शृंगारके समय नहीं कराया जाता (विम.पृ.सं.७८)

लगता है कि 'सख्यता' तथा 'स्वीयभक्त' होनेमें भी कोई गूढ़ अर्थभेद है. खैर... पूछनेका यों बनता है कि किसी भी तरहकी भक्तिके बिना ही आजकल तो केवल नोकरीके लिये मुखिया-परिचारकोंकी बटालियन व्यावसायिक मन्दिरोंको चलानेको भगवत्सेवार्थ नियुक्त होती है; तथा उन्हें शृंगार करते समय भगवान्‌के दर्शन न हो जायें ऐसे बाहर तो भेजा नहीं जाता! वार्तामेंसे उद्धृत वचनके अनुसार जबकि शृंगार किये जाते समय सख्यताके बिना दर्शन करानेका निषेध प्रतित हो रहा है. अतः इसके आधारपर "**अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्**" की व्याख्या करनेका प्रयास किया गया हे जबकि अलंकरणक्रिया एवं प्रदर्शनक्रिया के बीच पूर्वकालिक तथा उत्तरकालिक होनेका सम्बन्ध प्रतीत हो रहा है.

पूछा जा सकता हे भूतकृदन्त तथा वर्तमानकृदन्त के भेदका विलोपन क्यों?

यदि 'एव'कारसे व्यावर्त्य केवल वर्तमानकालिक अलंकरण हो तब तो प्रश्न उठ सकता है कि भविष्यत्कालिक अलंकरण क्यों नहीं? अर्थात् ***"अलंकृत्यैव प्रदर्शयेत=अलंकुर्वन् न प्रदर्शयेत्"*** तो इस 'एवं'कारसे व्यावर्त्य ***'अलंकृत्यैव पंदर्शयेत्=अनलंकृत्वा न प्रदर्शयेत्=अलंकरिष्यन् वापि न प्रदर्शयेत्"*** क्यों नहीं? मंगलाके दर्शन खोलनेके शिष्टाचारकी गवाही तो चल नहीं पायेगी. क्योंकि वह स्वीयभक्तोंके ही लिये केवल खोलने या स्वीयास्वीय-भक्ताभक्त सभीके लिये यही तो विप्रत्तिपतिग्रस्त विषय है. जिसका सिद्धवत्कृत्य हेतुतया उपयोग हो नहीं पायेगा.

अतः हठात् हमें यह विचारनेको विवश होना पड़ता है कि 'प्रदर्शयेत्' अपूर्वविधिका बोधक क्रियापद है या नियमविधिका अथवा परिसंख्याविधिका?

अत्यन्त अप्राप्त कृत्यकी प्रापिका अपूर्वविधिका बोधक तो इस

वचनको माना नहीं जा सकता, क्योंकि इस विधानके बिना भी कोई वित्तार्थी (देवलक) वित्तकामनाया स्वत: भी प्रदर्शन कर ही सकता है.

प्राप्त कृत्यको नियत बनानेके हेतु नियमविधिका बोधक वचन इसे माननेपर **''नियम: पाक्षिके सति''** वचनके अनुसार पक्षमें अप्राप्ति दिखलानी पड़ेगी. उस स्थितिमें नियमविधिभार (१)केवल प्रदर्शनक्रियापर मानना अथवा (२)अलंकरणपूर्वक प्रदर्शनक्रियापर या (३)स्वीयत्वविशिष्ट भक्तकर्मक प्रदर्शनक्रियापर या (४)स्वीय-भक्तान्यतर-कर्मक प्रदर्शनक्रियापर अथवा (५)प्रेमसाहित्य विशिष्ट-अलंकरणोत्तरकालिकत्वविशिष्ट प्रदर्शनक्रियापर या (६)प्रेम साहित्यविशिष्ट स्वीयत्वविशिष्ट भक्तकर्मक प्रदर्शनक्रियापर या (७)प्रेमसाहित्यविशिष्ट स्वीय-भक्तान्यतरकर्मकप्रदर्शनक्रियापर या (८)प्रेमसाहित्य विशिष्ट प्रदर्शनक्रियापर?

(१)प्रथम कल्पमें केवल प्रदर्शनक्रियाको किसी भी तरह पाक्षिक अप्राप्त मानकर प्रदर्शन नियमके विधानको स्वीकारनेपर भी सख्यभक्तिके बिना शृंगार होते समय भगवत्प्रदर्शन वर्जित होनेका नियम सिद्ध नहीं होगा.

(२)अलंकरणपूर्वकप्रदर्शनपर विधिभार स्वीकारनेपर मंगला-शयनके दर्शन भी अलंकरणपूर्वक ही खोलने पड़ेंगे.

(३)स्वीयत्वविशिष्ट भक्तकर्मक प्रदर्शनपर विधिभार स्वीकारनेपर विमर्शकारको अत्यन्त अनभिलषित नियम सिद्ध हो जायेगा.

(४)यही गति स्वीय-भक्तान्यतरकर्मक प्रदर्शनपर नियम विधिभार स्वीकारनेपर भी होगी.

(५)प्रेमसाहित्यविशिष्टालंकरणोत्तरकालिकत्वविशिष्ट प्रदर्शनीक्रियापर नियमविधिभार स्वीकारनेपर कतिपय आभूषण प्रेमसहित धराते प्रदर्शनका नियम हो तो शृंगार धराते समय भी प्रदर्शन नियत हो जायेगा.

जिस दिन जितने शृंगार नियत हों उतने सकल आभूषण प्रेमसे धराते

ही प्रदर्शन नियत हो तो जन्माष्टमीके दिन नियत सकल आभूषण धराकर शृंगार दर्शन खोलनेमें चरितार्थ हो जानेके कारण नवमीके पलनाके दर्शन कराना नियत नहीं रह जायेगा. यदि ह्यस्तनिक सकल शृंगारके कारण प्रेमसहित अलंकृत तो ठाकुरजी तो हैं ही अत: नवमीके दिन भी प्रदर्शन नियत मान लेते हैं तो शृंगारके बाद गोपीवल्लभभोग-राजभोगादि समय भी प्रेमसाहित्य-विशिष्टालंकरणपूर्वकता निमित्त विद्यमान होनेसे उस समय भी प्रदर्शन नियत हो जायेगा. किसी भी सूरतमें शृंगार धराते समय भगवत्प्रदर्शनका निषेध तो इस कल्पमें भी निकलता नहीं है.

(६)इस कल्पमें भी जो प्रेमसहित अपने भक्त दर्शनार्थी हों तभी प्रदर्शन नियत सिद्ध होगा.

(७)इस कल्पमें भी प्रेमयुक्तस्वीयजन; अथवा प्रेमयुक्त अस्वीयभक्त भी, यदि दर्शनार्थी बनकर आयें तभी भगवत्प्रदर्शन नियत माना जायेगा अन्यथा नहीं. ये छठे-सातवें दोनों ही कल्प विमर्शकारको तो अत्यन्त अनभीष्ट हैं.

(८)इस कल्पमें भी हृदयमें जब प्रेम उभरता हो तभी प्रदर्शन नियत होगा अन्यथा नहीं. अत: महाराजश्रीके परदेशमें बिराजनेपर दर्शन खोलने अनिवार्य नहीं रह जायेंगे. वेतनग्राही कर्मचारी मुखियाजीके हृदयमें प्रेम उभरनेको निमित्त माननेपर तो उन्हें नियामक भी मानना पड़ेगा.

इसलिये ‘‘**अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्**’’को नियमविधिके रूपमें विमर्शकार मान्य कर नहीं पायेंगे. पुनश्च ‘‘**सख्यता बिना सिंगार होते समै काहूंको दरसन न होई यह मार्गकी मर्यादा है**’’ विधानमें सख्यता द्वापरयुगके गोपबालकों जैसी लेनेपर तो आधुनिक गोस्वामिसमुदाय तथा मुखिया-परिचारकों भी दर्शनसे वंचित होना पड़ेगा. अत: ‘‘गोस्वामिओंके साथ सख्यता एवं कृष्णभक्ति होनेपर दर्शनाधिकारिता’’ का अभिप्राय स्वीकारनेपर अर्थात् ‘स्वीयभक्तता’ को शृंगार धराते समय दर्शनार्थीके अधिकारलक्षणतया मान्य करनेपर ‘‘**अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयान्**

**भक्तान् प्रदर्शयेत्**'' विधानमें अलंकरणोत्तर कालिक प्रदर्शनमें ही स्वीयभक्तोंकी भी अधिकारिताके कारण अलंकरणकालमें उनकी भी अनधिकारिता ध्वनित होगी. ''**समानकर्तृकयो: पूर्वकाले समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्**'' (पा.सू.३।४।२१,३७) अर्थात् किन्हीं दो पूर्वोत्तर क्रियाओंका कर्ता एकही हो तो पूर्वकालिक क्रियामें 'क्त्वा' अथवा उपसर्गसे जुड़ी होनेपर क्रियापदको 'ल्यप्' प्रत्यय लगता है. 'एव'कारसे उस क्रिया--प्रकृतमें अलंकरण क्रिया--की पूर्वकालिकताका अवधारण (=तदभावाप्रकारक-तत्प्रकारकज्ञान) स्वीकारनेपर अर्थात् प्रभुको शृंगार धरा लेनेके बाद ही प्रदर्शनकी छूट होगी शृंगार धरानसे पहले नहीं. ऐसा अर्थ लेनेपर न केवल धराते समय अपितु धरानेसे पूर्व शयन मंगलाके दर्शनोंका भी व्यावर्तन हो जायेगा. जबकि वर्तमानकालमें तो शयन मंगलाके नित्य प्रदर्शनोंमें ही प्राय: जनसम्मर्द अधिक होता है. इस ''अलंकरणोत्तरकालिकताविशिष्टप्रदर्शन''में प्रदर्शन विशेष्यकोटिगत है तथा अलंकरणक्रिया विशेषणस्वरूपघटक होनेसे वशेषणान्त:पातिनी होगी. ऐसी स्थितिमें विशेषणान्वित या तो 'एव'कार ''परंब्रह्मैव कृष्ण:'' की तरह अयोगव्यवच्छेदक होगा. अथवा अन्ययोगव्यवच्छेदक लेनेपर ''परंब्रह्मान्य: कृष्णभिन्न:''की तरह अन्योन्याभाव बोधक होगा. दोनों ही कल्पोंमेंसे प्रथममें तो केवल ''आलंकरणोत्तरकालिकमेव प्रदर्शनम्'' कहने मात्रसे ''सख्यभक्तिके बिना शृंगार होते समय भगवान्का दर्शन वर्जित है'' नियमका निरूपण सम्भव नहीं होगा. क्योंकि ''प्रदर्शन कभी अलंकरणोत्तरकालिकतारहित नहीं हो सकता'' बस इतना ही अर्थ निकलता है. 'प्रदर्शन' क्रिया द्विकर्मक होनेसे तत्स्वरूपनिष्पादक कारकतया स्वीयभक्तोंके भी अपरिहार्यतया लेना ही हो तब तो शयन-मंगलाके दर्शनकी निषिद्धताके अलावा शृंगार करते समय मुखिया-परिचारकोंकी उपस्थिति भी वर्जित माननी पड़ेगी!

'एव'कारको अन्ययोगव्यवच्छेदक मान कर चलनेपर ''यद् अलंकारणोत्तरकालिकक्रियातो अन्यत् कर्म तत् प्रदर्शनभिन्नं कर्म'' अर्थ होगा. यहां भी प्रात:कालमें प्रभुको जगा कर मंगलाके दर्शन खोलनेकी क्रिया अलंकरणो्तरकालिक क्रियासे इतर कर्म होती है परन्तु वह प्रदर्शनसे भिन्न

नहीं होती. अत: विमर्शकारको जो अभिष्ट है वह सिद्ध नहीं हो पाता है. यहां भी द्विकर्मक क्रिया स्वरूपसम्पादक स्वीय भक्तको कारकतया अन्तर्निविष्ट माननेपर ''यद् अलंकरणोत्तरकालिकक्रियातो अन्यत् कर्म जनसाधारणकर्मकं मंगलाप्रदर्शनरूपं कर्म तत् स्वीयभक्तकर्मप्रदर्शनभिन्नं कर्म'' कहना मुश्किल होगा. क्योंकि जनसाधारणमें दो एक भी स्वीयभक्त दर्शनार्थितया सम्मिलित हों तो ''स्वीयभक्तकर्मकप्रदर्शनसे भिन्न''तया सिद्ध नहीं हो पायेगा. एतदर्थ ''स्वीयभक्तमात्रकर्मकप्रदर्शन'' अर्थ लिया जाता हो तो 'एव'कार अलंकरणरूपा क्रियासे अन्वित होनेके बजाय ''स्वीयान् भक्तानेव'से अन्वित हो जायेगा. यह पुन: विमर्शकारके लिये महती विपत्ति सिद्ध होगी.

अत: न तो अपूर्व विधि, न नियमविधि; और, न अलंकरणक्रियान्वित एवकारप्रयुक्त व्यावर्तनवशाद् ही विमर्शकारको अभीष्ट अर्थ इस वचनका प्रतिपाद्य विषय हो सकता है. प्रस्तुत वाक्यविषय सुस्पष्टतया स्वीयत्वास्वीयत्वान्यतरविशिष्ट भक्तकर्मक देवलकत्वादिमोहजन्य उभयत्र रागप्राप्त प्रदर्शनके परिसंख्यानार्थ ही सिद्ध होता है कि ''स्वीयान् भक्तानेव प्रदर्शयेत्'' ऐसी स्थितिमें 'एव'कार एवमर्थक भी हो अथवा अवधारणार्थक (उदा. : ''त्वमेव देव ! जानासि'' अर्थात् ''तुम स्वयं जानते हो'' आवश्यक नहीं कि एतावता इतरव्यावर्तन द्वारा दूसरा न जानता हो) अथवा वाक्यपूरणार्थक भी हो सकता है.

यहां यह अवधेय है विशेष्यकोटिमें भक्तके उल्लेखके कारण अभक्तके सन्मुख तो भगवत्स्वरूपसेवाका प्रदर्शन परिसंख्याविधिद्वारा ही व्यावर्तित है. 'स्वीय' विशेषण उन भक्तोंमें भी जो स्वीय न हों उनके व्यावर्तनार्थ फलित होता है. अर्थात् कुलसम्बन्धाभाववश स्नेहसम्बन्धाभाववश या साधर्म्यसम्बन्धाभाववश जो अस्वीय हों उनके व्यावर्तनार्थ है. पारिशेष्याद्, प्रभु अलंकृत हों या अनलंकृत, स्वगृहमें बिराजमान भगवत्स्वरूपसेवाका प्रदर्शन जो भक्त हो परन्तु स्वीय न हो अथवा स्वीय हो परन्तु भक्त न हो, ऐसे किसीको भी स्वत:प्रवृत्त हो कर नहीं करना चाहिये. कोई हठात् या यदृच्छया दर्शन पा लेता है एतावता सेवाकर्ता दोषभाक् नहीं बनता. स्वत:निषिद्धाचरणार्थ प्रवृत्त न होनेके कारण, यह

परिशेष्यात् लब्ध निष्कर्ष है. यही श्रीगोपीनाथप्रभुचरणकी "...अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्" आज्ञाका स्वारसिक अर्थ निकलता है.

मूलमें ये कारिकायें सर्वनिर्णय निबन्धकी महाप्रभूपदिष्ट जिन कारिकाओंके सारसंग्रहतया एवं भाष्यतया लिखी गई हैं उनपर भी दृष्टिपा कर लेना उचित होगा :

कारिका :

**यथा सुन्दरतां याति वस्त्रैराभरणैरपि ।**
**अलंकुर्वीत सप्रेम तथा स्थानपुरस्सरम् ।।**
**भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम् ।**
**उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेद् ।।**
**तत्त्यागे दूषणं नास्ति यतो विष्णुपराङ्मुखाः ।**

**प्रकाश :**

यथा सुन्दरतां यातिइति. सप्रेम इति अनुद्वेगार्थम्. स्थानम् मन्दिरं, तदलंकारपूर्वकमेव भगवदलंकरणं कर्तव्यम् इति अर्थः. एवं प्रवृत्तस्य भार्यादीनां विनियोगम् आह भार्यादिः अनुकूलः चेद् इति. भार्यादिकं गृहं, विष्णुपराङ्मुखाः भार्यादयः, अन्यथा परित्यागे दोषएव. अनेन अवैष्णवैः सह अस्मिन् मार्गे न स्थातव्यम् इति उक्तं भवति (त.दी.नि.२।२३०-२३१)

कारिकानुवाद :

जिस तरह वे सुन्दर लगने लगें उस तरहके वस्त्रों तथा आभूषणों से प्रभुको प्रेमसहित अलंकृत करना चाहिये. इनसे भी पहले उनके बिराजनेके स्थलको अलंकृत करना चाहिये. पत्नी आदि पारिवारिक जन अपनी भगवत्सेवाके अनुकूल हों तो उनसे भी भगवत्कार्य करवाना चाहिये. उनके उदासीन होनेपर स्वयं करना चाहिये तथा प्रतिकूल होनेपर गृहका त्याग करना चाहिये.

> <u>प्रकाशानुवाद:</u>
>
> 'जिस तरह सुन्दर लगने लगे' यहां. 'प्रेमसहित' कहनेका अभिप्राय जिस तरह अलंकृत करनेसे उद्वेग न होता हो उस तरह सेव्य प्रभुको अलंकृत करना चाहिये. 'स्थल' यानि प्रभुके बिराजनेका मन्दिर, इस तरह मन्दिरको सजानेके बाद ही प्रभुको शृंगार धराना चाहिये. इस तरह जो भगवत्सेवामें प्रवृत्त हुवा हो उसे अपनी पत्नी आदिका भी भगवत्सेवामें विनियोग करना चाहिये. 'गृहके त्याग' का अर्थ है--अपनी पत्नी आदि परिवारके जनोंका त्याग. त्याग इनके विष्णुपराङ्मुख अर्थात् अवैष्णव होनेपर करना चाहिये. अन्यथा परित्याग करनेपर दोष लगता है. इस कथनका आशय यही है कि अवैष्णव (वैष्णवविरोधी) के साथ इस पुष्टिमार्गमें रहना नहीं चाहिये.

ऐसी स्थितिमें प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीने भी जो ''**अलंकृत्यैव सप्रेम**'' कहा है उसका आशय ''अनुद्वेगार्थ अलंकरण करके ही'' ऐसा लिया जाना ही अधिक उचित लगता है बजाय कि विमर्शकारद्वारा उत्प्रेक्षित व्याख्यारीतिके. इसी तरह प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजी जब 'स्वीयान्' पदका प्रयोग कर रहें हैं तब उन्हें महाप्रभुनिर्दिष्ट 'भार्यादि' ही विवक्षित है; तथा जो 'भक्तान्' पदका प्रयोग किया उसकेद्वारा भी महाप्रभुनिर्दिष्ट 'अनुकूल:' विशेषण ही विवक्षित है. इसका मुख्य कारण यही है प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीतो अपने पितृचरण महाप्रभुके उपदेशानुसरणशील पुत्र हैं अत: वैष्णव-अवैष्णव सबको दर्शन करानेकी विमर्शकारके जैसी मनोवृत्ति प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीमें सम्भव नहीं है.

विमर्शकारके हृदयको दु:सह आघात पहुंचानेवाली बात तो हमनाम टिप्पणीकार श्रीकल्याणरायजीने कही है : 'अनेनेति'. 'न स्थातव्यम्' इति उपलक्षणमेव अवैष्णवानां सिद्धान्नमपि न ग्राह्यम्...'' (यहीं). पुन: यहां 'सिद्धान्त'को द्रव्यका उपलक्षण मान लिया जाये तो निश्चय ही विमर्शकारके हृदयको आघात लग सकता है कि दर्शनकी छूट माननेका कोई आर्थिक लाभ

नहीं रह जायेगा.

**(ग)**

वैसे यह एक हकीकत है कि श्रीहरिरायचरणने ६६ अपराधोंमें इसी अवैष्णवसंगकी वर्ज्यताको लक्षमें रखकर 'स्वीयभक्त' अथवा 'अनुकूलभार्यादि' दोनों अर्थों एकहेलया कहनेवाला --"**११तमो अपराध: = अवैष्णवस्य, स्वसेव्यप्रदर्शनम्. फलं=वार्षिकसेवा निष्फलत्वम्. प्रायश्चित्तं = पञ्चामृतस्नानम्**" निरूपण किया. स्पष्ट है यही बात श्रीहरिरायचरण भावप्रकाशमें भी दुहरा रहें हैं--"**अपने श्रीठाकुरजीके दर्शन अन्यमार्गीको न करावने यहु जतायो**"(२५२ वैष्ण.वा.३८।१). यहां विमर्शकारद्वारा किया गया कुविमर्श यों है : "**यद्यपि अन्यमार्गीयोंको अपने सेव्यस्वरूपका दर्शन कराना निषिद्ध प्रतीत होता है तथापि अन्यमार्गीयोंको भी दर्शन करानेकी परंपरा दृष्टिगोचर होनेसे उक्त वाक्यका तात्पर्यार्थ अन्य ही कुछ होना चाहिये**" (विम.पृ.सं.७८)

इसके बाद वार्ता-वचनामृतोंसे कुछ उदाहरण देकर यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि अभक्तकों दर्शन नहीं कराने चाहिये परन्तु भक्त कोई भी चाहे स्वीय या अस्वीय हो उसे दर्शन कराये जा सकते हैं. अतएव "भगवन्तं सप्रेम अलंकृत्यैव स्वीयान् प्रति प्रदर्शयेत्" तथा "भगवन्तं सप्रेम अलंकृत्यैव भक्तान् प्रति प्रदर्शयेत्" इस तरह वाक्यभेदको प्रस्तावित किया है! (विम.पृ.सं.८०) व्यावसायिक भगवत्सेवाप्रदर्शनको आंच न आये एतदर्थ अश्रुतपूर्व भगवद्दर्शन करानेके सम्बन्धमें व्यवस्था भी प्रस्तावित की है कि "**भगवद्दर्शन करनेके लिये जो कोई आता है, भगवद्भक्त होता इस भावनाको रख कर ही उसे भगवान्का दर्शन कराना उचित है, नकि उसे अभक्त जानते हुवे**" (विम.पृ.सं.८०)

श्रीहरिरायचरणद्वारा निरूपित--"**अवैष्णवके समक्ष स्वसेव्यका प्रदर्शन करनेपर वार्षिकसेवाकी निष्फलता**"--के बारेमें भी विमर्शकारका कहना है कि यहां 'अवैष्णव' पदका अर्थ 'अभक्त' कर लेना चाहिये.

क्योंकि श्रीगुसांईजीने मीराबाईको श्रीनाथजीके तथा गोविन्ददास खवासको मन्त्रोपदेशके पूर्व भी श्रीनवनीतप्रियाजीके दर्शन कराये थे (विम.पृ.सं.८१)

विमर्शकारका यह भी कहना है कि साधनदीपिकामें श्रीगोपीनाथजीने विवक्षित न होनेके कारण--''**अलंकृत्यैव सप्रेम स्वभक्तानेव दर्शयेत्**'' नहीं कहा अन्यथा कहते ही.

प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीने तो, ''अलंकृत्यैव स्वीयान् वा भक्तान् वापि प्रदर्शयेत्'' भी नहीं कहा! अत: इस कल्पको भी विमर्शकार अविवक्षित क्यों नहीं मान लेते?

रही बात विमर्शकारद्वारा प्रस्तावित भगवद्दर्शनसम्बन्धी व्यवस्थाकी कि ''स्वीयबुद्धिसे अथवा भक्तबुद्धिसे सभीको या किसीको भी अपने आराध्यके दर्शन करानेमें कोई दोष नहीं है''. तब तो ''**कर्मणि दृशिविदो: साकल्ये**'' (पा.सू.३।४।२९) नियमके अनुसार प्रभुचरणने ''अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयदर्शं प्रदर्शयेत्'' अथवा ''अलंकृत्यैव सप्रेम भक्तवेदं प्रदर्शयेत्'' क्यों नहीं कहा? लगता है कि विमर्शकाराभीष्ट यही व्यवस्था प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीको सर्वथा अविवक्षित ही नहीं अनभिमत भी है.

महाप्रभु तथा प्रभुचरण द्वारा कराये गये दर्शनोंको लेकर विर्मशकारके द्वारा उठाया गया प्रश्न तो वार्ताविमर्शकी विशोधनिकामें सुविशदतया निरस्त कर दिया जायेगा. वैसे दिङ्निर्देश यहां भी संग्रहकारिकामें प्रस्तुत कर ही दिया गया है.

## संग्रहकारिका

**भाव: प्रमाणं भगवान् प्रमेय: फलं तदेकप्रवणं हि चित्तम् ।।**
**तत्साधनं यत्तनुवित्तजन्यं चतुष्टयं पुष्टिगृहे सुगोप्यम् ।।१।।**
**देहाभिमाने सति शास्त्रसिद्धै: स्वकीयवर्णाश्रमधर्मरूपै: ।।**
**यद्वा स्वधर्मैरपि लोकसिद्धै: अवर्णिनां पुष्टिपथानुगानाम् ।।२।।**
**तद्विप्रयोगे शिथिलेऽभिमाने प्रदर्शनं नैकतमस्य शक्यम् ।।**
**वक्तुं तु वैकल्यवशात्कदाचित् प्रकृष्टभावे प्रकटेऽपि जाते ।।३।।**

स्वार्थप्रतिष्ठाप्रतिपत्तिकस्य प्रकारएष स्वगृहे स्थितस्य ।।
देवालयेऽवस्थितविग्रहस्य प्रदर्शनं नैव निषिध्यतेऽत्र ।।४।।
सर्वाधिकारे हि निदर्शनं चेद् निवेदनार्हकृतदर्शनं यत् ।।
पाणिग्रहोऽपीह कुमारिकायाः अनूढनार्या रमणे प्रमाणम् ।।५।।
तस्मात्तु या साधनदीपिकायां स्वकीयभक्तस्य कृते ह्यनुज्ञा ।।
स्वार्थप्रतिष्ठाविषयप्रभोर्वै प्रदर्शनस्य प्रकटीकृता सा ।।६।।
प्राञ्चैः कृतं यच्च प्रदर्शनं तत् परार्थदेवालयसंस्थितस्य ।।
श्रीशस्य सर्वोद्धरणव्रतस्य निदर्शनं तस्य कुभावचोद्यम् ।।७।।
रूढार्थमोषेण विलक्षणार्थो विमर्शकारेण विभाषितो यो ।।
त्यागोपदेशाप्तनिषिद्धतायै तिलाञ्जलिं यच्छति सर्वथायम् ।।८।।

सोऽर्थश्चेत्थम्

नो वैष्णवत्वं नच भक्तिमत्त्वं न स्वीयता सन्ति नियामकानि ।।
स्वाराध्यसंराधनसम्प्रदर्शे नियामका स्यान्मतिरीदृशी वै ।।९।।
भूतिप्रतिष्ठापदमोहजाता निषिद्धतायाः कुविमर्शरीतिः ।।
धर्म्यं वदेद् गोत्रमतेरभावे सगोत्रकन्याकरपीडनं वै ।।१०।।
विधिनिषेधकवाक्यविवेचने त्रिदिववारवधूरमणं भवेद् ।।
मुनिकृतं गमकं कृतिनिर्णये तदलमेव तदुक्तिविचिन्तनैः ।।११।।
विधौ वा निषेधे निजाचार्यवाण्यां
तदाचारतो लक्षणामाश्रयन्ति ।।
मुधैव प्रमाणं च तां कल्पयन्ति
वरं ते हि ये न प्रमाणं वदन्ति ।।१२।।

इति श्रीमद्गोस्वामिदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचिता
'सेवाप्रदर्शन'शीर्षकान्तर्गतसंकलितविषयवाक्यविचारे
'विमर्श'विशोधनिका

***

# विशोधनिका



गोस्वामी श्याममनोहर

।।श्रीकृष्णाय नमः।।

।।श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।।

# (क) जघन्याधिकारिताका पुष्टिमार्गीय विवेचन
# और
# (ख)पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (पार्ले-मुंबई : १०-१३जन.९२)
# एक सिंहावलोकन

## (क)

**विचार्यविषयके प्रथम अंग विषयवाक्य :**

द्वया ह वै प्राजापत्याः देवाः च असुराः च ततः कनीयसाएव देवाः ज्यायसाः असुराः च (बृह.उप.१।३।१).

अभयं सत्त्वसंशुद्धिः ज्ञानयोगव्यवस्थितिः दानं दमः च यज्ञः च स्वाध्यायः तपः आर्जवम् अहिंसा सत्यम् अक्रोधः त्यागः शान्तिः अपैशुनं दया भूतेषु अलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीः अचापलं तेजः क्षमा धृतिः शौचम् अद्रोहो नातिमानिता भवन्ति सम्पदं दैवीम् अभिजातस्य, भारत !, दम्भो दर्पोऽभिमानः च क्रोधः पारुष्यमेव च अज्ञानं च अभिजातस्य, पार्थ !, सम्पदम् आसुरी. दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धाय आसुरी मता... द्वौ भूतसर्गौ लोके अस्मिन् दैवः आसुरएव च... प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जनाः न विदुः आसुराः न शौचं नापिच आचारो न सत्यं तेषु विद्यते... (भग.गीता.१६।१-७).

[१]ये चैव सात्त्विकाः भावाः राजसाः तामसाः च ये मत्तएव इति तान् विद्धि. [२]सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभएव च प्रमादमोहौ तमसो भवतो अज्ञानमेव च, ऊर्ध्वं गच्छन्ति

**सत्त्वस्थाः मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः जघन्यगुणवृत्तिस्थाः अधो गच्छन्ति तामसाः (भग.गीता.[1]७।१२ [2]१४।१७–१८).**

**पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक्पृथग् जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च वक्ष्यामि सर्वसन्देहाः न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः... सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपांगक्रियायुतम्, इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः. मूलेच्छातः फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेऽपि च कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकधा... स्वरूपेण अवतारेण लिंगेन च गुणेन च तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा तथापि यावता कार्यं तावत् तस्य करोति हि. तेहि द्विधा शुद्धमिश्रभेदाद् मिश्राः त्रिधा पुनः, प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये... प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपांगक्रिया–युतान्. जीवाः ते हि आसुरा सर्वे 'प्रवृत्तिं च...' इति वर्णिताः. तेच द्विधा प्रकीर्त्यन्ते हि अज्ञदुर्ज्ञविभेदतः. दुर्ज्ञाः ते भगवत्प्रोक्ताः हि अज्ञाः ताननु ये पुनः. प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थः तैः न युज्यते. सोऽपि तैः तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः (पु.प्र.म.१–२५).**

**विषयवाक्यविवेचन :**

इन श्रुत्यादि प्रमाणवचनोंके तथा तन्मूलक आचार्यवचनोंके भी अवलोकन करनेसे इतना तो सुनिश्चित है ही कि इस भगवल्लीलारूपा सृष्टिमें सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मके चिदंशभूत जीवोंके सर्ग, स्वरूप, स्वभाव, मार्ग, साधनावस्था, तदन्तर्गत अवान्तरव्यापारानुष्ठान; और फलप्राप्ति में एकमेवाद्वितीय तत्त्वके बहुभवनके संकल्पवश प्रकट हुयी विभिन्नता इस सृष्टिकी एक ब्राह्मिक वास्तविकता है.

फिरभी उल्लिखित श्रुतिवचनमें प्राजापत्योंका द्वित्व प्रतिपादित किया गया है और तदनुसार भगवद्गीताके भी "**द्वौ भूतसर्गौ लोके अस्मिन् दैवः**

**आसुरएव च**'' वचनमें भी दैवत्वेन या आसुरत्वेन भगवान्‌के द्वारा किये गये दो तरहके वरणके वश जीवप्रभेद स्वीकारा गया है. लोकमें इन दोनों तरहके जीवोंके प्रकट होनेपर इनमें अपने-अपने स्वरूपानुरोधवश स्वभावोंका द्वैविध्य भी यहीं भगवद्‌गीतामें दिखला दिया गया है. बावजूद इसके, क्योंकि सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मकी सदंशभूता त्रिगुणात्मिका प्रकृति( माया )के विकारतया उद्‌भूत देह इन्द्रिय प्राण एवम् अन्तःकरणों की उपाधिओंसे ग्रस्त जीवात्मा ही जगत्‌में जनम लेती है; अतः जीवात्माओंमें भी औपाधिक त्रैगुण्य प्रकट हो जाता है. अतएव भगवद्‌गीताके अन्तिम षट्‌कके तीन अध्यायोंमें दैवासुरसम्पद्‌विभागयोग श्रद्धात्रयविभागयोग; तथा संन्यासयोगके आनुषंगिकतया भी, जीवात्माके साथ जुड़ी श्रद्धा यजनीयनिष्ठा तप आहार यजन यज्ञतपोदानादिके प्रयोजन ज्ञान ज्ञेय ज्ञाता करण कर्म कर्ता बुद्धि धृति एवं सुख आदिरूपोंमें अनेकविध त्रिगुणात्मकताका प्रतिपादन मिलता है. जीवोंमें ये विविध प्रकारके त्रैगुण्य जीवात्माओंके देहधारी बननेपर ही प्रकट होते हैं.

इस औपनिषदिक निरूपणके सन्दर्भमें सर्वप्रथम यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि आचार्यचरणाभिप्रेत जीवत्रैविध्यके अन्तर्भूत मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय जीव ''**'तान् अहं द्विषतो' वाक्याद् भिन्नाः जीवाः प्रवाहिणः. अतएव इतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः**'' (पु.प्र.म.११) इस वचनके अनुसार उपनिषद्‌भगवद्‌गीतोक्त दैव वर्गके ही अवान्तर भेद हैं.

> परन्तु ''**वैष्णवत्वं हि सहजं ततो अन्यत्र विपर्ययः, सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थाः तथा अपरे 'चर्षणी'शब्दवाच्याः ते. ते सर्वेसर्ववर्त्मसु क्षणात् सर्वत्वम् आयान्ति रुचिः तेषां न कुत्रचित्... प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपांगक्रियायुतान्. जीवाः ते हि आसुराः सर्वे'प्रवृत्तिं च...' इति वर्णिताः. तेच द्विधा प्रकीर्त्यन्ते हि अज्ञदुर्ज्ञविभेदतः. दुर्ज्ञाः ते भगवत्प्रोक्ताः अज्ञाः तान् अनु ये पुनः**'' **(पु.प्र.म.२१-२५).**

इस प्रतिपादनमें जो पुनः प्रवाही जीवोंके दुर्ज्ञ और अज्ञ जीवरूपी दो अवान्तर प्रभेद दिखला दिये गये हैं यह विषय किञ्चित् विवेचनसापेक्ष है.

क्योंकि इन दोनों प्रकारोंके अन्तर्गत अज्ञजीवके प्रवाही या चर्षणी होनेका स्वभाव, एकसे आरम्भ कर सहस्रपरिवत्सर पर्यन्त भी क्यों न हो, होता है वह परिगणित जन्ममरणके चक्रवत् चलते सान्त प्रवाहमें अन्तःपातको लक्ष्यमें रख कर ही. जबकि दुर्ज्ञजीवका प्रवाही या चर्षणी होना सृष्टिके आदिसे लेकर महाप्रलय पर्यन्त निरन्तर चलते जन्ममरणके चक्रवत् प्रवाहको लक्ष्यमें रख कर किया गया है. क्योंकि सुस्पष्ट शब्दोंमें महाप्रभु अज्ञजीवोंको भगवत्प्रोक्त आसुरभावोपेत माननेके बजाय दुर्ज्ञजीवोंके अनुसरणवश ही आसुरभावापन्न होनेवाले मान रहे हैं. अतः दुर्ज्ञजीवोंको 'आसुर' कहना यदि उचित हो तो, अज्ञजीवोंको 'आसुरावेशी' कहना ही उचित होगा.

इस तरहके आसुरावेशके मूलमें दो कारण दिखलायी देते हैं :

[१]संसारनिवृत्त्यौपयिक जन्मवरणके अभावमें जीवके भीतर श्रद्धा, यजनीयविशेषमें निष्ठा, यज्ञतपोदानादिके प्रयोजन, तदनुष्ठानौपयिकी बुद्धि धृति या सुखस्पृहा, तन्मूलक ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता या करण-कर्म-कर्ता की अन्यतर त्रिपुटीमें तामसी दुर्ज्ञ असुरोंके अनुसरणवश पनपी सात्त्विक-तामसता या राजस-तामसता होती है.

अथवा

[२]भगवदवतारकालिक लीलाविशेषमें दो-चार जन्मोंमें अपेक्षित भगवल्लीलात्मिका तामसी आसुरभावावेशिता भी पुराणोंमें वर्णित हुयी है.

क्योंकि श्रुतिमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि रमणीय अर्थात् शुभ आचरणवाले जीवोंको रमणीय शुभयोनि मिलती है और कपूय अर्थात् अशुभ आचरणवाले जीवोंको अशुभयोनि. अतः ये शुभाशुभ कर्म अपने भीतर बिराजमान अन्तर्यामी परमात्माकी प्रेरणाके अनुसार ही जीव करता है :

**१.''तद् ये इह रमणीयचरणाः अभ्याशो ह यत् ते रमणीयां योनिम् आपद्येरन्... अथ ये इह कपूयचरणाः अभ्याशो ह यत् ते कपूयां योनिम् आपद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा'' (छान्दो.उप.५।१०।७).**

**२.''एष उ एव एनं साधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषते. एष उ एव एनम् असाधु कर्म कारयति तं यम् अधो निनीषते'' (कौषि.उप.३।८-९).**

**३.''अथ एतयोः पथोः न कतरेण च तानि इमानि क्षुद्राणि असकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्व इति एतत् तृतीयस्थानं ... तस्माद् जुगुप्सेत... स्तेनो हिरण्यस्य, सुरां पिबन् च, गुरोः तल्पम् आवसन्, ब्रह्महा एते पतन्ति चत्वारः; पञ्चमः च आचरन् तैः'' (छान्दो.उप.५।१०।९).**

इन तीन वचनोंमेंसे अन्तिम वचनमें यह कहा गया है कि साधारणतया असाधु कर्मोंके आचरण करनेके कारण अशुभयोनि या पातकी या नरकगामी होनेकी अधोगति जीवोंको प्राप्त होती है. साथ ही साथ, किन्तु, यह भी कहा गया है कि ऐसे पतित जीवोंके संग करनेवाले भी सहचारितया पतित गिने जाते हैं. यह ''पञ्चमः च आचरन् तैः'' श्रुतिके वाक्यांशमें निरूपित हुवा है. अतएव याज्ञवल्क्यादि स्मृतिओंमें भी ''ब्रह्महा मद्यपः स्तेनः तथैव गुरुतल्पगः एते महापातकिनो यः च तैः सह संवसेत्'' (याज्ञ.स्मृ.प्राय.अध्या.२२७) सदृश वचन उपलब्ध होते हैं.

इन और ऐसे अन्य भी अनेक पातक या उपपातक कर्मोंकी तरह उनके प्रायश्चित्तोंकी भी लम्बी सूची धर्मशास्त्रमें मिलती है. अतः प्रायश्चित्तद्वारा शुद्ध हुवे जीवोंको अधोगामी माना नहीं जा सकता. अन्यथा प्रायश्चित्तविधिके व्यर्थ होनेकी आपत्ति होगी. इन आसुरावेशिओंद्वारा अनुसरणीय माने जाते जो आसुर जीव होते हैं वे तो अपने पातक कर्मोंको कभी हेय या अनिष्टजनक मान नहीं पाते. अतएव प्रायश्चित्तार्थ भी उत्सुक या उद्यत हो नहीं पाते. यों भगवद्गीतोक्त ऊर्ध्वगामी सात्त्विक और अधोगामी तामस जीवोंसे अतिरिक्त तृतीय राजसकोटिके जीवोंकी एक पृथक्कोटि मान्य रखनी पड़ती है. अतएव सात्त्विक दैवी(पुष्टि/मर्यादा) जीवों और तामस दुर्ज्ञजीवों के वर्गोंसे पृथक् तामसभावापन्न सात्त्विक या राजस अज्ञजीवोंके मध्यपाती वर्गका प्रतिपादन आचार्यचरणने भी किया है. अतएव जब ये मध्यपाती सात्त्विक या राजस जीव तामस जीवोंका संग

और तामस कर्मोंका आचरण छोड़ कर, अर्थात् अपने सात्त्विक या राजस जन्म या मनोवृत्ति के कारण पनपी औपाधिकी तामसताको छोड़ कर, सात्त्विकताकी दिशामें अग्रसर होना चाहते हों तो ऐसा भी एक वर्ग जघन्याधिकारियोंका स्वीकारना ही पड़ता है.

तामस समुदायमें जन्म या संग के वश इन सात्त्विक या राजस जीवोंमें न तो ऊर्ध्वगमनसामर्थ्यरूपा सात्त्विकता प्रकट हो पाती है और न अधोगमनार्हतारूपा तामसिकता ही. ऐसे मध्यमकोटिके राजस जीवोंके भीतर भी दुःसंग या प्राक्तनजन्मीन दुष्कर्मोंके कारण तामसस्वभाव तामसगुण तामसकर्माचरण और तामसमनोभाव प्रकट होते हैं.

इसी तरह इन्हीं दोनों वर्गोंके कुछ अन्य जीवोंमें अज्ञानजन्य तामसिकता भी सम्भव है. अतएव भगवद्गीताके **''सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभएव च प्रमादमोहौ तमसो भवतो अज्ञानमेव च''** वचनमें लोभको राजस भाव माना है. ज्ञानमूलक सन्तोषके भाव/व्यवहार और अज्ञानमूलक असन्तोषके भाव/व्यवहार के बीच आन्दोलित अस्थिरता राजसी ही होती है, अतः लोभको राजसताके अन्तर्गत मान्य रखा गया है. तामसताके अन्तर्गत अज्ञान प्रमाद और मोह को गिनाया गया है. स्वाभाविक रूपमें तामसकर्माचरण और तामसगुणधर्म जो अज्ञान या प्रमाद के वश प्रकट होते हैं, उनका तो निवारण तात्त्विक ज्ञान या प्रायश्चित्त द्वारा सुकर होता है. इसके विपरीत तामसिक मोहसे ग्रस्त व्यक्तिके उदाहरणमें इन दोषोंका निवारण शक्य नहीं हो पाता.

**सर्वविधपुरुषार्थसाधारण जघन्याधिकारके प्रभेद :**

इन सारे तथ्योंको लक्ष्यमें रखनेपर, न केवल आत्मोद्धारौपयिक पुष्टिमार्गीय या मर्यादामार्गीय कर्म-ज्ञान-भक्तिलभ्य मुक्ति या धर्म से सम्बन्धी अलौकिक पुरुषार्थोंमें ही; अपितु व्यवहारौपयिक अर्थकामादिसे सम्बन्धी लौकिक पुरुषार्थोंके बारेमें भी जघन्याधिकारिताके तीन प्रकार सोचे जा सकते हैं : [१]अज्ञान या प्रमाद से जन्य अनिन्दित जघन्याधिकार [२]तामसिक संग या मानसिकता से अध्याहृत निन्दित जघन्याधिकार और [३]स्वभावविहित

तामसिकताके वश निषिद्ध जघन्याधिकार. इनमें तामसता समान होनेपर भी अज्ञान या प्रमाद तो बुद्धि या शरीर से सम्बन्धी निवारणार्ह मन्दता या अदक्षता होनेके कारण समानकोटिमें निविष्ट मानी गयी हैं. अतएव अज्ञान प्रमाद या दुःसंग की उपाधिके कारण पनपी अज्ञजीवोंकी औपाधिकी तामसिकता उन्हें प्रवाहकोटिगत अनिन्दित या निन्दित जघन्याधिकारी बनाती है. जबकि स्वाभाविकी तामसिकता दुर्ज्ञजीवोंको निषिद्धकोटिगत जघन्याधिकारी सिद्ध करती है.

**विचार्यविषयके द्वितीयांग संशयका स्वरूप :**

**संशयघटक प्रथमकल्प :** यों इन तीन कोटियोंको लक्ष्यमें रख कर पुष्टिमार्गमें जघन्याधिकारिताकी शास्त्रीय विवेचनाके हेतु जब हम अग्रसर होते हैं तो लगभग इतने तरहके कल्प विचारार्थ प्रस्तुत होते हैं :

(१) जीवसृष्टिके पुष्टि मर्यादा या प्रवाह रूपी त्रिविध सर्गभेदमें जघन्याधिकारिता. इसके अन्तर्गत : /क/पुष्टिप्रवाह या मर्यादाप्रवाह अवस्थावाले अनिन्दितकोटिके सात्त्विक जघन्याधिकारी होते हैं. /ख/दुष्कर्मजन्य दुर्वासनाके वश या दुःसंगवशात् प्रावाहिकी तामसी मनोवृत्तिवाले सात्त्विक या राजस कोटिके अज्ञजीव निन्दितकोटिके जघन्याधिकारी होते हैं, जब तक वे निन्द्य वृत्ति या वृत्त से पराङ्मुख नहीं होते. /ग/आसुरी सृष्टिके सातत्यके हेतु भगवान्ने सृष्ट्यारम्भमें ही जिन जीवात्माओंका प्रवाहमार्गीयतया वरण किया हो, ऐसे दुर्ज्ञजीव निषिद्धकोटिके जघन्याधिकारी होनेसे पुष्टिमार्गीय या मर्यादामार्गीय दैवी साधनाके हेतु निषिद्धकोटिके जघन्याधिकारी माने जाते हैं. अज्ञजीव भी जब तक दुर्ज्ञजीवोंके अनुसरणसे विरत हो कर सन्मार्गार्थ उत्सुक या उद्यत न हो तब तक दोनोंमें एकवद्भाव माना जाता है.

(२) पुष्टिसृष्टिके अन्तर्गत भी पुष्टिजीवोंके जन्मविशेषमें प्रकट होनेवाले सात्त्विक राजस या तामस गुण धर्म या स्वभावों के

प्रभेदको लक्ष्यमें रखनेपर पुष्टिमार्गीय दीक्षा-उपदेशके ग्रहण-प्रदानसे सम्बन्धी त्रिविध जघन्याधिकार होते हैं. यहां भी अज्ञान प्रमाद या दुःसंग के कारण जो दुर्ज्ञजनोचित मनोवृत्तिको छोड़ देने उत्सुक या उद्यत हो उसे अनिन्दित जघन्याधिकारी तथा अवशिष्ट अज्ञ और दुर्ज्ञ जीवोंको यथायथ निन्दित या निषिद्ध अधिकारी मानना चाहिये.

(३) पुष्टिमार्गीय उपदेश सत्संग या दीक्षा के कारण जो पुष्टिमार्गपर प्रवृत्त होना चाहते हैं, ऐसे व्यक्तिओंको पुष्टिप्रपत्तिमार्गीय अथवा पुष्टिभक्तिमार्गके अन्तर्गत विवेकधैर्याश्रय/सप्तविधाभक्ति अथवा भगवत्सेवा या भगवत्कथा से सम्बन्धित सत्संग अथवा उपदेशप्रदान या उपदेशग्रहण से सम्बन्धी त्रिविध जघन्याधिकार भी होते हैं. यहां भी निबन्ध षोडशग्रन्थ साधनदीपिका आदि ग्रन्थोंमें जो तत्तत् साधनाओंकी अधिकारिताके जो-जो निकष निर्दिष्ट हैं, उनके बारेमें अज्ञान प्रमाद या दुःसंग के कारण विपरीत आचरण या मनोवृत्तिवाले जीव भी अपना वैपरीत्य छोड़ने उत्सुक या उद्यत हों तो उन्हें अनिन्दित जघन्याधिकारी मानना चाहिये. अवशिष्ट दोनों प्रकारोंको निन्दित या निषिद्ध जघन्याधिकारी मानना चाहिये.

(४) ऐसे ही पुष्टिमार्गीय जीवोंको भगवत्स्वरूप भगवत्कथा या भगवद्भाव से सम्बन्धी रहस्योपदेश के प्रदान या ग्रहण से सम्बन्धी भी त्रिविध जघन्याधिकार होते हैं. यह भी पुनः साम्प्रदायिक सन्दर्भसापेक्ष अधिकारिता है. अतः आचार्यचरण-प्रभुचरणनिर्दिष्ट अधिकारिताके निकषोंको ही पूर्ववर्णित निर्धारणरीतिसे लक्ष्यमें रख कर अनिन्दित निन्दित या निषिद्ध जघन्याधिकारिता स्पष्टतया अवधारणीय होती हैं.

मुख्यगौणभाववश विचारित भेदोपभेदोंका यह संकलन निश्चयेन स्थूलरूपेण ही है. अतः स्वाभाविक रूपमें विशेषेण पृथक्पृथक् विवेचन करनेपर

तो इन वर्गोंमें चारसे कहीं अधिक संख्या सामने आयेंगी ही.

## (ख)

**संशयघटक द्वितीयकल्प :** यह पुष्टिसिद्धान्तोंके प्रतिपक्षी गो.श्रीहरिराय (जाम.)के चर्चासभाके समय अथवा बादमें भी प्रकट हुवे वचनोंके आधारपर प्रस्तुत हो रहा है. यह या तो आजीविकार्थ देवाराधनाद्वारा उपार्जित या भगवद्दर्शनार्थी जनताद्वारा अर्थार्थिओंद्वारा प्रदर्शित भगवत्सेवार्थ प्रदत्त द्रव्यके उपभोगको उचित ठहरानेका पक्ष है ''**कृष्णसेवा सदा कार्या... तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा, अतः सेवार्थम् अर्थार्थी भक्तः शास्त्रे व्यवस्थितः**'' वचनद्वारा केवल अर्थार्थीके ही सन्दर्भमें भक्तिके जघन्याधिकारकी विवेचना वे यों करते हैं :

**१.उत्तम मध्यम जघन्य साक्षात् स्वरूप/सेवासम्बन्ध्यर्थार्थी भक्तोंका त्रैविध्य.**

**२.जघन्यभक्तके उपभेदतया अतिजघन्य और अतिजघन्यतर लोकार्थी भक्तोंका द्वैविध्य.**

**३.अतिजघन्यतरभक्तके उपभेदतया जघन्यतम भक्त, अतिजघन्यतम भक्त और अभक्त.** (गदा.पदा.त.त.पृ.२५)

पुष्टिभक्तोंका इस तरहका विवेचन ''**एवं प्रतारणाशास्त्रं सर्वमाहात्म्यनाशकम् उपेक्ष्यं भगवद्भक्तैः श्रुतिस्मृतिविरोधतः, कलौ तदादरो मुख्यः फलं वैमुख्यतः तमः**'' न्यायेन जो पठित पुष्टिमार्गी हैं उनकेलिये तो उपेक्ष्य होनेपर भी ''**एतन्मतम् अविज्ञाय सात्त्विकाअपि वै हरिं मतान्तरैः न सेवन्ते तदर्थं हि एषः उद्यमः**'' न्यायेन शास्त्रार्थ करनेको नहीं परन्तु भोले और बरगलाये गये सच्चे पुष्टिमार्गीयोंको वास्तविक पुष्टिसिद्धान्त अवगत करानेको ही इस तरहके काव्यकल्पनाद्वारा उद्भावित कल्पोंको संशयकी निरसनीय कोटिमें रखना न केवल उचित प्रत्युत आवश्यक लगता है.

**संशयघटक निरसनीय कल्पकी निरासिका युक्त्यष्टकमाला :**

**ब्रह्मरूपं जगद् ज्ञेयं तद् अस्माद् व्यतिरिच्यते ।**
**तल्लीलात्वेऽपि सृष्टेस्तु भक्तिः सृष्टौ विलक्षणा ।।**

**निरुपध्यात्मरत्यास्तु वैशिष्ट्याद् इतरासु च ।**
**अतो ह्यर्थार्थिभक्तेस्तु नैवात्मरतिरूपता ।।**

(१)

प्रस्तुत अर्थार्थित्रैविध्यमें ''प्रथमग्रासे मक्षिकापातः'' सदृश सर्वप्रथम दोष तो यही है कि अर्थार्थित्रैविध्यका यह विभाजन पदार्थविभाजनकी विधिसे सर्वथा अपरिचित व्यक्तिद्वारा प्रस्तावित है. क्योंकि तृतीयतया उल्लिखित साक्षात्स्वरूपसम्बन्ध्यर्थार्थी यदि मूलवर्ग हो तो उसके उपवर्गतया द्विविध लोकार्थिओंकी परिगणना वदतोव्याघात दोषकी जनक होगी. विशेष रूपमें इस कारणसे कि मूलवर्गके इस तृतीय अर्थार्थीको संसारनिवृत्तिकी कामनासे भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेवाला जघन्य संसारी भक्त माना गया है. ऐसी स्थितिमें इसके उपभेदतया लौकिक/ऐहिक फलकी कामनाओंके वश भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेवालोंका अतिजघन्य अथवा अतिजघन्यतर होना बाधित हो जायेगा. यदि बाधित होता न मानें तो जघन्य अतिजघन्य और अतिजघन्यतर के प्रभेद ही बाधित हो जायेंगे. पुनः अतिजघन्यतर भक्तके द्विविदप्रज्ञौपयिक ऐतिहासिक पेचोंके पिटाराके रूपमें – शब्दोंमें द्विविध और रेखांकनमें त्रिविध – जघन्यतमभक्त और अतिजघन्यतमभक्त और अभक्तदेवलक ऐसे अवान्तर उपभेदोंमें तो कोटिद्वयावगाहिता पराकाष्ठापर आरूढ हो गयी है! (द्रष्ट. : गदा.पदा.त.त.इतःपरं 'गदापदातत' नाम्ना उल्लेख्य पृ.२५). भला ऐसा भी कभी हो सकता है कि पदार्थ मूलतया दो तरहके होते हैं [१] भाव और [२] अभाव. और ऐसा स्वीकार लेनेके बाद यह कहना कि द्रव्यादिषट्क और द्विविदोंमें धर्ममतिका अत्यन्ताभाव [१] भावपदार्थ होते हैं. जबकि प्रागभावादिकी चतुष्टयी [२] अभावपदार्थ होती है. क्योंकि द्विविदाधिकरणानुयोगिक धर्ममतिप्रतियोगिक अभाव तो अभाववर्गकी कोटिमें ही अन्तर्भूत माना जायेगा. अतः ऐसा पदार्थविभाजन या तो किसी 'महाकवि'की अनन्यप्रतिभाके वश कल्पित सन्देह या भ्रान्तिमान् अलंकारोंका प्रयोग हो सकता है. अन्यथा तो असदालाप ही माना जा सकता है. पण्डितोंकी सभामें प्रतिपादनीय पदार्थविभाजन तो कदापि नहीं !

(२)

यह अर्थार्थित्रैविध्य भगवद्गीताशास्त्रके जिस श्लोकके आधारपर उट्टंकित है उसकी व्याख्या श्रीपुरुषोत्तमजी क्या-कैसी करते हैं यह भी अवलोकनीय है :

> **''ननु एवं सति कथं न सर्वेप्रपन्नाः भवन्ति ? इति आह 'न माम्' इति, मां दुष्कृतिनो=दुष्कर्मकर्तारः पापाः मूढाः=पशुवद् विवेकरहिताः नराधमाः=नरेषु अधमाः, केवलं वैचित्र्यार्थं जगत्पूरणार्थं सृष्टाः, मां न प्रपद्यन्ते. ननु उपदेशादिना कथं न पापकर्मादित्यागेन प्रपद्यन्ते ? इत्यतः आह 'मायया' इति, 'माया'इति पदेन ज्ञाननाशनसामर्थ्यम् उक्तम्... ननु भगवत्प्रपत्तीच्छूनां कथं न भगवान् रक्षति ? इत्यतः आह 'आसुरं भावम् आश्रिताः', मद्विरोध्यासुरसंगेन तद्भावं प्राप्ताः. अतो मया न रक्ष्यन्ते... एवं दुष्टकर्मकर्तारो न भजन्ति इति उक्तम्. तर्हि के भजन्ति ? इति आकांक्षायाम् आह 'चतुर्विधाः' इति. 'हे अर्जुन !' इति सावधानतया श्रोतव्यत्वेन सम्बोध्य. 'सुकृतिनः'=पूर्वजन्मसञ्चितपु ण्यराशयो जनाः मां भजन्ति. अन्यथा भजने प्रवृत्तिरेव न स्यात्... चतुर्विधत्वं प्रकटयति 'आर्तः' इति, 'आर्तः'=संसारक्लेशादियुक्तः तन्निवृत्त्यर्थं <u>धर्मरूपेण</u> मां भजति. 'जिज्ञासुः'= कामात्मकमत्स्वरूप-ज्ञानेच्छुः <u>कामरूपेण</u> मां भजति. 'अर्थार्थी'= <u>मत्सेवौपयिक-साधनसम्पत्त्यर्थरूपेण</u> मां (नतु भगवत्सेवार्थम् अर्थकामनया) भजति. 'च'=पुनः. 'ज्ञानी'=शास्त्रार्थज्ञानवान् मोक्षरूपेण मां भजति. 'भरतर्षभ !' इति सम्बोधनं <u>सत्कुलोत्पन्नानामेव भजनप्रवृत्तिः भवति</u> इति ज्ञापनार्थम् (अमृ.तरं.७।१५-१६).**

अतः कहां तो भागवतोक्त तथा महाप्रभूक्त चतुःश्लोकिओंमें धर्मार्थकाममोक्षरूप चतुर्विध पुरुषार्थतया केवल भगवदर्थी बन कर भगवद्भजन

करनेका श्रीपुरुषोत्तमप्रतिपादित आशय और आदर्श और कहां यह अपनी अदान्त धनकामनाके वशीभूत चतुर्विध भक्तोंके अन्तर्गत केवल अर्थार्थीका त्रैविध्यकरण! अर्थात् भगवत्स्वरूपार्थ या स्वरूपसेवार्थ लौकिकार्थकी कामनाकी वक़ालत करनेको अर्थार्थी भक्तकी कोटिमें ज्ञानी और जिज्ञासु भजनकर्ताओंका अन्तर्भाव स्वीकारनेपर तो भजनकर्ताओंका चातुर्विध्य ही निरस्त हो जाता होनेसे ‘‘मूलं नास्ति कुतः शाखा ?’’न्याय गले पतित होता है.

इतने द्विविदवैदुष्यके प्रकाशनके बावजूद मानों सन्तोष न हो पाया होनेके कारण बेचारे श्रीप्रभुचरण एवं श्रीपुरुषोत्तमजी को भी अपनी ही बात करनेवाले मान कर अर्थार्थित्रैविध्यकी उपपत्ति और देनी चाही है! यह श्रीपुरुषोत्तमजीके **‘‘प्रभुणा अनंगीकारेऽपि आचार्यदयया ‘नैव आत्मनः प्रभुः अयं निजलाभपूर्णः’ इत्युक्तन्यायेन तत्कृतस्य स्वगामित्वेन भजनवैयर्थ्यासम्भवाद् जन्मान्तरे अनुग्रहविषयो भवति’’** (‘गदापदातत’पृ.८) इस वचनके आधारपर करनी चाही है!

वस्तुतः तो जघन्याधिकारियोंके प्रसंगके प्रारम्भमें ही श्रीपुरुषोत्तमजीने इसका खुलासा कर दिया है : **‘‘जघन्याधिकारिव्यवस्थां वदन्ति इति आशयेन ‘संसारी’ इति श्लोकं व्याकुर्वन्ति ‘यस्तु प्रपञ्चासक्तो... साक्षात्स्वरूप–सम्बन्ध्यर्थापेक्षायां तदप्राप्त्या क्लेशभाग् भवति’ इत्यन्तम्’’** इसके बाद इस तरह क्लेश पानेवालेकी अन्तमें क्या गति होगी उसके खुलासाके लिये सेव्यप्रभुद्वारा तत्कृतसेवाके अंगीकार और अनंगीकार के दो सम्भावित कल्प प्रस्तुत किये हैं. अंगीकारके कल्पमें कृतभजन व्यर्थ नहीं जाता होनेसे जन्मान्तरमें फलदायी बनेगा ऐसी फलश्रुति प्रकट की. अनंगीकारकल्पमें स्वयं भजनमें ही प्रतिबन्ध आ पड़ेंगे और तब तो औरभी दुःसह विलम्बेन भजनकर्ताका चित्त भगवान्‌में न जाने कब चोंट पायेगा! यदि मर्यादितसंख्याक अग्रिम तीन–चार जन्मोंकी भी बात होती तो अनिश्चायक ‘जन्मान्तर’ पदका प्रयोग न करते.

इसके बाद महाप्रभुकी **‘‘लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा’’** (सिद्धा.मुक्ता.१६–१७) पंक्तिओंकी व्याख्या प्रभुचरणने क्यों नहीं लिखी इसके समाधानतया

श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं **''‘लोकार्थी...’ इति श्लोकस्तु संसारिमध्येऽपि यो जघन्याधिकारी तत्परइति उपेक्षितः''.** एतावता संसारी और लोकार्थी को एक मान कर लोकार्थीके उपभेदतया दो प्रभेद बताना कथमपि उपपन्न नहीं होता. तिसपर यह विधान तो अकाण्डताण्डव ही है कि **''लोकार्थी भक्तके देवलकत्वका व्यावर्तन वहां स्वयं श्रीमत्पुरुषोत्तमजीने सि.मु.वि.प्र.में स्पष्ट शब्दोंमें किया है''** (‘गदापदातत’पृ.११). जो श्रीपुरुषोत्तमजी कह रहे हैं वह तो यही है कि संसारिताकी तरह लोकार्थिता भी दो तरहकी हो सकती हैं : १.लाभपूजार्थयत्नके उपधर्म होनेके कारण देवलकत्वसम्पादिका लोकार्थिता; २.भगवत्सेवाका अनुष्ठान जिसके द्वारा निज-आर्थिक लाभ निजपूजा के अभिवृद्ध्यर्थ (यथा : अपने सेवौपयिक गृहमें जनतासे द्रव्यग्रहणार्थ व्यापारिक पेढ़ीकी तरह समाधानी बैठाना - वहां जनताको ललचानेको मनोरथोंके विज्ञापन लगवाना आदि हेतुओंके वश) न हो ऐसे व्यक्तिकी लोकार्थिता.

एतदर्थ सिंहनंदके निवासी क्षत्रिय स्त्री-पुरुषकी वार्ताका भावप्रकाश अनुसन्धेय है :

> **''तब श्रीआचार्यजी कहें ‘तुम कहो तो सही !’ तब दोऊनें कही ‘हमकों यह मनोरथ है जो या जन्ममें याही शरीरसों श्रीठाकुरजी हमसों बोलें कृपा करें’... तब श्रीआचार्यजी कहें ‘इतनो कष्ट, व्रत करि सरीरकों देत हो, सो श्रीठाकुरजीके सेवा-सुमरिनमें मन लगावो तो याहि जन्ममें प्रभु कृपा करें’. तब स्त्री-पुरुष दोऊनने कह्यो ‘महाराज ! श्रीठाकुरजीकी सेवा कैसें बनें ? हमनें तो कछू नाहीं पास राख्यो. यह दोय कपरा मेले पहरे हैं. और मा-बापके पास द्रव्य है सो संसारसुखकेलिये मांगे सो देई परन्तु परमार्थके अर्थ श्रीठाकुरजीके नामपर एक कोड़ी न देइंगे. हमसों द्वेष करत हैं. सो भगवत्सेवा बिना द्रव्य कहांते होय ?’ तब श्रीआचार्यजी कहें जो ‘वे द्वेष करें तामें तो तुमकों आछो है. बहिर्मुखसों बोलनो मिट्यो और सेवा लायक दोय-चार-आठ घरी कछू उद्यम करोगे तो वाहीमें तुमकों निर्वाह जोग मिलेगो. ताहिमें निर्वाह**

**करियो. सेवार्थ शरीरको कष्ट होय तब धीरज धरि दुःख सहो तो श्रीठाकुरजीसों सह्यो न जाय. तुमकों जतावेंगे. तातें हम थानेश्वरके वैष्णवसों कहि देंगे तुमकों उधार देइंगे व्योपार हू सिद्ध करि देइंगे. परन्तु तिहारो मन भगवत्सेवा करनमें होय तो उपाय श्रीठाकुरजी सब करेंगे. जो मन न होय तो तिहारी तुम जानों'... तब स्त्री–पुरुष दोऊनके मा–बाप इनकी निन्दा करन लागे जो 'पहलें तो दोऊ बड़े त्यागी हते. अब वैष्णवसों भीख मांगिके निर्वाह करत हैं'... तब पुरुषके मनमें बुरी लागी तब स्त्रीसों आय कही जो 'तेरे मा–बाप – हमारे मा–बाप जहां–तहां निन्दा करत हैं'. तब स्त्रीने जो 'तुमारे मा–बाप सांचे हैं. अपने पास कहा हतो, एक कोड़ी न हती. सो सब वैष्णवनने श्रीआचार्यजीके सेवक जानिकें करि दियो है. सो अब अपन सुखी हैं परन्तु परन्तु या प्रकार श्रीठाकुरजी सेवा मानेंगे नाहीं. अपुनो धर्मनास भयो. वैष्णवसों पूजायके धन ले निर्वाह अपुने किये. सो अपुनेको धिक्कार है... श्रीठाकुरजी प्रसन्न करिवेके लिये श्रीआचार्यजीकी सरनि आये, सेवा पधराये. कछूं वैष्णवसों पूजायवेकेलिये अपुनी बड़ाईकेलिये वैष्णव नहीं भये. तातें अपनो धर्म राख्यो चहिये. होय तो श्रीठाकुरजीकों लें या गामते ओर ठोर कछूक दूरि निकसी चलें' '' (८४।६२भा.प्र.).**

इस वार्ताको पुष्टिप्रभुकी सेवाकी रीतिका आदर्श क्यों नहीं मानते ? क्यों केवल गदाधरदासकी वार्ताको ही प्रमाण मानते हैं ? उत्तरतया एक ही बात सामने आती है अचिकित्स्य अर्थैषणान्धता. ऐसी अर्थैषणान्धताके वश तो कोई देहविक्रयार्थ हाट लगा कर बैठी हुयी पुष्टिमार्गीय वारवधू भी ऐसा कह सकती है –

> ''न तो मैं देहविक्रय करती हुं और न हाटपर बैठ कर स्वैरियोंको ललचाती हुं. अतएव देहविक्रयार्थ सरकारी रजिस्टरमें लायसंस्के नंबरको स्वधर्मनिर्धारणमें प्रमाण भी नहीं मानती. क्योंकि स्वधर्मनिर्धारणमें तो 'कामये दुःखतप्तानां

प्राणिनाम् आर्तिनाशनम्' के सनातन धर्मादेशको ही प्रमाण माना जाता है, आम्बेडकरस्मृतिको नहीं. अतः मैं तो कामार्त जघन्य पुरुषोंकी आर्तिका नाशन करनेवाली भगवत्कृपासे स्वधर्मपरायण सन्नारी हुं. उत्तम पुरुष हट्टस्थस्त्रीकी हाटपर न जाते हों एतावता जघन्य न जायें तो क्या वे दरियामें डूब मरें ? जघन्य पुरुषोंके प्रति कुलवधुओंके ऐसे द्वेष तो धर्माधर्माग्रताका निरा ढोंग है. अतः मुग़लकालमें जैसे सनातनधर्मविरोधी कानून ताज़ीराते-हिन्दके फिरक़ानापरस्त फर्मानोंको लौकिक साधारण-प्रतिबन्ध मान कर हमारे महान् पूर्वाचार्य यथा बुद्ध्या समाधान कर भगवदर्थ तनुजा-वित्तजा-सेवा-निर्वाह कर लेते थे, उसी तरह मैं भी अपने हाटमें बिराजमान भगवत्स्वरूपकी सेवामें अधिक प्रभुसुखसम्पादनार्थ राजभोग-मनोरथादिके हेतु आये हुवे कामार्थी जघन्य पुरुषोंका द्रव्य यदृच्छालाभसन्तुष्ट रहते हुवे, 'सर्वलाभोपहरण'न्यायसे प्रभुको समर्पित करके प्रसादमात्र लेती हुं. शेष तो हाटकी दीनहीन गलियोंमें भटकते दलालोंके बीच वितरित कर देती हुं. आम्बेडकरस्मृतिग्रस्त होनेसे हट्टोपवेशनात्मिका उपाधि-अवच्छिन्न हुं, हवेलियोंमें बिराजमान गोस्वामिद्विविदोंकी तरह ही!'' (द्रष्ट. : 'गदापदातत'पृ.२३).

तो ऐसी वेश्यावृत्ति करनेवाली पुष्टिमार्गीय स्त्रीको भी सेवोपयोग्यर्थार्थी मान कर उत्तमकोटिकी पुष्टिभक्त मान लेना !

श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार, परन्तु, प्रभुचरणने इस श्लोकका व्याख्यान क्यों नहीं किया, इसकी कारणमीमांसा यों की जा सकती है कि मूलमें संसारी जीव दो तरहके हो सकते हैं : [१]भगवत्स्वरूपार्थितया संसारनिवृत्तिकामी भक्त और [२]'ऐहिकं मम सिध्यतु'की मनोवृत्तिवाला कोई लोकार्थितया भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेवाला. ऐसोंके लिये महाप्रभुने **''क्लिष्टो भवति सर्वथा''** आज्ञा की है. इस आज्ञाके अनुसार क्लेश पानेवाला क्लेश पा कर भी [२/क]भगवत्सेवा निभानेवाला

दुराग्रही हो सकता है. भगवत्सेवाके ऐसे दुराग्रहका त्याग करनेकी आज्ञा महाप्रभुने **''गृहस्थानामपि पूजायां पञ्चदोषसम्भवे पर्यटनमेव श्रेष्ठम् इति आह 'विक्षेपाद्' इति, स्वतःप्रवृत्तिरहितानि इन्द्रियाणि बलाद् भगवति योज्यमानानि विक्षेपं जनयन्ति विग्रहकर्शितानि... स्वस्य वा परमः आग्रहः उत्पद्यते येन तमसि प्रविष्टो भगवन्तं न स्मरति, लोकानां वा पीडां कुर्यात्. तत्र पूजा त्यक्तव्या''**(त.दी.नि.प्र.२।२४७) आज्ञा ही की है. अतः ऐसे उपदेशके विपरीत आचरणद्वारा वह भगवान्को परिश्रम देता बन जाता है. अतएव श्रीपुरुषोत्तमजी इसे भक्त नहीं मान कर **'लोकार्थी सेवाग्रही'** कह रहे हैं. और [२/ख]भगवत्सेवाका अनाग्रही जो क्लेश पा कर सेवा त्याग कर देता है. अथवा उसके अनुकल्पतया प्रपत्तिमार्ग, सप्तविधभक्तिमार्ग, तीर्थाटन या कथा आदि कल्पोंका समाश्रयण करता है.

उल्लेखनीय है कि केवल प्रथमको ही श्रीपुरुषोत्तमजीने 'भक्त' कहा है परन्तु [२/क]आग्रही और [२/ख]अनाग्रही को 'भक्त' नहीं कहा, दोनोंके लोकार्थी होनेके कारण ही. इसका भी स्पष्टीकरण वार्तासाहित्यमें मिलता है. द्रष्टव्य :

> **''अबही तेरो चित्त द्रव्यमें है. ताते भगवन्नाम अबही तोकों फलेगो नाहीं. ताते तू जायके समुद्रके तीर बैठि. समुद्रकी लहरिमें तोकों द्रव्य मिलेगो. ता द्रव्यतें जो मनोरथ श्रीजगन्नाथजीको विचार्योहै सो पूर्ण करौ. पाछे सरनि लेंयगे. तू हमारो है; तातें अब तोकों संसारदुःख बाधा न करेगो. तब नरहरदासने कही, 'महाराज!, द्रव्यमें मेरो मन बहोत है... मनमान्यो खरचूं जो पिता हूं सुनिके लाज पावें जो जगन्नाथरायजी ऐसे ठाकुर हैं'. तब आचार्यजी कहें जो 'जा तेरो मनोरथ पूरन होयगो'... तब नरहरदासने कही, 'महाराज!, यामेंते कछू राखो'. तब श्रीआचार्यजी कहें 'यह श्रीजगन्नाथरायजीको द्रव्य है... यह हमारे काम न आवे. हमारे तो जो कोई हमारो सेवक होय, खरी मजूरीको द्रव्य होय सो हम अंगीकार करत हैं' '' (भा.प्र. वार्ता ८४।७१).**

इस आचार्योद्‌गारके शुद्धमनसे मनन करनेपर तो स्पष्ट हो सकता है कि यही पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त है. यहां आचार्यचरणने भगवत्सेवार्थ अर्थार्थीको दीक्षादानार्ह भी नहीं माना. फिरभी पुष्टिजीवको पहचानते होनेके कारण उसकी अर्थार्थिताका उपशम करवा कर ही पश्चात् स्वमार्गमें उसे दीक्षित किया.

कहां यह वार्ता और कहां आज उनके वंशज होनेके अलावा किसी भी तरह योग्यतासे रहित हम गोस्वामिओंकी अर्थार्थीको भक्ततया बिरदानेकी देवलकी वासना! जबकि शास्त्रमें **''अर्थार्थी... यो देवं पूजयेत् सदा 'कर्मदेवलको' सर्वकर्मबहिष्कृतः''** ('पुसिसंशि'पदवीदानपत्रवाचक श्रीवल्लभ.कृत.विम.पृ.४१) अर्थार्थिको देवलक माना ही गया है. साथ ही साथ अवधेय है कि प्रभुचरणने तो देवलकको तो लाभपूजापरायण पाषण्डी मान कर सिद्धान्तमुक्तावलीकी किसी भी मुक्तिकोपम कारिकासे सर्वथा असम्पृक्त ही रखना उचित माना है.

अतः संसारी भक्तके अवान्तर उपभेदतया जो लोकार्थीका कल्प निरूपण किया है, वह सिद्ध नहीं हो पाता. अतः सिद्ध हो जाता है कि मूलमें श्रीपुरुषोत्तमजीद्वारा प्रस्तावित विभाजन अर्थार्थी भक्तका न हो कर – जो संसारी जीव भजनमें प्रवृत्त होते हैं, उनके बारेमें ही है. क्योंकि वार्ताका स्वारस्य भी यही है कि लोकार्थीकी लोकार्थिताके दोषके निवारण यदि शक्य लगता हो तभी पुष्टिजीव होनेकी सम्भावनाके वश उस संसारीको आचार्यानुग्रहद्वारक भगवदनुग्रहका पानेका अधिकारी माना जा सकता है. निष्कर्षतया कोई अपनी अर्थैषणाके अनुरूप उसे अर्थार्थी भक्ततया प्रस्तुत करना चाहता हैं तो वह तो स्वयं उसके ही स्वभावका प्रकाशन हैं.

भगवत्सेवकका अर्थापेक्षी/कामुक अथवा अर्थनिरपेक्ष/कामवासनारहित होना एक कथा है; और, भगवत्सेवापरायणको अर्थार्थी जघन्य कोटिका भक्त मान कर, कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवात् ऐसोंको भी भक्तिमार्गीय घोषित करना कोई दूसरी ही कथा है!

वैसे न तो सभी संसारी लोकार्थी होते हैं और न सभी लोकार्थी अर्थार्थी ही. अतः सभी अर्थार्थिओंको तो लोकार्थी माना जा सकता है और सभी

लोकार्थिओंको संसारी भी परन्तु सभी लोकार्थिओंको अर्थार्थी नहीं. वस्तुतः प्रभुचरणके सेवक स्त्री-पुरुष ब्राह्मण गुजरातवालोंकी वार्ता पढ़ी होती तो पता चलता कि-

> **''तब पुरुष न्हायके स्त्रीके पास आयकै पूछ्यो जो 'तोकों भयो कहा ?' तब स्त्रीने कही जो 'मैं तो सेवा तब करूं जब वैभवसों करों'. तब पुरुषने कही जो 'आछो वैभवसों करियो'... पुरुषने स्त्रीसों कह्यो जो 'तू एक काम करि... यहांते कोस एक ऊपर एक रूख है सो तहां जायकै ता रूखके नीचे खोदियो सो द्रव्य निकलेगो. सो टोकरी भरि ल्यायकै वैभवसों सेवा करियो'... तब रूखमें सों बानी भई जो 'हमको तूं कछू दे जा तब द्रव्य लेजा... जो एक झारीको फल देजा'... तब याने कही जो 'ये तो नहीं देउंगी' तब वाने कही 'अधिक होय सो तू राखियो घटती होय सो मैं राखूंगो'... तब पुरुषने कह्यो जो 'निष्कंचनतासों झारी भरे सेवा करे ताके फलको कहा कहनो... अब तू ये विचारि जो झारीको फल कितनो है और ये द्रव्य कितनो है ?' पाछे वा स्त्रीने कबहू द्रव्यकी कामना कीनि नाहीं और अपने मनमें कहे जो 'मैं झारी ही भरिवो करूंगी' सो वह स्त्री निष्कंचनतासों झारी भरे और सेवा करे. सो वे स्त्री-पुरुष निष्किंचनतासों सदैव सेवा करते'' (२५२।१५९).**

आधुनिक हम गोस्वामिद्विविदोंकी मतिके अनुसार तो ये स्त्री-पुरुष भगवत्सेवाके अतिजघन्यतम अधिकारी होने चाहिंये. क्योंकि गामको अपने सेव्यप्रभुके दर्शन करा कर ''भगवच्छास्त्रोक्त सर्वलाभो( ?भाऽ!)पहरणन्यायसे स्नेहपूर्वक अधिक राजभोग-मनोरथादि'' ('गदापदातत'पृ.२३) नहीं करवाते थे. कहां तो भावप्रकाशकार महानुभाव श्रीहरिरायजीका **''या वार्ताको अभिप्राय यह है जो कोऊ निष्कंचन दीन ह्वै निष्कामभावसों भगवत्सेवा करत है तापें श्रीठाकुरजी प्रसन्न होत हैं''** (वहीं) यों कहना और कहां हम आधुनिक गोस्वामिओंकी अर्थैषणाकी अचिकित्स्य मनोग्रन्थि !

ऐसी तो एक नहीं अनेक वार्ताओंमें निष्कंचनोंकी भगवत्सेवाका नेगभोगरागवैभवकी सेवासे कहीं अधिक महत्त्व प्रतिपादित किया गया है. उसपर हमारी दृष्टि क्यों नहीं जाती ? हमने अपने हृदयमें अन्योंके वित्तापहारकी ही मनोग्रन्थि इतनी क्यों दृढ़ बांध रखी है ? उसे थोड़ी शिथिल करें तो निष्कंचन भगवदीयोंकी वार्ताका भाव बुद्धि/हृदयमें प्रकाशित हो पायेगा. अतः ग्रामसे धन लिये बिना कोई अर्थार्थी, यदि गदाधरदासजीकी तरह, क्लेश पाते होते तो और सचमुचमें यदृच्छालाभसन्तुष्ट होते तो इस वचनके विषय माने जा सकते थे. अपनी हवेलीकी पेढ़ियोंमें समाधानीकी दलाली द्वारा धनलाभ पानेवाले हम तो कथमपि नहीं. अन्यथा आचार्यवचनप्रमाण्य ही अक्षुण्ण नहीं रह पायेगा.

## (३)

ऐसा नहीं कि भगवच्छास्त्रमें जहां-कहीं 'जघन्य' शब्द दीखे तो उसका अर्थ सीधा देवलक ही होता है जैसा कि आक्षेप लगाया गया है (द्रष्ट. : 'गदापदातत' पृ.८). फिरभी विस्तृतविवरणमें से कुछ चर्चाके उद्धरण इस सन्दर्भमें अवलोकनीय हैं :

> **गो.श्या.म. :** हां जो पैसा लेके सेवा करता है... देवलक हुवा कि नहीं ?... और निषिद्ध कोई भी प्रकारसे सेवा करता है तो वह यह यदि सेवा ही न हो तो 'नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति' तो सेवामें मदिरा अर्पण करे तो वह भी कल्याणकृत् होता है क्या ? क्योंकि मदिरा भी उसने अर्पण तो की ! इस अर्थमें कह रहा हुं निषिद्ध प्रकारसे सेवा करनेपर.
>
> **गो.हरिराय :** नहीं. ये निषिद्ध प्रकारसे नहीं कर रहा है.
>
> **गो.श्या.म. :** निषेध तो देवलकत्वसे प्राप्त हो ही गया. क्योंकि नहीं तो तनुजाकर्ता और देवलक का अन्तर स्पष्ट करें आप.
>
> **गो.हरिराय :** वो जो है केवल वो अपने पैसे कमाके धंधा करनेकेलिये या इस कार्यके लिये नहीं कर रहा; वो केवल लोकार्थी है. लोक उसका चले.

**गो.श्या.म. :** नहीं-नहीं. मैं लोकार्थीकी बात बात नहीं कर रहा हुं.

**गो.हरिराय :** नहीं. ये तो उसको लोकार्थीमें भी ले लिया जाये तो. आया न ध्यानमें.

**गो.श्या.म. :** नहीं. मैं तो निषेध्यकोटिके लोकार्थीकी चर्चा कर रहा हुं. उससे तनुजसेवाकर्ताको भिन्न कैसे करना ?

(विस्तृ.विव.पृ.२२३-२२४).

उक्त चर्चासभाके बाद प्रकाशित विशोधनिकाके 'दे-धनाधन' द्वितीय प्रकरण (पृ.२९)में भी मैंने सेवाकर्ताके [१]भक्त [२]भक्त्यर्थी और [३]अभक्त्यर्थी भेद दिखलाया. [३]अभक्त्यर्थीके पुनः [अ]अनिषिद्ध लोकार्थी और [आ]निषिद्ध वृत्त्यर्थी दिखलाये ही है. एतावता सिद्ध होता है कि न तो चर्चासभामें और न आज भी मेरे लेख-प्रवचनोंमें मैंने कभी ऐसा प्रतिपादन किया. अतः जब निन्दित लोकार्थी अपनी निन्द्य मनोवृत्तिका त्याग कर, अर्थात् अर्थार्थिताका परित्याग कर, ''आये कष्टं व्यये कष्टं, कष्टं प्राप्तस्य रक्षणे, अप्राप्तौतु (देवलकानामिव सृष्ट्यारम्भे नियतया अर्थार्थितया) महत् कष्टं, वित्तं कष्टम् इह उच्यते'' ऐसा अर्थमोहभंग साध पाता है, तब ही प्रभु भी उसके पूर्वजन्ममें अमान्य भजनको भी, आचार्यमार्गीय जीव जान कर दया करते हैं. यह तो रिट्रॉस्पेक्टिव इफेक्टके रूपमें भी मान्य करते हैं परन्तु किसी भी स्थितिमें उससे पूर्व तो नहीं ही. तब लोकार्थीके भजनके वैयर्थ्य या अवैयर्थ्य का प्रश्न यहां उठ कैसे सकता है ? अन्यथा कंस-पूतना-शिशुपाल आदि असुरोंको भी मारनेके बाद प्रदत्त मुक्तिके वृत्तान्तके आधारपर भगवद्हिंसा या भगवद्द्वेष आदिकी मनोवृत्तिओंको भी शास्त्रविहित मुक्त्युपायतया मान्य करना पड़ेगा.

तब तो बात केवल भगवान्पर ही नहीं परन्तु ''गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म''न्यायेन गुरुहिंसा और गुरुद्वेष को शास्त्रविहित मुक्त्युपायतया मान्य रखना ही पड़ेगा. फिरतो अर्थार्थी भक्तकी तरह हिंसार्थी गालीप्रदानार्थी जीवोंके भी अष्टविध प्रभेद स्वीकारने पड़ेंगे, कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवात्. तब तो **''नैव**

**आत्मनः प्रभुः अयं निजलाभपूर्णः**'' न्यायेन पूर्वजन्मकृत भगवद्हिंसार्थी या द्वेषार्थी के भी भजनोंका वैयर्थ्य निरस्त करना पड़ेगा.

मुझे नहीं लगता कि इस न्यायकी व्याख्यामें पूर्वाचार्योंने जो एकाधिक वर्णक प्रतिपादित माने हैं, उनमेंसे किसी एक वर्णकपर भी अर्थार्थिभक्तोंके विभागकर्ताने, उद्धृत करनेसे पहले, दृष्टिपात किया हो. क्योंकि यदि केवल दृष्टिपात भी किया होता तो पता चलता –

प्रथमवर्णकमें तो स्पष्टतया ''**मर्यादामार्गम् आश्रित्य तथा उच्यते नतु पुष्टिभक्तिम्. अतएव 'भक्त'पदं 'सेवा'पदं च विहाय 'जन'पदं 'मान'पदं च उक्तम्**'' कहा गया है.

द्वितीयवर्णकमें ''**किञ्च भक्तस्य का वार्ता! भक्तिरहितोऽपि जनो भक्तप्रवर्तितसम्प्रदायस्थितो भूत्वा भगवते यद्यद् मानं विदधीत स्वस्य कर्तव्यत्वेन (नतु अर्थार्थितया) विहितं ज्ञात्वा... तत्र सम्प्रदायानुरोधाद् आत्मने वृणीते... परं भक्तं स्वयं वृणीते, अन्यः स्वतः करोति इति तारतम्यम्. तर्हि भक्तकृतमेव अंगीकरोति इति नियमः कथं सम्भवति ? इति... दृष्टान्तम् आह... मुखस्थानीयो भक्तः प्रतिमुखस्थानीयः तदनुवर्ती... तथा भक्तानुवर्तिकृतं भक्तकृतं नतु तत्कृतं, भक्तानुसारित्वात्**'' अतः भक्तोंने लोकार्थितया भगवत्सेवा न की हो और भक्तानुवर्ती कोई द्विविद अर्थार्थितया भगवत्सेवा करता हो तो उसे भगवान् अंगीकार नहीं करेंगे यह सिद्ध होता है.

तृतीयवर्णकमें भगवान् भक्ताधीन होनेके कारण स्वतन्त्र नहीं होते प्रत्युत निष्कंचन होते हैं. अतः निष्कंचनजनोंके साथ ही प्रेम करते हैं यह कहा गया है. एतावता अर्थार्थी जनोंके द्वारा की जाती सेवाको अंगीकार ही नहीं करते, यह फलित हो रहा है.

चतुर्थवर्णकमें अभक्तों द्वारा समर्पित अधिक (राजभोग-छप्पनभोग आदिभी) नहीं परन्तु अधिक भक्तोंद्वारा समर्पित अल्पमात्रामें भी पत्र पुष्प फल जल अंगीकार करते हैं, यह कहा गया है. आज तो पुष्टिमार्गीय हवेलियोंमें जनसाधारणसे भेट-सामग्री स्वीकारी जाती है. वह भी यह जाने बिना ही कि

दर्शनार्थी जनता स्वसम्प्रदायी है या विसम्प्रदायी, कृष्णभक्त है अन्यान्यदेवोंकी भक्त, भक्तिमार्गीय है भक्तीतरमार्गानुगामी ! ऐसी स्थितिमें उनकी भेटसामग्री पुष्टिप्रभु अंगीकार ही नहीं करते. तो हमारी हवेलियोंके मठड़ी–मोहनथाल आदि और होटल–रेस्टोरांमें चाइनीज़ फुड और मेक्सीकन बर्गर के बीच, जिसे वल्लभकुलके गो.बा.भी अब अरोगने लगे हैं ( और ऐसा वे ओरकुटपर अपनी प्रोफाइलमें स्वीकार भी करते हैं ) अन्तर क्या रह जाता है ! अतः उसे भगवत्प्रसाद नहीं माना जा सकता. ऐसा विपरीत ही सिद्ध हो जाता है.

पांचवे वर्णकमें यह कहा गया है कि निःस्वार्थी भक्त जब भगवान्को कुछ समर्पित करता है तो प्रभु स्वभावतः अंगीकार करते हैं. स्वार्थवश भजन करनेवाला जब कुछ भगवान्को समर्पित करता है तो करुणा जगनेपर ही. ऐसी स्थितिमें आशंका उठती है कि भगवान्के विशेषानुग्रहके बिना तो निःस्वार्थ भजन कोई कर ही नहीं पायेगा. तब तो भजन करना ही लोग बंद कर देंगे. अतः उसके खुलासा देनेको यह प्रतिपादन किया गया कि पुष्टिमार्गमें निष्काम या निःस्वार्थ भजन किया जाता है. मर्यादामार्गमें मोक्षकामनाके वश भजन किया जाता है. और प्रवाहमार्गमें लौकिक कामना या स्वार्थ के वश भजन किया जाता है. अतः यथाकथञ्चित् सभीको भगवान्की भक्ति तो करनी ही चाहिये. ऐसी स्थितिमें अर्थार्थीको यथाविवक्षित अर्थमें तो प्रवाहमार्गीय जीव ही मानना पड़ेगा. और उसकी प्रशंसा भी उसे प्रवाहमार्गसे निवारित कर दैवमार्गके अभिमुख बनानेको ही स्वीकारनी पड़ेगी.

ऐसी स्थितिमें सर्वप्रथम तो किस वर्णकमें प्रतिपादित अर्थमें ‘‘नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णः’’ न्याय स्वीकारना यह पक्षग्रहणद्वारा स्पष्ट करना पड़ेगा. इतना तो निश्चित ही है कि मर्यादामें मोक्षकामनाके वश भक्ति की जा सकती हो तावता –

> **‘‘मोक्षार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा, क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णं मोक्षो नश्यति सर्वथा’’/ ‘‘कामार्तः/हिंसार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णं कामो/हिंसा नश्यति सर्वथा’’.**

ऐसा भी भगवद्गीतोक्त चतुर्विध भजनकर्ताओंको 'सुकृति' कहा गया होनेकी दुहाई देकर कहा जा सकता है क्या ? भजनका ऐसा प्रकार महाप्रभुको अभिप्रेत माना जा सकता है क्या ? क्योंकि चतुर्विध भजनकर्ताओंमें केवल अर्थार्थी ही नहीं आर्त भी स्वीकारा गया है. और कोई जघन्य हो या जघन्यतर जघन्यतम या अतिजघन्यतम ही अधिकारी क्यों न हो अपने अगम्यागमनकी वासनाके वश अथवा अवध्यके वधकी कामनाके वश भजन करता हो तो भजनके ऐसे प्रकारको भी पुष्टिमार्गीय माना जा सकता है या नहीं ? ''**कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवात्**'' ऐसोंके भजनको भी क्या धर्म्य ही मान लेना ! और ''**फलमतः उपपत्तेः**'' न्यायेन उसकी कामना भी भगवान्को पूरी तो करनी ही पड़ेगी या नहीं ? यह खुलके बताना पड़ेगा.

(४)

प्रमुखतया ध्यान देनेकी बात यहां यह है कि जिस जन्ममें भगवत्सेवा कोई लोकार्थी बन कर करता है, वह जन्म तो उसका व्यर्थ ही जाता है. तो ऐसा जानने बावजूद इतने दुर्लभ जीवनमें जघन्यार्थिताके हेतु प्रेरणा या स्वच्छन्दानुसरणकी अनुज्ञा या उपदेश की वक़ालत क्यों करनी ? और जन्मान्तरमें जो पुष्टिप्रभु पुष्टिमार्गाचार्यके मार्गकी कानी निभानेको उसपर अनुग्रह कर सकते हैं, तो वह तो भगवद्द्वेषी असुरोंपर भी कर ही सकते हैं. एतावता स्वयं जघन्यताका अनुमोदन करके जनताके द्रव्यको हड़पने अपनी भगवत्सेवाके नामपर चलती पेढ़ीमें समाधानी और रसीद का सरंजाम करके जनताको ललचाना क्यों ? लोकार्थीके इस जन्ममें लौकिकस्वास्थ्यको और जन्मान्तरमें लोकार्थिताको निवृत्त करके ही भगवान् अपना अनुग्रह प्रदान करते हों तो इसी जन्ममें लोकार्थिताका अनुमोदन क्यों करना ? क्योंकि प्रभु भी तो अन्तमें लोकार्थिताको निवृत्त करके ही भक्तिमार्गीय अनुग्रह करेंगे, सो भी जन्मान्तरमें ही उसे स्वगामितया सफल बनायेंगे. सो यह जन्म तो निरर्थक गया ! यह जानते हुवे भी क्षुद्रस्वार्थके वश एतज्जन्मकृत सेवाको अभगवद्गामी क्यों बनने देना ? जबकि अनिषिद्ध लौकिक कामनाकी अनिषिद्ध लौकिक उपायोंसे पूर्तिपर भक्तिमार्गमें कोई प्रतिबन्ध तो लगाया नहीं गया है. अतः इस जन्ममें भगवद्गामी न हो पानेवाली सेवाकी जानबूझ कर वक़ालत कर भगवत्सेवाके अपने निन्दित या

निषिद्ध जघन्याधिकारके आच्छादनार्थ यह कपटनाटककों करना ? अतः यह बात तो हमारे द्विविदोंकी उघाड़ी पड़ी देवलकताका प्रमाण बन जाती है.

अतएव चर्चासभामें जब सेवाके प्रयोजनके बारेमें जिज्ञासा प्रकट की तो द्विविदमतिके अनुरूप प्रस्तुत अर्थार्थिप्रभेदोंके विभागकारने लिखवाया था कि पुष्टिसिद्धान्तमें अधिकारिभेदवश भक्तीतर लौकिक प्रयोजन भी सिद्धान्ताभिमत है. जब पूछा ''सेवास्थल कौन सा ?'' तो कहा ''सेवाकर्तृस्वामिक होना चाहिये''. अब यह जैसे गोस्वामिद्विविदोंपर लागू होगा वैसे ही वैष्णवोंपर भी लागू किया जाये तो गो.बा.ओंकी हवेलिओंमें देवलकोंद्वारा बरगलाये गये वैष्णव जो कुछ कर रहे हैं, चाहे तनुजा या वित्तजा, उसे वहां उनका स्वामित्व न माननेपर भगवत्सेवातया अमान्य ही रखना पड़ेगा. इसके विपरीत स्वयंके घरोंमें जो वैष्णव भगवत्सेवा करते हैं वही सिद्धान्ताभिमत प्रकारतया सेवाके रूपमें ही मान्य करनी पड़ेगी.

विस्तृतविवरण (पृ.१६०-१६७); या विश्वास न हो तो पक्षग्रहणकी प्रकाशित वीडियो देख कर भी, निश्चित किया जा सकता है कि अपनी द्विविदमतिके अनुरूप केवल सात पृष्ठोंमें सीमित चर्चामें भी सेवासे अपनी आजीविका उपार्जित करनेवालेको पहले जघन्यकोटिका माना. बादमें प्रश्न करनेपर कि वह सिद्धान्ताभिमत जघन्याधिकार है या सिद्धान्तानभिमत जघन्याधिकार है ? दूसरे शब्दोंमें जघन्याधिकारी जो सेवाद्वारा अपनी आजीविका कमाता है वह सिद्धान्तशुद्ध सेवाका अनुकल्प है, विकल्प है; या प्रतिकूलकल्प है ? तो उसमें सोचे-समझे बिना ''**लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं**'' वचनकी पेच डालनेकी कोशिश की. जब आजीविकोपार्जकके रूपमें लोकार्थीको खपाया जा सकता है या नहीं ? यह पूछा तो पूरा ग्रन्थांश सब सुनें इस तरह पढ़ कर सुनाने लगे. जब पढ़ते-पढ़ते अपनी त्रुटिका पता चला तो शाखाचंक्रमण करके स्वीकार भी लिया कि तीन वर्षोंकी अवधिके बीचमें तो नहीं परन्तु तीन वर्षोंकी अवधि पूर्ण होनेके बाद ''**पैसेकेलिये या पैसाका अर्थी बन कर सेवा करता है तब उसमें देवलकत्व आता है**'' (विस्तृ.विव.पृ.१६५).

ऐसी स्थितिमें अपनी हवेलीको ''**श्रीवल्लभसम्प्रदायकी सेवाप्रणालीके**

**अनुसार श्रीठाकुरजीकी सेवाप्रणाली चालु रखनेको''** (सी.पी.आर.नं.१३९के पृ.२) ट्रस्ट घोषित करनेकी जो चेरीटी-कमिश्नरकी ऑफिसमें एप्लिकेशन दी, उसके (पृ.४) पर तीस टका आमदनीमें से मेहनताना पानेका अधिकार भी स्वीकारा गया होनेसे, और वह न जाने कितने वर्षोंसे अपनाये रखा होनेके कारण स्वयंस्वीकृत पक्षके अनुसार निषिद्धकोटिकी जघन्य देवलकता स्वयंमें सिद्ध होगी कि नहीं ?

अब पुनः स्वयंके भगवत्सेवोपयोग्यर्थार्थी होनेकी शाखापर चंक्रमण कर उत्तम पुष्टिभक्त होनेकी बात सोलह वर्षोंके बाद सूझी है. इस कुशकाशावलम्बनमें तनुजा वित्तजा और मानसी सेवाके त्रैविध्यको आधार बनाया जा रहा है. पहले, परन्तु, कहा था **''यद्यपि यहां वार्तादिके प्रमाणका विषय नहीं है''** (विस्तृ.विव.१७८) पर अब नूतनशाखाचंक्रमणमें गदाधरदासकी वार्ता प्रमाणतया प्रस्तुत हो गयी है :

> **''गदाधरदासजीकी ही तरह स्वभगवदर्थ तनुजा-वित्तजा सेवानिर्वाह शास्त्रसम्मत यदृच्छालाभसन्तोषवृत्तिसे यथाशक्ति करते हैं, लाभपूजार्थयत्न करके नहीं... यह हमारा सगर्व डिण्डिमघोष है... लोग प्रभुको पूजते हैं हमको नहीं... उलटा भगवत्-शास्त्रोक्त सर्वलाभोपहरणन्यायसे ट्रस्टका सारा लाभ भगवदर्थ..अतः लाभपूजाका प्रश्न ही नहीं उठता.. वैष्णवोंकी वित्तजाका विनियोग हम श्रीमत्प्रभुचरणोक्त-श्रीपुरुषोत्तम-चरणोक्त भगवत्सेवोपयोग्यर्थार्थितया स्नेहपूर्वक अधिक राजभोग-मनोरथादिमें लगाते हैं. अतः हमारे अधिकारमें कोई न्यूनता नहीं आती''('गदापदातत'पृ.२३-२४)**

अब यह आनन्द देखने लायक है :

**गो.हरिराय :** '''साच फलरूपा साधनरूपा च आस्ते'... फलके साथ भी 'रूप'पद जुड़ा हुवा है और साधनके साथ भी... इसके नीचे सीधा 'उक्तसेवासाधने इतरे इति आहुः'. प्रभुचरण साधनके साथ यहां जो पहले जोड़ा गया 'रूप'पद है

उसको हटा रहे हैं... केवल 'साधन'पद है. अर्थात् साधनत्वस्वीकारः इति. द्विवचन स्पष्ट है 'उक्तसेवासाधने इतरे'... अर्थात् साधनत्वेन सेवे द्वे... क्योंकि ये जो 'तनुवित्तजा'पद है वो 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वाद्' ये हेतु आगे है. मैं भूल गया हुं...

**गो.श्या.म. :** प्रत्येकम् अभिसम्बध्यते.

**गो.हरिराय :** है न वो वचन ! थोड़ासा भूल गया !... तब वो साधन तो जरूर हैं परन्तु साधनरूप नहीं हैं... 'एतादृश्यौ ते तत्साधिके न'... जिनका साधनत्व स्वीकार किया गया है... जो साधन ही हैं साधनरूपा नहीं हैं. साधन ही हैं केवल. वो 'तत्साधिके' द्विवचन अर्थात् मानसी सेवाकी साधिके; दोनों अलग-अलग चल रही हैं... क्योंकि साधकत्व और साधनत्व - दोनोंमें भेद है... अर्थात् साधकत्वं निषिद्धं नतु साधनत्वं... 'एतादृश्यौ' अर्थात् केवल साधनरूपमें (इतनेमें ही देखा जा सकता है कि साधन और साधनरूप के बीच प्रस्तावित अन्तरको यहीं छोड़ दिया गया है !) की गयी ये सेवायें 'तत्साधिके न'=मानसीकी फलकी साधिका हो नहीं सकती. परन्तु जब उनको तनुवित्तजा=दोनों मिला कर की जाती हैं, तब उसका एक रूप बनता है साधनरूपम्. साधनरूपा होते ही वो मानसीकी साधिका बन जाती है. 'एतेन'=इससे ये बात हुयी... क्योंकि स्पष्ट कहा कि, भइ ! जब दोनों अलग-अलग जो हो जाती हैं, बिचारी केवल साधनमात्र रह जाती है. इसीलिये इनमें साधकत्व तो आ नहीं पाता. इसलिये साधकत्व जिनमें आता है वो 'एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति' ये आगे इसलिये बताया... 'न कार्यम्'का निषेध भी जिसको मानसी सेवा करनी है, अर्थात् जो उत्तमकोटिका अधिकारी है, मानसी जो फलरूपा सेवा है वो जिसको सिद्ध होनी है, भगवदिच्छासे, अधिकारी तो

भगवदिच्छासे निश्चित होते हैं, तो जो भगवदिच्छासे उत्तमकोटिका अधिकारी है, जिसको मानसी सिद्ध होनी निश्चित ही है, प्रभुके व्युच्चरणसे ही कि 'ये मेरा भक्त है, इसे मानसी सिद्ध होगी'... जो 'न कार्यम्' ये निषेध जो है वो उत्तम अधिकारीकेलिये है. ऐसा मैं इसलिये कह रहा हु कि यदि ऐसा नहीं होता तो आगे 'एतादृशस्य अवान्तरफलं भवति...' उसमें साधन जो मानसीकेलिये करना है उसको भी साथमें मध्यपातीन्यायसे अवान्तरफल तो होता ही है... परन्तु जो अलग-अलग करते हैं, जोकि उत्तम अधिकारी नहीं है, मन्दमध्यम हैं, उनको वे अलग-अलग करते हैं तो उनको अवान्तरफल मिलते हैं... 'न' जो है वो मानसीके उत्तम अधिकारी, मतलब उत्तमाधिकारिभिः तथा न कार्यं यथा व्रजस्थानामिव पर्यवस्यति... इसीलिये कहा है कि उसको कुछ पता नहीं होता कि इन दोनोंको साथ ही करना चाहिये, इसी तरहसे करना चाहिये तब वो सिद्ध हो, ऐसा तो उसको पता नहीं होता. वो तो दोनोंमें से कुछ भी या कहीं भी किसी भी तरहसे कर लेता है जैसे एक बालक'' (विस्तृ.विव.२०२-२१०)

चर्चाके समय मानों होश ही नहीं था कि तनुजा और वित्तजा सेवाके द्वित्वकी वक़ालतमें सृष्टिके आरम्भसे भगवन्निर्धारित मन्दमध्यम जघन्य अज्ञानी होनेकी स्वीकृति भरी सभामें की जा रही थी. मैं इस बातको सोच-सोच कर हंस रहा था. सो यह और बोल गये कि ''**आप हंस रहे हैं वो इसलिये के उक्तप्रकारमें तो दोनों आयेंगी. आप ये मान रहे हैं लेकिन मैं ऐसा नहीं मानता**'' (विस्तृ.विव.२०९).

जब इस आत्मजाघन्यपर ध्यान आकृष्ट किया तो अन्य कोई आत्मत्राणोपाय वित्तैषणावश दिखलायी देता न होनेसे नूतनशाखा ''[१]**मानसीके साधन दो हैं तनुजा और वित्तजा 'तथाच एककर्तृकेएव ते तत्साधिके इति फलितार्थः' अर्थात्** [२]**एक व्यक्तिद्वारा की गयी दोनों सेवा तनुजा-वित्तजा ही मानसीकी साधक होती हैं. क्योंकि 'वित्तं दत्वा... एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति**

**अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्' अर्थात्** [३]**वेतनके रूपमें वित्त लेकर या देकर दो पुरुषोंद्वारा की गई ऐसी तनुजा–वित्तजा सेवायें मानसीकी साधक नहीं होती... इससे यह सिद्ध हुवा कि** [४]**तनुजा–वित्तजा दो सेवाओंकी एककर्तृकतावच्छेदेन योगावस्था ही तनुवित्तजा है.** [५]**अलगसे एक सेवा नहीं... अतएव एककर्तृकतावच्छेदेन संयुक्तावस्था ही तनुवित्तजा बनती थी, जो मानसीकी साधिका है.** [६]**रामकृष्णदासवत् विभागासह 'तनुवित्तजा' नामकी एक सेवा पुष्टिमार्गमें होती ही नहीं है. अर्थात्** [७]**श्रीमदाचार्यचरणोक्त 'तनुवित्तजा' समस्तपद एककर्तृकताभिप्रायिक है, एकसेवाभिप्रायिक नहीं. यही सिद्धान्त है''** ('गदापदातत' पृ.१४–१५).

इन गोस्वामिद्विविदमुकुटमणिके बुद्धिके चमत्कारोंके बारेमें, वार्तासाहित्यकी शैलीमें कहना तो, इनके अर्थैषणाकी दुरवस्थाकी वार्ता कहां तांई कहिये !

[१]सिद्धान्तचर्चाके समय पृथक्–पृथक् तनुजा और वित्तजा सृष्ट्यारम्भके समय भगवन्निर्धारित मन्दमध्यमाधिकार या क्षम्यजघन्यता थी. अब वेही दोनों सेवायें सिद्धान्ततः मानसी सेवाकी साधिका मानी जा रही हैं. क्या ये चर्चासभामें बुद्धिपूर्वक हों डाल रखे पेच थे या दिङ्मूढ़तावश ? यदि बुद्धिपूर्वक हों तो छोड़नेकी क्या आवश्यकता ? यदि दिङ्मूढ़तावश तो अपनेको कोसना चाहिये, अन्य किसीपर बलात्कारके आरोप या पुनःशास्त्रार्थ हेतु ललकारनेके. [२]जिस **''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् प्रत्येकम् अभिसम्बध्यते''** व्याख्योदाहृत वचनपर सारी तागड़धिन्ना चल रही है, वह वचन भी मैंने याद दिलाया तब पूर्णतया सभामें उद्धृत हो पाया. खैर विस्मृति इतनी आपत्तिजनक कथा नहीं जितनी यह कि सिद्धान्तचर्चामें तनुवित्तजा एककर्तृका एकाकिनी मानसीकी साधिका थी परन्तु अब वह सिद्धान्ततः अशक्य घोषित कर दी गयी है. यह वैदुष्य सिद्धान्तचर्चाके समय कहां गया था ? [३.४.५]अब अपने दुरदृष्टवशात् पुनः यह और पक्षग्रहण कर लिया गया है कि **''वेतनके रूपमें वित्त लेकर या देकर दो पुरुषोंद्वारा की जाती तनुवित्तजा मानसीकी साधक नहीं होती''** तो अपने घरको 'श्रीपुष्टिसंप्रदाय... मोटी हवेली ट्रस्ट'के, तथाकथित आम्बेडकरस्मृतिके अनुसार, सार्वजनिक

ट्रस्टके आवेदन (सी.पी.आर.नं.१४०, तदनुसार ए/३१७/जाम.) में घोषित सार्वजनिक ट्रस्टमें उसकी आयके तीस प्रतिशत राशी स्वयंके हेतु वेतनतया स्वयंने क्यों मान्य रख्खी ? तदनुसार गदाधरदासजीके सेव्यप्रभुकी की जाती सेवा मानसीकी साधिका सिद्ध नहीं हो पायेगी. वैसे इसमें भी किसे आपत्ति हो सकती है ! क्योंकि सिद्धान्तचर्चासभामें अंगीकृत पक्षके अनुसार इन द्विविदमतिवालोंको भगवान्ने जघन्य देवलक ही बनाना निर्धारित कर रखा हो तो भगवदिच्छा तो बलीयसी ही होती है न. अतः उसका तो बाध भी सम्भव नहीं ! पर अब उस भगवदिच्छाका अनादर करके क्यों स्वयंको भगवत्सेवोपयोग्यर्थार्थितया उत्तमकोटिके रूपमें बिरदाया जा रहा है ? ऐसी स्थितिमें विशेषतः दर्शनार्थियोंके द्वारा की जाती वित्तजा सेवा और मुखिया-भीतरियाआदि वेतनिक कर्मचारियोंद्वारा सम्पन्न करवायी जाती तनुजा सेवा मानसीकी साधिका कैसे मानी जा सकती है ! इसके विपरीत सहज सम्भव है कि द्विविदोंके दुःसंगसे जिन वैष्णवोंकी मति भ्रष्ट न हुयी होगी ऐसे, अनेक वैष्णव अपने घरोंमें मानसीकी साधिका एककर्तृका तनुवित्तजा कर ही रहे होंगे. सो उनसे ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा अपने परिवारोंको दिलवानी चाहिये बजाय कि उन्हें ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा देनेके स्वयंके मिथ्या एकाधिकारके दावे करनेके !

[६]रही बात 'रामकृष्णदास'पदमें विभागासह द्वन्द्वसमासकी और 'तनुवित्तजा'पदमें विभाजनसह द्वन्द्वसमासकी. इसे हम चर्चासभामें गृहीतपक्षकी अभिप्रेत उपपत्तिके निरूपणके आधारपर भी जांच सकते हैं "**तनुजा और वित्तजा मध्यमपदलोपी है... अब इस झंझटको तो व्याकरणकी तो अभी क्या करें !**" (विस्तृ.विव.पृ.२०४). अब भला कोई प्रथमाका भी विद्यार्थी इन द्विविदोंसे पूछे तो सही कि द्वन्द्वसमासके उपभेदोंमें मध्यमपदलोपी समास आता है क्या ? मध्यमपदलोपीके उदाहरण माने जाते "शाकप्रियः पार्थिवः=शाकपार्थिवः" समस्तपदकी तरह यदि "तनुजा वित्तजा=तनुवित्तजा" समस्तपद भी हो तो जिस "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणता"के हेतुके वश 'तनुवित्तजा'पदको विभागसहिष्णु मान लिया, वही 'तनुवित्तजा'पद पुनः 'रामकृष्णदास'पदकी तरह विभागासहिष्णु सिद्ध हो जायेगा ! ये कैसा पेच था ?

[७]अब कहा जा रहा है कि 'तनुवित्तजा' पद एककर्तृकताभिप्रायक है एकसेवाभिप्रायक नहीं तो ऐसी स्थितिमें 'गदापदातत'के पृष्ठावरकपर जो श्रीद्वारकेशजीका वचन "**तनुश्च वित्तञ्च तनुवित्ते ताभ्यां जाता कृता स्वतः प्रादुर्भूता वा तनुवित्तजा. द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् तनुजा वित्तजा च. तत्सिद्धौ 'ते'इति... उभे मानसीसेवार्थके दैवी सेवा कर्त्री, द्वितीया तद्रूपज्ञापिका**" उद्धृत किया, उसमें "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् तनुजा वित्तजा च" वाक्यांशमें 'च'कार [१]निरर्थक है ? [२]विकल्पाथर्क है ? [३]अवधारणार्थक है [४]समुच्चयार्थक है ? [५]इतरेतरयोगार्थक है ? [६]समाहारार्थक है ? अथवा [७]अन्वाचयार्थक है ?

यदि [१]निरर्थक मानते हो तो वह, 'च'कारकी अर्थावगतिमें अक्षमताके वशात् या ग्रन्थकारद्वारा व्यर्थप्रयोग किये गये होनेके कारण ? प्रथम कल्प तो औसतन बुद्धिवाला कोई भी मान्य रखेगा ही ! दूसरे कल्पमें 'च'कारको जैसे व्यर्थ शब्दका प्रयोग माना वैसे ही "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् तनुजा वित्तजा च" सम्पूर्ण शब्दावली भी निरर्थक क्यों नहीं हो सकती ?

[२]विकल्पार्थक मानते हैं तो विकल्पघटक प्रथमकल्परूप 'तनुवित्तजा'के बिना द्वितीय 'एककर्तृका तनुजा-वित्तजा'का कल्प स्वयं असिद्ध हो जायेगा. विकल्पकी उपपत्तिके हेतु 'तनुजा-वित्तजा'की विशेष अवस्थाके रूपमें द्वित्वको खोजने जायेंगे तो एक ही विभाजनकारकी सिद्धान्तचर्चासभामें सहभागी बननेकी अवस्था और 'गदापदातत'लेखनकार बननेकी दो अवस्थाओंके बीच भी भेदवश विकल्प स्वीकारना पड़ेगा. और उन दोनोंके बीच मतभेद स्पष्ट होनेपर 'सुन्दोपसुन्द'न्यायेन दोनोंको स्वतोनिरस्त मानना पड़ेगा ! किसी भी तरहकी नूतनशास्त्रचर्चाकी अपेक्षाके बिना !

[३]अवधारणार्थक मानते हौ तो वह भी, अपनी क्षुद्रमतिके वश 'तनुवित्तजा'को 'तनुजा और वित्तजा' की योगावस्था मान रखी होनेके कारण, तद-(=तनुवित्तजाऽ)भावाप्रकारक तत्-(=तनुजा-वित्तजा)प्रकारक ज्ञान न हो पानेके कारण अनुपपन्न हो जायेगा.

[४]समुच्चयार्थक माननेपर तो "[६]**रामकृष्णदासवत् विभागासह**

**‘तनुवित्तजा’ नामकी एक सेवा पुष्टिमार्गमें होती ही नहीं है’’** ऐसा पक्ष स्वतो अभ्युपगत होनेसे समुच्चेयके अभावमें समुच्चय ही अनुपपन्न हो जायेगा. यदि **‘‘दोनों पैरोंको बारी-बारीसे चलानेपर एक अवस्था यानि मिली-जुली एक मुद्रा बनती है, जिसे लोग ‘गति’ या ‘चलना’ कहते हैं’’** (‘गदापदातत’पृ.१६) इस विधानके तर्ज़पर तनुजाको समुच्चेय मान कर उसके साथ वित्तजाके समुच्चयार्थ ‘च’कार मानोगे तो भी समुच्चय(=निरपेक्षाणाम् एकत्र अन्वयः) निरस्त हो जायेगा. क्योंकि चलन या नमन क्रियाओंमें इतरेतरसापेक्ष दो चरण या दो करों की तरह ही इतरेतरसापेक्ष होनेसे तनुजा और वित्तजा का समुच्चय पुनः बाधित हो जायेगा.

अतः [५/६]इतरेतरयोगार्थक या समाहारार्थक ‘च’कारको माननेपर तो ‘तनुवित्तजा’पदके ही साथ ‘‘तनुजा और वित्तजा’’पदोंका योग या समाहार स्वीकारना पड़ेगा. सो पुनः तनुवित्तजा अकामगले पतित होगी! स्ववृत्तिवादप्रकाशिकामें विवेचित द्वन्द्वसमासके अर्थ, यदि द्विविदोंकी बुद्धिसे गम्य होते ‘गदापदातत’सदृश प्रकाशन ही असम्भव हो जाता.

**‘‘द्वन्द्वान्ते... अभिसम्बध्यते’’ गुब्बारेका सूचिकाविस्फोटन :**

अतः अब रह जाती है ‘च’कारको [७]अन्वाचयार्थक स्वीकारनेकी कथा. उस सन्दर्भमें यह अवधेय है : अन्वाचय तो सर्वदा उद्देश्यसिद्धिके बाद अनुद्देश्यसिद्ध्यर्थ अनुज्ञारूप ही होता है.

ऐसी स्थितिमें सर्वप्रथम तो **‘‘चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा’’**रूप आचार्योपदेशमें न तो तनुजा और न वित्तजा ही उद्दिष्टतया या उपदिष्टतया सिद्ध होंगी. अर्थात् ये दोनों सेवायें उद्देश्यीभूत या उपदेश्यीभूत तनुवित्तजाकी अंगभूता ऐसी अवान्तरक्रिया सिद्ध होंगी. अतः अंगी तनुवित्तजा क्रियाकी स्वरूपान्तःपातिनी होनेके रूपमें ही अपना स्वरूपलाभ कर पायेंगी, स्वतन्त्रतया नहीं. क्योंकि प्रधानान्तःपाती अंगोंको ‘अवान्तर’ कहा जाता है. अतः कैमुतिकन्यायेन प्रधानांगी तनुवित्तजा क्रियाके प्रधानफल, चित्तकी ऐसी भगवत्प्रवणता कि सेवाकर्ताको सेव्य या सेवा की मानसी होने लग जाये, ऐसे प्रधानफलके स्वरूपमें अन्तःपाती दो अंगभूत अवान्तरफलों, संसारदुःखनिवृत्ति

और ब्रह्मज्ञान, की जनिका जो बन पाती हैं, वह भी बन नहीं पायेंगी.

जैसे उपविष्ट पुरुषको ''बहिः गच्छ !'' उपदेशमें अनुपदिष्ट, उत्थान एवं सव्येतर चरणसंचालन, अनुद्देश्य या अनुपदेश्य होनेपर भी, अवान्तरक्रियात्वेन अर्थापत्तिद्वारा अवगत होते हैं. पदकी अभिधावृत्तिके द्वारा अनन्यलभ्य शब्दार्थतया नहीं. ऐसी स्थितिमें गोस्वामिद्विविदोंके जैसा ही कोई अपठित व्यक्ति इनके बारेमें विधिभारकी कल्पना कर सकता है. अथवा द्विविदमुकुटमणि तो उत्थान और सव्येतरचरणसंचालनके बिना बहिर्गमन अनुपपन्न होनेसे ''बहिः गच्छ'' आदेशका मूल अभिप्राय बाहर निकले बिना, वहीं सव्येतरचरणोंके आगे-पीछे हिलाना-डुलाना मान कर मध्यस्थ-विद्वानोंके बीचमें मौखिक शास्थार्थ करनेका आव्हान भी दे सकता है ! अथवा, उदाहरणतया, ''**पुरोडाशं पर्यग्निं करोति**'' विधिमें कोई अग्क्याधान या अग्निप्रज्वालन के विधानकी कुकल्पना भी कर सकता है !

अतएव अवान्तरक्रियाद्वयीके अन्वाचयनार्थ श्रीद्वारकेशजीने संसारदुःखनिवृत्ति और ब्रह्मज्ञान रूपी अवान्तरफलोंकी साधिका होना समझाना चाहा है. न कि अनुद्दिष्ट या अनुपदिष्ट ऐसी तनुजा एवं वित्तजा क्रियाओंकी उपदिष्टता सिद्ध करनेको. क्योंकि वह तो अंगी तनुवित्तजा क्रियाके स्वरूपान्तःपातिनी हैं. इनका, चाहे अवस्थान्तरतया या साधनान्तरतया, 'तनुवित्तजा'से बहिर्भावन करनेपर इनकी अवान्तररूपता ही निरस्त हो जायेगी. अतः अवान्तरफलप्रदता भी निरस्त होगी ही. तब इनसे न तो मुख्यफल और न अवान्तरफल ही मिल पायेगा, अतः भगवत्सेवाके सन्दर्भमें इन्हें निष्फल या अजागलस्तनकी निरर्थक ही माननी पड़ेंगी. फिरभी 'कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवात्' कोई देवलक इनके फलतया उदरपूर्ति परिवारनिर्वाह या भजनकर्तृतया यशोलाभ आदिसे सन्तुष्ट हो तो वह तो प्रावाहिकी भक्तिकी कथा है ! इस विषयमें किसी शास्त्रार्थ या चर्चा की आवश्यकता ही नहीं. व्याकरणशास्त्रके या न्यायशास्त्रके प्रथमा/मध्यमाकी परीक्षामें बैठनेवाले विद्यार्थीकी भी गुरुत्वेन उपासना करके इसे समझा जा सकता है !

ऐसे अर्थलोलुप देवलक स्वयं आचार्यचरणके कुलमें जनमेंगे ऐसा

श्रीद्वारकेशजीको अन्देशा भी होता तो आचार्यचरणानुद्दिष्ट अर्थात् आचार्यचरणानुपदिष्ट तनुजा-वित्तजा क्रियाओंका अंगी तनुवित्तजा क्रियामें अवान्तरभाव या अंगभाव कदापि न समझाते. ''प्रसरं न लभन्ते हि यावत् क्वचन मर्कटाः !'' क्योंकि प्रभुचरणने तो खुलासा दे ही रख्खा था कि ''**भगवत्सेवायाम् अभिनिविष्टस्य यद्यपि ते अनभिलषिते तथापि वस्तुस्वभावाद् भवतः**''.

अतएव तीसप्रतिशत अर्थलाभग्रहणार्थी विषयसुखार्थी उदरभरणार्थी निजपूजायशोलाभाद्यर्थी गोस्वामिद्विविदोंका तो चित्त भगवदितर विषयोंमें ही अभिनिविष्ट होता है. जिन अदेवलक भजनकर्ताओंका चित्त, परन्तु, भगवत्सेवामें अभिनिविष्ट होता है, उन्हें तो तनुजा या वित्तजा का विभाजन कदापि अभिलषित नहीं हो सकता. इसीलिये भगवत्सेवाको अपनी आजीविकाके उपार्जनका उपाय न बनानेवाले अजघन्यकोटिके न जाने कितने पुष्टिमार्गीय वैष्णव अपने-अपने घरोंमें अर्थार्थी न होनेके कारण तनुवित्तजा ही करते हैं! यह अमृतवचनावलीमें संकलित पूर्वजोंके वचन तथा पूर्वस्वीकृत स्वयंके गृहीतपक्षके आधारपर भी सिद्ध है ही.

अवधेय है कि आचार्योपदिष्ट ''**कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता, चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा**'' (सिद्धा.मुक्ता.१-२) मूलकारिका तो विधिमुखेन कृष्णसेवाकी कर्तव्यता प्रतिपादित कर रही है. फिरभी चर्चासभामें कहा गया कि मन्दमध्यमाधिकारीको तनुवित्तजा करनेका निषेध यहां अभिप्रेत है. इसे ''तुष्यतु दुर्जनः''न्यायेन स्वीकार कर भी चलें, जो आधुनिक पुष्टिमार्गकी एक दुःखद वास्तविकता भी है !, फिरभी पूछा तो जा ही सकता है कि यदि कोई तनुवित्तजा नहीं करता तो वह जघन्य सिद्ध हो गया कि नहीं, बिना शास्त्रार्थके ?

अतएव नूतनशाखाचंक्रमणमें तनुवित्तजाको केवल एक अवस्था मान ली गयी है. और एककर्तृका तनुजा और वित्तजा को सिद्धान्ततः सच्ची सेवा. सर्वाधिक हास्यास्पद विधान तो यह और कर दिया :

> **''दोनों पैरोंको बारी-बारीसे चलानेपर एक अवस्था यानि मिली-जुली एक मुद्रा बनती है, जिसको लोग गति या चलना**

**कहते हैं, एक पैर नहीं कहते... तेजगतिसे चलते हुवे दो पैरोंके ठीकसे दिखाई न पड़नेके कारण एक पैर समझ कर तीसरा एक पैर यानि टांग कहते हैं! जैसे एकसेवा तनुवित्तजा'' ('गदापदातत''पृ.१६).**

अब इस मुद्देपर भी कोई सदा दृढ़ ही रहे, तो यहां भी पूछा जा सकता है कि तो फिर ऐसे झांसेकी आवश्यकता ही क्या कि "**वैष्णवोंकी वित्तजाद्वारा हम अधिक राजभोग-मनोरथादि करते हैं - खुद उसका प्रसाद लेते हैं कि नहीं इस बारेमें देवलकजनोचित मौन साध कर - एतावता हमारेमें अधिकारमें कोई न्यूनता नहीं आती !**'' ('गदापदातत'पृ.२३-२४). यह न्यूनता भला आ कहांसे सकती है, यदि एककर्तृका तनुजा और वित्तजा विभक्त सेवा ही शुद्ध पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त हो तो !

अचिकित्स्य अर्थैषणाक्ध्य न हो तो, विद्वानोंकी बात जाने दो, एक अनपढ़ गंवार भी इतनी बात तो सुखेन समझ पायेगा कि दो पैरोंके सहारे सम्पन्न की जाती चलनेकी क्रियामें दो पैरोंसे अधिक तीसरे एक पैरकी नहीं परन्तु चलनेकी क्रियाका एक ही होना प्रकट होता है. इस एक क्रियाका अस्वीकार कर एक वामचरणजा क्रिया और दूसरी दक्षिणचरणजा यों दो क्रियाओंकी तरह एक तनुजा सेवा और दूसरी वित्तजा सेवा की भ्रमणा या महामोह तो द्विविदोंको अपने मतिभेदनवशात् ही हो सकता है. गर्दभादि पशु भी दूर खड़े-खड़े कोई एकचरणको हिलाता-डुलाता रहे और अपने पास न आता हो तो अकारण भीतिग्रस्त होते नहीं. और दोनों चरणोंके सञ्चालनवश अपनी और बढ़नेवाले बलात्कारीको देख कर तो भाग खड़े होते हैं! परन्तु सिद्धान्तचर्चासभामें पक्षग्रहणकी प्रक्रियामें पुच्छेन निबद्ध या निगृहीत हो जानेके कारण अब शुतुरमुर्गी मानसिकताके वश एक क्रियाकी अंगभूता दो अवान्तरक्रियाओंका दर्शनमोह आत्मत्राणकी अन्तिम भ्रमणा प्रतीत हो रही है !

अब इसपर ध्यान आकृष्ट करनेपर पुनः वही बेतुकी बात दोहरायी जानी निश्चित है कि मध्यस्थविद्वानोंके समक्ष मौखिक शास्त्रार्थमें इन सारी बातोंका खुलासा मुखध्वंसद्वारा कर दिया जायेगा! ख्रों-ख्रों ख्राऊं-ख्राऊं किर्र्र्ऽऽऽक्रिच्च् !

(५)

द्विविदोंकी मतिका वैपरीत्य ही कुछ ऐसा होता है : द्रौपदीको पांच पति थे. अतः एक पतिके व्रतको अव्यभिचारसे निभानेका नियम तो तभी निरस्त हो गया, जब भगवान्ने अपनी भगिनीको पांच पतिओंकी पत्नी बनने दिया. ऐसे ही श्रीनाथजीके देवालयकी स्वीकृतिके समय ही पुष्टिमार्गमें जनसाधारणको भगवद्दर्शन करा कर भगवत्सेवार्थ द्रव्यादिके विनियोगद्वारा अस्वीय वित्तसे वित्तजा सेवाकी अनुमति मान लेनी चाहिये. अतएव गदाधरदासजीने भी अपुष्टिमार्गीय बनजारेके द्रव्यसे स्वसेव्यप्रभुको जब भोग धरा और सभीको प्रसाद लिवाया तब एककर्तृका तनुजा-वित्तजा ऐसी दो सेवाओंका सिद्धान्त स्पष्ट हो गया.

ऐसे सारे अन्यथा अभिप्रायमें परपत्नीको ललचानेके या परद्रव्य ऐंठनेके सिद्धान्तोंके संरक्षणकी शिरोमणिता तो अवश्य मानी जा सकती है. इसके सचाईकी परीक्षा तो, परन्तु, गदाधरदासजीकी वार्ताके आधारपर नहीं हो पाती. वह तो कृष्णदासजीकी ( ८४ ।७५ ) वार्ताके आधारपर ही जांची जा सकती है !

कृष्णदासजीकी वार्तामें आता है कि उनके घरमें अतिथि बन कर वैष्णवोंके अकस्मात् आ जानेपर स्वसेव्यप्रभुको भोग धराकर भगवत्प्रसाद लिवानेको घरमें सामग्री नहीं थी. तब उनकी पत्नी अपनेपर कुदृष्टि रखनेवाले धान्यविक्रेता बनियाको रातको आ जायेगी ऐसा वादा करके अनाज ले आयी. स्वसेव्य प्रभुको भोग धर कर वैष्णवोंको भगवत्प्रसाद भी लिवा दिया. बादमें अपनी पत्नीद्वारा दिये गये वादेकी जानकारी मिलनेपर कृष्णदास स्वयं उसे सजाधजा कर अपने कंधेपर बैठा कर कामुक बनियाके घर पहुंचा आये ! एतावता भगवत्सेवार्थ अपनी पत्नीको परपुरुषके पास सजाधजा कर रातको पहुंचानेकी रीतिको स्वसेव्यप्रभुके सुखार्थ अपनी पुष्टिमार्गीय सेवाका सिद्धान्ताभिमत प्रकार घोषित किया जा सकता है क्या ? जैसे बनजारेके अस्वीय द्रव्यसे गदाधरदासजीने निःसंकोच स्वसेव्य प्रभुको भोग धरके वैष्णवोंको प्रसाद लिवाया, वैसे ही कृष्णदासजीने भी तो भगवत्सेवार्थ अपनी भार्याको परपुरुषके उपभोगार्थ रात्रिको चुपचाप उसके घर पहुंचाया था. उस कामुक बनियेके अस्वीय वित्तसे भोग धरके

वैष्णवोंको प्रसाद भी लिवाया था. अतः भगवत्सेवाके अन्तर्गत कामुकोंको अपनी पत्नी उपभोगार्थ प्रदान कर उन कामुक धनिकोंके द्रव्यसे भी भगवत्सुखका अधिक राजभोग–मनोरथादिका भाव रखके सेवा करनेका सिद्धान्त तभी प्रस्थापित हो गया क्यों नहीं मान लेते ?

गामको बेवकूफ बनानेको सारे विवादका केन्द्र केवल [१]एककर्तृका विभक्त तनुजा और वित्तजा तथा दूसरे [२]श्रीनाथजीके सेवाप्रकार को बनाया जाता है ! इस बारेमें सारी वास्तविकता जबकि स्वयं महाप्रभुने –

> [१]**''भगवत्सेवायामपि क्लिष्टं न समर्पयेत्... सन्मार्गोपार्जितं न अन्येषां भागरूपं... तेनैव चित्तनिर्वृतिः इतरनिषेधार्थम् एतद् उक्तम्'' (त.दी.नि.प्र.२।२३६).**
>
> [२]**तब पूरनमलने दंडौत करि विनती करी जो 'महाराज ! मोकों सेवक करिये और श्रीनाथजी मन्दिर संवरायवेकी आज्ञा करी है, सो आपु आज्ञा देउ तो मैं संवराउं''. तब श्रीआचार्यजी पूरनमलकों नामनिवेदन कराय कहे 'आगरेतें कारीगर बुलावो'. सो पूरनमलने कारीगर बुलाये. तब श्रीआचार्यजी वासों कहे 'मन्दिरको नकसा करि ल्यावो'... तब श्रीआचार्यजी कारीगरसों कहे 'हमारे ठाकुरको मन्दिर सिखरबंद धुजा–कलसको नाहीं. नंदरायजीके घरकी नांई करो'... जब नकसा तैयार भयो तब उही सिखरबंद धुजा–कलस चक्र ह्वै गयो. तब श्रीआचार्यजी जाने जो श्रीठाकुरजीकी इच्छा यह है जो जगत्में पूजाय बहोत जीवको उद्धार करेंगे. *सो देवालयकी रीति यहां राखनी उचित है* (८४वै.वा.२३।१).**

इसे सेवासम्बन्धी औत्सर्गिक सिद्धान्तका अपवाद न मानें तो ''**तब श्रीगोवर्धननाथजी कहे जो 'हमहू कौन जीवको बिगार करें ? जो अधिकार लेयगो ताको बिगार होयगो... सो जाकों गिरनो होयगो सो आपुही आवेगो**'' (८४ वै.वा.८४।१०) अतः श्रीगोवर्धननाथजीके परमभगत बन बैठे इन देवलकोंको

या तो साक्षात् श्रीगोवर्धननाथजीके ही मुखारविन्दकी आज्ञाको अप्रमाण घोषित करनी पड़ेगी. अन्यथा प्रभुचरणने जैसे कहा **''अधिकारी बिना काम चलेगो नहीं... हम कौनसे जीवको बिगार करें!''** (८४वै.वा.८४।१०) तदनुसार श्रीगोवर्धननाथजीके सेवाप्रकारको अपवाद या अपसिद्धान्त में से एक कुछ तो मानना ही पड़ेगा. क्योंकि अन्यत्र अधिकारीके बिना चल भी जाता हो पर यहां अनुष्ठेय सेवाप्रकारमें **''नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति''** (भग.गीता.६।४०) भगवदुक्त सामान्यनियमका अपवाद ही प्रकट होता है. गोस्वामिद्विविदोंकी अर्थैषणाके अतिरेकका इससे बड़ा सबल प्रमाण क्या हो सकता है कि जिन श्रीगोवर्धननाथजीके भगत होनेका झंडा फरका रहे हैं स्वयं उनके वचनका प्रामाण्य ये नहीं मानते !

ऐसी स्थितिमें साक्षात् श्रीगोवर्धननाथजीकी ध्रुवसिद्धान्तोक्ति यदि देवलकोक्तिकी तरह अप्रामाणिक न हो तो उनके सेवाप्रकारके कारण बिगाड़ होता माननेपर वह आपत्ति पुष्टिमार्गीय सेवाप्रकारपर भी लागू होगी. अतएव इस प्रकारको अपवाद मानें सिवाय गति ही नहीं. यों अपवादतया मान्य करनेपर वहां भगवत्सेवार्थ परद्रव्यके विनियोगकी अनुज्ञाविधिको स्वीय द्रव्यसे भगवत्सेवाके सामान्यशास्त्रकी तुलनामें अपवादशास्त्रतया ही मान्य करना पड़ेगा.

ऋणापाकरण न करनेको पाप माना जाता होनेपर भी, आवश्यकता होनेपर ऋणादानको शास्त्रोंमें कहीं भी निषिद्ध नहीं माना गया है. ऐसे अनिषिद्ध उपायद्वारा भी भगवत्सेवा करनेकी रीतिको वार्तासाहित्यमें एकत्र नहीं प्रत्युत अनेकत्र, स्वयं गदाधरदासजीकी ही वार्तामें भी, निषिद्ध ठहराया गया है : **''उधारो लेय जहां तांई वाको द्रव्य न देय तहां तांई वाकी सेवा है''** – **''जहां तांई करज न चुकावे तहां तांई वाकी सेवाको फल वाके पास नाहीं''** (८४वै.वा.८।१–६०।१). ऐसी स्थितिमें द्रव्य उधार ले वित्तजा सेवा करनेवाले तनुजा सेवाकर्ताकी विभक्त तनुजा और वित्तजा एककर्तृका नहीं, ऐसे तो कहा नहीं जा सकता. फिरभी भावप्रकाशकार उसे वित्तदाताकी सेवा मान रहे हैं. इसे श्रीपुरुषोत्तमजीके **''नच यागो यजमानस्येव वित्तदातुः फलति इति शंक्यं, तत्र ऋत्विग्दक्षिणादिवद् अत्र तद्दानादेः <u>भक्तिमार्गे भगवता अनुक्तत्वात्. अतः</u>**

**तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्**'' (सि.मु.वि.प्र.२) इस वचनसे संवादित करनेपर गोस्वामिद्विविदोंकी कुत्सित कल्पना निरस्त हो जाती है कि यह निषेध उत्तमाधिकारीके लिये है. क्योंकि ऋणगृहीताद्वारा ऋणरूप लिये धनसे विक्रीत अन्न वस्त्र या गृह अथवा अनुष्ठित विवाहादिकर्मोंसे प्राप्त भार्या आदिपर अजघन्य ऋणदाता कभी अपना स्वत्व प्रकट नहीं करता. केवल ऋणके अपाकरणकी ही अपेक्षा रखता है.

अतः लौकिक न्यायकी तुलनाद्वारा देखनेपर ऋण ले कर की गयी भगवत्सेवा ऋणगृहीताकी ही होनी चाहिये थी, ऋणदाताकी नहीं. भगवत्सेवोपयोग्यर्थार्थितया परद्रव्यग्रहण करनेवाले देवलकोंके ठाकुरजीको कतिपय श्रद्धाविहीन धनिक वैष्णव और सरकारी कानून भले ही वैष्णव जनताके सार्वजनिक धर्मानुष्ठानार्थ भगवत्स्वरूप मानते हों परन्तु अधिकांश भोली ग्रामीण जनता तो कुछ भी समझे बिना द्रव्य प्रदान करती रहती है.

उन्हें मालूम भी नहीं होता कि वे क्यों एतदर्थ द्रव्य दे रहे हैं. क्या गोस्वामिद्विविदोंको उनके स्व(सु + अ = स्व)धर्माचरणरूपा भगवत्सेवामें सहायताके हेतु, या (दे धनाधन पैदा कर बढ़ा रखे) विशाल परिवारके पालनके हेतु, या द्रव्यदानको भ्रान्तिवश अपने साम्प्रदायिक कर्तव्य मान लेनेके हेतु, या इन द्विविदोंके सेव्य भगवत्स्वरूपमें श्रद्धातिरेकके वश, या मठड़ी-मोहनथाल आदि मिठाई खरीदनेके हेतु, अथवा गाममें अपनी प.भ.के रूपमें विख्यातिके हेतु, इनमेंसे किस हेतुके वश दे रहें हैं, यह वे खुद भी जानते नहीं होते ! ऐसी स्थितिमें यह वित्तदान तनुजा करनेवालेकी वित्तजा सेवा हो कैसे पायेगी ? यदि वह देवलक न हो !

अतः परिवारेतरजनोंके द्रव्यसे भगवत्सेवा सम्पादित करनेकी निषेधाज्ञा स्पष्ट शब्दोंमें दे ही रख्खी है. फिरभी तनुजा और वित्तजा के एककर्तृकताके बहाने बना कर यदि बलीयसी भगवदिच्छा अथवा गदाधरदासजीके आधिदैविक सामर्थ्य के कारण बनजारेके दैवी जीव होनेका बहाना बना कर परद्रव्य लिया जाता है तो श्रीकृष्णकी रासक्रीडा या श्रीबलरामका मदिरापान या प्रद्युम्नका अपने मामा रुक्मीकी कन्या रुक्मावतीसे विवाह आदिको भी शास्त्रतः अनुमोदनीय

कृत्य मानना पड़ेगा ! अन्यथा श्रीनाथजीके देवालयकी रीतिकी तरह ही गदाधरदासजीकी बनजारेके द्रव्यसे की गयी सेवा भी **''भगवत्सेवायामपि... इतरनिषेधार्थम्...''** वचनोक्त उत्सर्गविधिका अपवाद माने बिना कोई गति ही शेष नहीं रह जाती है. यह न स्वीकारनेपर तो कृष्णदासजीके प्रकारको भी अनुसरणीय मानना पड़ेगा.

अतः आचार्यवंशजोको भी कृष्णदासजीके जैसी एककर्तृका तनुजा और वित्तजा दो सेवाओंका सिद्धान्त **''तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा''** विधानके लक्षणोदाहरणतया अपनाना पड़ेगा, केवल गदाधरदासजीके अनुसरणसे कुछ सिद्ध होनेवाला नहीं है. **''यद्यद् आचरति श्रेष्ठः तत्तदेव इतरो जनः स यत् प्रमाणं कुरुते लोकः तद् अनुवर्तते''** (भग.गीता.३।२१)न्यायेन पहले स्वयं अपने जीवनमें कृष्णदासजीकी सेवानिष्ठा चरितार्थ करके दिखानी पड़ेगी कि नहीं ? अथवा कृष्णदासजी, किस अर्थमें, गदाधरदासजीसे निम्नकोटिके भक्त थे ? यह कोई खुल कर तो बताये ! अतः श्रीनाथजीके देवालय या गदाधरदासजी और कृष्णदासजी परद्रव्यसे सेवा-प्रसादवितरणके प्रकारको आधिदैविक सामर्थ्यवश अनुष्ठित सेवाका आपवादिक प्रकार माने सिवाय कोई गति नहीं रह जाती.

अपनी मूढताको अनावृत करने ''अव्यापारेषु व्यापार''के स्वभावसिद्ध दुर्व्यसनके वश एक विधान **''शास्त्रमें प्रतिप्रसव निषिद्धका होता है अपवादका नहीं. मगर कौन समझाये भोलेनाथको...? इनका बस चले प्रतिप्रसवका प्रेतप्रसव कर डालें''** ('गदापदातत'पृ.३) किया है. यह तो अच्छा ही किया ! क्योंकि कहा गया है कि **''शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वै नराः मनांसि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः''** अतः मनकी स्वच्छन्दचारितामें विधिका बन्धन मरणाधिक त्रासदायक लगता होनेसे विधिके स्वरूपमात्रका अज्ञान यहां प्रकट हो गया ! पूर्वमीमांसाभाष्यमें सुस्पष्ट शब्दोंमें –

> **''विधिः कः ? यद् वाक्यम् उपलभ्य पुरुषः (नतु प्लवंगमः) कस्मिंश्चिद् अर्थे(नतु अनर्थे) प्रवर्तते. कुतश्चिद् (सर्वत्र अर्थोपार्जनैकव्यसनाद्) वा निवर्तते स विधिः. विधीयते हि अनेन (नतु जघन्याधिकारसम्पादको अनर्थः प्रत्युत) अर्थः**

**इति'' (पू.मी.भा. ७।४।२।१०).**

बलवद् अनिष्टसे असम्पृक्त ऐसे इष्ट=अर्थमें प्रवर्तनार्थ विधायक वचन उत्सर्गरूप सामान्यशास्त्र होता है. इसी तरह बलवद् अनिष्टसे सम्पृक्त इष्ट; या अल्प इष्टसे सम्पृक्त बलवद् अनिष्ट, से निवर्तनार्थ निषेधक वचनको भी विधि ही माना जाता है. यों ये दोनों ही 'सामान्यशास्त्र' कहलाते हैं.

अतएव विधिके [१]सामान्य [२]विशेष [३]प्रतिप्रसव [४]अभ्यनुज्ञा [५]उपसंहार [६]व्यवस्था [७]पर्युदास [८]अभाव [९]साधारण [१०]उत्कर्ष और [११]अपकर्ष यों ग्यारह प्रकार माने गये हैं. इन ग्यारह सामान्यादि विधिके प्रभेदोंको जातिविधि गुणविधि द्रव्यविधि और क्रियाविधि के प्रभेदोंसे चतुर्गुणित करनेपर ४४ प्रभेद बनते हैं. इन्हें पुनः उद्देश्यविधि विधेयविधि या उभयविधि के तीन उपभेदोंसे त्रिगुणित करनेपर १३२ भेदोपभेद सिद्ध होते हैं. प्रकारन्तरतया पुनः अपूर्वविधि नियमविधि या परिसंख्याविधि की तरह ही उत्पत्तिविधि विनियोगविधि अधिकारविधि आदि कितने सारे भेदोपभेद-अवान्तरभेदोंसे भरपूर यह शास्त्रीय तत्त्व है.

इन्हें न तो काव्यकल्पनाके आधारपर और नहीं किसी बेचारे दीन गज्जाजीके मज्जाशोषणद्वारा ही समझा जा सकता है ! इन गम्भीर विषयोंका परीक्षारहित उद्देशसंकीर्तन भी प्लवंगमाधिकारक विषय नहीं. वह तो विनीतभावसे गुरुचरणोंके पास बैठ कर शास्त्राध्ययन करनेपर ही बुद्धिगत किया जा सकता है.

अतएव कर्तव्यके उपदेशक सामान्य विधिशास्त्र और अकर्तव्यके उपदेशक सामान्य निषेधशास्त्र के बाधको 'अपवादशास्त्र' कहा जाता है. इस अपवादशास्त्रके भी बाधको पुनः 'प्रतिप्रसवविधि' माना गया है. इसे सीमित परिधिमें न ले कर [१]सामान्य-[२]विशेष-[३]प्रतिप्रसवके क्रमानुरोधवश लिया जाता है. यह अर्थैषणाक्ष्यकी भलीभांति चिकित्साके बिना बुद्धिगत हो सके, ऐसी तो कथा ही नहीं है. यह तो शास्त्रैकचक्षु विद्वज्जनोंकेलिये ही अवलोकनार्ह विषय है. फिरभी तत्त्वबुभुत्सुओंके अवबोधनार्थ यह खुलास करना आवश्यक है.

इनके अन्तर्गत 'अपवादशास्त्र'के दो रूप होते हैं : [१]विध्यपवादरूप

निषेधवचन और [२] निषेधापवादरूप विधिवचन.

इस तरह अन्यतररूप अपवादशास्त्रके भी बाध करनेपर जो प्रतिप्रसव होता है वह भी [१] निषेधका प्रतिप्रसव हो तो विधिरूप हो जाता है और [२] विधिका प्रतिप्रसव हो तो निषेधरूप हो जाता है.

अतएव विधिवशात् प्राथमिक प्राप्तिका अनुसरण करवानेके अर्थमें द्वैतीयीक अप्राप्तिके बाधद्वारा ''**अकर्तव्यत्वेन उक्तस्य कर्तव्यत्वेन उक्तिः प्रतिप्रसवः**'' (बाल.९९) भी कहा गया है. ऐसे ही रागान्तरवशात् द्वेषवशात् या निषेधवशात् प्राथमिक अप्राप्तिके बाधतया द्वैतीयीक प्राप्तिके बाधनार्थ भी प्रतिप्रसव हो सकता है. अतएव ''**न हिंस्यात् सर्वभूतानि**'' (छान्दो.उप.८।१५।१) निषेधरूप वचनके बाधार्थ अपवादतया ''**अग्निषोमीयं पशुम् आलभेत**'' (तैत्ति.संहि.६।१।११) वचन विधिमुख होता है. यह विशेषबाध है. अतः स्वाभाविक रूपमें छान्दोग्योपनिषद्वचनसदृश वचनोंसे प्राप्त ही हिंसासे निवर्तनके अपवादतया कर्मयोगके अन्तर्गत  कर्तव्यत्वेन विधिविहित आलम्भनके भक्तिमार्गीय साधनामें बाध करनेको भागवतमें –

''**निषेवितेन अनिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा।**
**क्रियायोगेन शस्तेन न अतिहिंस्रेण नित्यशः।।**''

(भाग.पुरा.३।२९।१५).

इस वचनकी सुबोधिनीमें आचार्यचरण कहते हैं कि निर्गुणभक्तिके साधनोंमें मुख्य साधन अन्तःकरणकी शुद्धि होती है. इनमें आधिभौतिक साधनोंद्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि धर्मार्थ होती है. आध्यात्मिक साधनोंद्वारा ज्ञानार्थ अपेक्षित शुद्धि होती है. इसी तरह जो आधिदैविक साधन होते हैं उनसे भक्त्यर्थ परम शुद्धि सिद्ध होती है. ये क्रमशः स्मार्त श्रौत तथा तान्त्रिक उपाय हैं. इन स्मार्त श्रौत तथा तान्त्रिक कर्मोंका अनुष्ठान मुख्यकल्पतया और कामनारहित हो कर करना चाहिये (अनुसन्धेय जिन कर्मोंमें पदे-पदे फलश्रुति मिलती है, उनको भी भक्त्यंगतया करना हो तो महाप्रभु निष्कामतया अनुष्ठेय बता रहे हैं. जबकि उनके वंशज होनेके अलावा अन्य किसी भी तरहकी फूटी कोड़ीकी भी

योग्यता न रखनेवाले गोस्वामिद्विविद स्वयं अर्थार्थितया ही भक्ति करनेकी वक़ालत करते लजाते नहीं ! ).

इसके बाद श्रुतिविहित अनिषिद्ध पश्वालम्भनके प्रतिप्रसवार्थ अतिहिंसाका निषेध समझा रहे हैं. अतएव यज्ञकर्म भी जब फलार्थ होता है तो वह भौतिक कर्म बन जाता है, शुद्ध्यर्थ होता है तो आध्यात्मिक और भगवदर्थ होता है तभी आधिदैविक, ऐसा स्वीकार सुबोधिनी ( १० ।६७ ।४१ ) में किया है. अतः अर्थार्थितया स्वयं भक्तिकी वक़ालत करनेवाले अपनेको महाप्रभुके वंशज माननेमें शरमाते क्यों नहीं ?

स्मृति और तन्त्र दोनोंके प्रामाण्यके अनुरोधवश देवद्रव्योपभोग या आजीविकार्थ या अर्थोपार्जनार्थ भगवदाराधना व्यक्तिको देवलक बनाती है, यह प्राप्त ही था. अतः इस बारेमें नूतन विधानकी या निषेधकी कोई अपेक्षा ही नहीं थी. अतएव नरहरदासकी वार्तामें ''**तब श्रीआचार्यजी कहें 'यह श्रीजगन्नाथरायजीको द्रव्य है... यह हमारे काम न आवे**'' ( ८४ वै.वा.भा.प्र.१ ।७१ ) यो आपने देवद्रव्योपभोगकी निषिद्धतामें अपनी अचलनिष्ठा भी प्रकट की ही है.

अतएव, अर्थैषणान्धोंको न भी समझमें आता हो परन्तु, गदाधरदासजीको तो समझमें आया ही था. अतएव अर्थार्थी बन कर नहीं प्रत्युत सर्वथा भगवदर्थ ही भगवत्सेवा करते थे. अतएव स्वयंके यजमानोंसे स्वयंको जो कुछ अयाचित मिलता उसका भी संग्रह नहीं करते थे ''**तनुजा/वित्तजा जो बने सो करें ( यदृच्छालाभसन्तुष्टतया ही नकि भगवत्सेवोपयोग्यर्थार्थितया... अधिक राजभोग-मनोरथादि करवाने भी ) बहोत संग्रह करे नाहीं ( और न हवेलीट्रस्ट बना कर व्यापारिक पेढ़ीपर समाधानी बैठा कर भगवत्सेवार्थ आते परद्रव्यके लाभमेंसे तीस प्रतिशत मेहनताना लेकर ही ) जो आवे ताकी सामग्री करि श्रीमदनमोहनजीको भोग धरें. वैष्णवकों महाप्रसाद लिवाइ देते**'' ( ८४ ।८ वै.वा.भा.प्र. ), यह गदाधरदासजीकी ही वार्ताके भावप्रकाशके आधारपर भी सिद्ध होता है. न तो वे देवद्रव्यसे भगवत्सेवा सेवा करते थे और न आजीविकार्थ ही. यह तो दिनके उजालेके जैसी साफ बात है. देखने लायक बात यही है कि

ब्राह्मण होनेके कारण गदाधरदासजीको दानरूपेण जो कुछ मिलता उसका ही शास्त्रानिषिद्ध आजीविकाके उपायतया प्रतिग्रह करके सेवा करते थे. अतएव उनकी सेवा स्वीय तनु और स्वीय वित्त से ही सिद्ध होती थी. सो इनकी भगवत्सेवा एककर्तृका अविभक्त तनुवित्तजा ही थी. अतएव अपने निजी वित्तके विनियोगके दृढ़ आग्रहवश ही उधार लेकर भगवत्सेवा नहीं की **''उधारो लेय जहां तांई वाको द्रव्य न देय तहां तांई वाकी सेवा है इनकी सेवा नहीं''** (८४वै.वा.भा.प्र.८।१) ऐसी स्थितिमें गोस्वामिद्विविदोंका सेवाप्रकार तो इनके सेवाप्रकारके जूतेसे भी होड़ नहीं कर सकता.

ऐसी स्थितिमें सन्तदासजीने भी जो अपने सेव्यप्रभुकी सेवाके हेतु जो सम्पत्तिका बंटवारा किया वह भी मूलमें देवसम्प्रदानकतया देवस्वामिक द्रव्य न हो कर महाप्रभूपदिष्ट आपवादिकी रीतिके अनुसार भगवत्सेवार्थ न्यस्त स्वद्रव्य था, परद्रव्य नहीं. वह तो भगवत्सेवाप्रयोजनक केवल द्रव्यन्यास था. फिरभी उस द्रव्यका वे प्रसाद नहीं लेते थे. यह सन्तदास चोपड़ाकी वार्तामें **''कछू दिनमें तेरो सगरो द्रव्य नास होइगो. जो द्रव्य श्रीठाकुरजीमें लगावेगो सो रहेगो. परन्तु श्रीठाकुरजीको वैभव बढ़ाये पाछे जब द्रव्य न होई तब वामेंते खानपान करे सो बहिर्मुख होई''** – **''तब श्रीठाकुरजीकी सेवामें मंडान श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों राखे और श्रीठाकुरजीकी पूंजीके द्रव्यमेंते चोबीस टका पूंजी करि कोड़ी बेचते... तब इनकी मजूरीको राजभोग न भयो सो महाप्रसाद हू न लियो. टकाके चूनको न्यारो भोग धरते सो राजभोग जानते महाप्रसाद लेते''** (८४वै.वा.भा.प्र.७६।१). यह भगवत्सेवार्थ महाप्रभूपदिष्ट आपवादिकी रीतिमें देवद्रव्यभक्षणके निषेधकी उपसंहारविधिका उदाहरण है. कण्ठतः वर्णित न सही परन्तु सम्भव ही नहीं कि उधार ली हुयी पूंजी उन्होंने शनैः-शनैः चुकायी न होगी. यह उधार लेकर भगवत्सेवा करनेके सामान्य निषेधकी आपवादिकी रीति नहीं तो और क्या थी ?

अतः किस वार्तामें भगवत्सेवाविधिके विहित-निषिद्ध प्रकारोंका उत्सर्ग या सामान्य शास्त्रीय प्रकारका उदाहरण प्रकट हुवा है, किसमें विहित/निषिद्ध प्रकारोंके बाधद्वारा अपवादशास्त्रका उदाहरण; अथवा पुनः अपवादशास्त्रद्वारा बाधित प्रकारके प्रतिप्रसवशास्त्रका उदाहरण वार्तामें प्रकट हुवा है, इसे समझे

बिना उल्लांगूल प्लवंगमकी तरह एकशाखासे अपरशाखापर निरन्तर चंक्रमण करना कप्यर्थ हो सकता है पुरुषार्थ नहीं.

(६)

अतः आचार्योपदिष्ट सेवाकी देवलकप्राणशोषिका रीति तो ''एतेन भगवदर्थं निरुपधि स्व सर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्व देहविनियोगे प्रेम्णि (नतु आजीविकाद्यर्थम्) जाते सा (चेतस्तत्प्रवणरूपा सेवा) भवति भावः'' (सिद्धा.मुक्ता.विव.२) है. इस रीतिके त्याग किये बिना अर्थात् अपनी भगवत्सेवाके हेतु परधन वापरे बिना केवल हृदयमें ''मेरी ऐहिक सारी कामना सेव्यप्रभु पूर्ण करेंगे'' ऐसा सोच कर भी कोई भजनमें प्रवृत्त हो सकता है. अतः ऐसे भी प्रकारका एक लोकार्थी हो सकता है. उसे भगवत्सेवार्थ या अपने ऐहिककामपूर्तिके हेतु धनलाभ न होता हो और सर्वथा क्लेश ही पाता हो और भगवत्प्रिय आचार्यके मार्गपर दृढतासे टिका भी रहता हो तो ऐसोंका भजन व्यर्थ नहीं जाता. कभी न कभी जन्मान्तरमें भगवान् ऐसे सेवा करनेवालेपर अनुग्रह करते हैं, यह कहा जा रहा है नकि दर्शनार्थी जनताको अपनी प्रभुसेवाके प्रदर्शनद्वारा दर्शनार्थी जनताके द्रव्यसे भगवत्सेवा निभानेवाला और तद्द्वारा अपने आर्थिकलाभका अथवा अपनी पूजाका अथवा अपनी कीर्तिके बिगुल बजानेको छप्पनभोग या भगवत्सेवास्थल के व्यापारिक विज्ञापन बुलशिण्मथरायकी तरह औरकुटपर प्रकाशित करनेवाला. व्यापारिक पेढ़िओंकी तरह हवेलीकी पेढ़ीपर नियुक्त समाधानियोंद्वारा भगवत्सेवार्थ अर्थसंग्रहकी नौटंकी करनेवालेका भगवद्भजन, न तो वार्तामें और न कण्ठोक्त उपदेशोंमें ही, व्यर्थ न जानेकी बात कही हुयी मिलती है. अतः ऐसा भजन भगवद्गामी नहीं होता है, ऐसा प्रकाशकार स्पष्ट कह रहे हैं.

अतएव ''**अत्र एवं मम प्रतिभाति**''अनुच्छेदमें जो त्रिविध संसारी बताये हैं, उनमें जो संसारनिवृत्तिकी कामनाके वश भगवद्भजनमें प्रवृत्त होता हो उसे 'अर्थार्थी' मानना तो द्विविदमतिविलास है.

## (७)

इसके अवान्तर प्रभेदतया **''सेवानाग्राही भी प्रतिफलाद्यर्थ दुराग्रहेण भगवत्सेवामें प्रवृत्त अतिजघन्यतर भक्त''** ( 'गदापदातत' पृ.२५ ) जो कहा है वह तो ''मम माता वक्ध्या'' वचनके सदृश वदतोव्याघातरूप प्रतिपादन है. प्रकाशकार आग्रही और अनाग्रही का इन अर्थोंमें नहीं प्रत्युत भगवत्सेवार्थ अपेक्षित धनकी प्राप्ति न होनेपर पड़ते क्लेशके बावजूद जो भगवत्सेवाको निभाता है उसे भगवद्-असन्तोषकारक दुराग्रह मान रहे हैं :

> **''तन्मौढ्येन दुराग्रहादिना भगवदुपेक्षायां दृष्टादृष्टाभ्यां वा सर्वप्रकारैः लोकतएव क्लेशं प्राप्नोति. तत्र आद्यस्तु क्लिष्टोऽपि <u>लोकाद् विरज्य चेद्</u> भजेत् कृष्णं तदा उक्तन्यायेनैव सर्वप्रकारैः लोको बाह्यः आन्तरः च नश्यति. ततो 'मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्' इति न्यायेन इह वा परत्र प्रतिबन्धरहितानुग्रहविषयो भवति...''( सि.मु.वि.प्र.१६-१७ ).**

इसे **'''अत्याग्रहप्रवेशे'=स्वस्य वा परम आग्रहः उत्पद्यते येन तमसि प्रविष्टो भगवन्तं न स्मरन्ति... तत्र पूजा त्यक्तव्या ...''**( त.दी.नि.२।२४७ ) वचनसे संवादित करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि जिसे भगवत्सेवाके त्यागकी आज्ञा दी जा रही है, वह भगवत्सेवाके दुराग्रहवश न छोड़े तो सर्वथा क्लेश ही पाता है. यही है उसका अवान्तरफल. क्योंकि वार्तामें सुस्पष्ट शब्दोंमें **''आचार, क्रिया, द्रव्य सों श्रीठाकुरजी प्रसन्न नाहीं, श्रीठाकुरजीमें प्रीति चहिये''** ( ८४वै.वा.४२।१ ) निर्धारित किया ही गया है. ऐसी स्थितिमें अर्थार्थी सेवाकर्तापर उसके सेव्यप्रभु प्रसन्न ही नहीं हो पाते. क्योंकि वस्तुतः वह न तो भगवदर्थी होता है और न भगवत्सेवार्थी ही. भगवान् तो निष्किञ्चनजनप्रिय होते हैं और निष्किञ्चनभावेन जो सेवामें परायण हो वही प्रभुके सुखका वास्तविक भाव निभा पाता है, अर्थार्थी नहीं.

ऐसे अवान्तरफलानुभवके अभावमें तत्कारणीभूत भगवदनुग्रहका भी

अभाव अनुमेय बनता है. उदाहरणतया शोखमोजके साथ केवल परिवारपालनार्थ वल्लभवंशजों द्वारा किये जाते भगवद्भक्तिके व्यापारिक अनुष्ठानोंके कारण कमसे कम हम वल्लभवंशजोंपर तो पुष्टिप्रभुके अनुग्रहका अभाव सुनिश्चित ही लगता है. परन्तु जो आचार्याज्ञाका अनुसरण करते हुवे भगवत्सेवाके बजाय कथा प्रपत्ति तीर्थाटन आदि अनुकल्पोंका अनुसरण करते हैं, उनपर भगवान् जन्मान्तरमें प्रसन्न हो सकते हैं.

देखने लायक बात है कि सद्योगृहीत वार्ताप्रामाण्यका पक्ष भी नूतन प्रतिपादनमें छोड़ दिया गया है : ''**महाप्रभुने देवीभक्त बंगालिओंको श्रीनाथजीकी सेवा नहीं सोंपी थी... वे बंगाली देवीभक्त नहीं प्रत्युत पुष्टिसम्प्रदायके ही निकटतम अनुयोगी ऐसे माध्वगौड़सम्प्रदायके रूपसनातनके शिष्य थे**'' ('गदापदातत'४). तो यही तो है श्रीगोवर्धननाथजीमें इन गोस्वामिद्विविदोंकी निष्ठाके ह्रासका प्रबलतम प्रमाण ! द्रष्टव्य :

> ''**तब एक दिन श्रीगोवर्धननाथजीने अवधूतदासजीकों जताई जो 'तुम कृष्णदास अधिकारीसों कहो जो इन बंगालीनकों निकासो... और ये बंगाली मोकों भोग धरत हैं सो इनकी चुटियामें एक देवीको स्वरूप है सो मेरे पास बैठावत हैं. तासों इन बंगालीनकों बेगि काढ़ो**'' (८४वै.वा.८४।२).

कारण इसमें और कुछ नहीं श्रीगोवर्धननाथके सेवाप्रकारकी पुष्टिमार्गीय होनेकी शपथ खा रखी होनेके कारण बिना भी ब्रह्मसम्बन्धके भगवत्सेवाके शक्य होना सिरपर आ पड़ेगा. तब अपनी सृष्टि बढ़ा कर मुख-सिर-हाथ-पैर आदि अनेक अंगप्रत्यंगोंसे जनताके द्रव्य ऐंठनेमें प्रतिबन्धकी सम्भावना सताने लगती है !

अतएव किरीटभाई फटानियाके विरोध करनेको सिद्धान्त रटने लगते हैं ''वल्लभवंशज न होनेसे उसे ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा देनेका अधिकार नहीं है'' पर वंशप्रवर्तक महाप्रभु स्वयं यह आज्ञा करते हैं कि भागवततत्त्वज्ञ दम्भादिरहित कृष्णसेवापरायण न होनेपर किसीको भी गुरु बनाने अथवा ऐसे व्यक्तिसे भगवत्स्वरूपको पुष्ट करवाने के बजाय स्वयं ही भगवत्सेवा प्रारम्भ कर देनी

चाहिये ***''तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात्''*** (त.दी.नि.२।२२८). तब सिद्धान्तके साथ लुकाछिपी खेलना चाहते हैं. प्रतिप्रश्न करने लगते हैं ''हमारे भीतर गुरुके लक्षण हैं या नहीं जांच करने योग्य वैष्णवोने अपने-आपको कैसे मान लिया ?'' जबकि श्रीपुरुषोत्तमजी भी स्पष्ट शब्दोंमें ''**कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य... स्वयमेव सेवाकरणेऽपि...**'' (त.दी.नि.प्र.आ.२।२२८) व्याख्यानद्वारा इसका अनुमोदन कर ही रहे हैं. ऐसी स्थितिमें यह तो पूछा ही जा सकता है कि किरीटभाईमें अधिकाधिक गुरुलक्षणाभाव होगा परन्तु भगवत्सेवाका व्यापार करनेवाले हमारे गोस्वामिद्विविदोंमें तो सर्वथा विपरीत लक्षण ही प्रकट हो रहे हैं उसका क्या ?

एतावता सिद्ध हो जाता है कि अपनी प्लवंगममतिके दुर्भाग्यवश इस वार्ताप्रामाण्यके पक्षको भी इन गोस्वामिद्विविदोंको शीघ्र ही पुनः छोड़ना ही पड़ेगा. इसमें मूलहेतु एक अन्य ही कर्णोपकर्ण सुनायी दिया तथ्य है. इन द्विविदवृन्दके सदस्योंको अपनी दुर्दम द्रव्यवासनाकी पूर्तिके हेतु किसी कामाख्यादेवीकी भी नित्यपूजा करनी पड़ती है. एतदर्थ श्रीगोवर्धननाथजीके दर्शन बाहर पुष्टिमार्गीय वैष्णवोंको करा कर उससे हुयी आमदनीसे भीतर उस कामाख्यादेवीके पूजनका प्रकार चलाया जाना है. सो कभी पोल अगर खुल भी जाये तो उससे पहले बांध बनानेको यह गोस्वामिद्विविदमुकुटायितका आश्रय लेकर यह लिखवाया गया है. यदि श्रीगोवर्धननाथजीके प्रति लेशमात्र भी निष्ठा इन लोगोंमें होती तो स्वयं श्रीगोवर्धननाथजीके मुखारविन्दसे निकले वचनको 'अप्रामाणिक' कह पानेका साहस जुटा ही नहीं पाते !

अतः इस विषयमें भी किसी तरहके शास्त्रार्थ या वाद-विवादका अवकाश ही नहीं है. कोई अपनी बलासे एतदर्थ आत्मना मनसा वाचा अपने-आपको सन्नद्ध मान कर आत्मपीडन करना चाहता हो तो प्रभु करे कि वह सहस्रपरिवत्सरपर्यन्त ऐसी पीड़ासे कभी छुटकारा न पाये ! मुझे तो कोई इस विषयमें किसी तरहकी इच्छा रुचि या उत्सुकता ही नहीं. हां लिखितरूपेण कोई मुद्दा सामने आता है तो वह अन्य भोले लोगोंको पथभ्रष्ट न करे इस हेतुसे लिखित प्रत्याख्यान तो करते रहना तो मेरी पुष्टिप्रभु महाप्रभु और प्रभुचरणद्वयी के प्रति

परमप्रतिबद्धता है. अतः शास्त्रचर्चार्थ ऐसोंके पास जाना या उन्हें बुलाना मेरी घोषित प्रतिबद्धताका भंग होगा ! अतः यही कहा जा सकता है :

**उज्र जानेमें भी है और बुलानेमें भी है ।**
**लग़्वगो जाहिलके तो रुबरु होनेमें भी है ।।**
**शक्ले–इन्सांमें भटकते हुवे बर्ज़खसे हमें ।**
**हमक़िरानी ही नहीं हमकलाम होनेमें भी है ! ।।**

## (८)

इस सारे विवादके मूलमें जो प्रमुख कलहबिन्दु है वह तो आचार्यवचनोपदिष्ट सेवाके प्रकारसे आधुनिक देवलक गोस्वामिद्विविदोंके सर्वथा विपरीत आचरणके कारण उभरता है. इनके आचरण क्योंकि सिद्धान्तवचनोंसे ही केवल नहीं अपितु स्वयं अपने भी तत्तद् अवसरपर अन्यान्य आभिप्रायिक(!) प्रयोजनोंके वश बोली गयी बातोंसे विरुद्ध जाते हैं. ऐसे भुला दिये गये वचन जब पुष्टिमार्गीय जनतामें पुनःप्रकाशित ही नहीं प्रत्युत चर्चित भी होने लगे हैं, तब आक्रोशका ज्वालामुखी फूट पड़ना स्वाभाविक ही है. इस ज्वालामुखीमें से और कुछ नहीं, केवल इन गोस्वामिद्विविदोंके दिलोंमें भरे भय कुण्ठा अपराधबोध आत्मग्लानिजन्य लज्जा तथा आर्थिक संकटकी सम्भावना का लावारस निकल रहा है और कुछ निसर नहीं रहा !

अतएव जो थोड़ा भी लोकमानस और देशकालकी आधुनिकताको पहचान पाये हैं, वे तो मौन रह कर कथञ्चित् प्रतीक्षा करनेमें ही अपना श्रेय मानते हैं. ऊंट किस करवटपर बैठेगा उसका निश्चय इन्हें हो नहीं रहा है. अतः दूरगामी नहीं तात्कालिक हित अधिकाधिक विपरीताचरणद्वारा जनताको बरगलानेमें ही मानने लगे हैं. अतः ‘‘फटाटोपो भयंकरः’’ प्रकट करनेवाले विमर्शकारने भी इसका भलीभांति आकलन कर मौनव्रत ग्रहण करनेमें अपना श्रेय मान लिया है. गोस्वामिद्विविदमुकुटमणिकी तो कथा निराली ही है ! जैसाकि मेरे पास एक केसेट्में मुद्रित प्रवचनमें अपने स्वरूपके बारेमें स्वयंने मेरे ऊपर अहंकारका आरोप लगा कर यह और स्वीकार लिया कि अहंकारीसे भिड़नेमें भीरु विद्वानोंने

मूढ़ कालीदासको जैसे भिड़ा दिया ऐसे इन्हें मेरे साथ भिड़ा दिया गया है ! अतएव अपने पितृचरणके जन्मोत्सवपर भी बधाईगानके बजाय मर्सियाके जैसा ''दिलके अरमां आसुओंमें ढल गये'' फिल्मीगीतकी तर्ज़पर गाया कि ''**कही गयो ते कही गयानो वसवसो. रही गयुं ते रही गयानो वसवसो. जीववुं निष्काम मुश्किल काम छे. ज़िन्दगी एक वसवसानुं नाम छे !**'' गाये चला जा, गाये चला जा, एक दिन तेरा भी ज़माना आयेगा. अतः अपने इसी ऐसे क्षोभको ''कोति पुण्ड्रु ब्रह्मराक्षसम्'' बनानेमें पता नहीं, अपनी बुद्धिका क्या प्रकर्ष मान लिया है !

**विचार्यविषयका पञ्चमांग संगति :**

इस बदहवासीमें किसीको बादमें न घिरना पड़े इसीलिये तो सिद्धान्तचर्चासभासे पूर्व 'सिद्धान्तवचनावली' नामक वचनसंकलनमें–

**[१]सेवोपदेशदीक्षा [२]सेवास्वरूप [३]सेवाप्रदर्शन.**

**[४]सेवाप्रयोजन [५]सेवास्थल [६]सेव्यस्वरूप.**

**[७]सेवार्थ आजीविका [८]सेवाकर्ता तथा सेवापरिचारक [९]सेवोपदेष्टा.**

**[१०]भागवतकथा [११]स्वसेव्यस्वरूप–प्रसादग्रहण [१२]तीर्थपर्यटन.**

**और**

**[१३]आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकार.**

इन शीर्षकोंके नीचे पूर्वाचार्योंके ग्रन्थस्थ वचनोंको संकलित किया गया था. इसी तरह 'अमृतवचनावली' नामक अन्य वचनसंकलन भी इन सिद्धान्तवचनोंकी परम्परया क्या व्याख्या होती चली आयी है वह एकवाक्यता दरसाने तथा संस्कृतभाषासे अनभिज्ञ जनताको भी वह समझमें आ जाये एतदर्थ प्रकाशित करवायी गयी थी. उसका भी चर्चासभामें चर्चार्थ प्रामाण्य स्वीकारनेसे अपनी अप्रतिबद्धता मुझे सूचित की गयी. अतएव चर्चाके समय उसे परिशिष्टतया साथ प्रकाशित करवानी पड़ी.

मेरा इन दोनों तरहके वचनोंके संकलनोंमें प्रमुख सदुद्देश्य यह भी था कि जो भी कोई चर्चार्थ उद्यत होना चाहता हो उसे विवादास्पद मुद्दोंकी गंभीरताका

आकलन हो पाये. मैं नहीं समझता कि वह आकलन लेशतः भी न हो पाया होगा. क्योंकि बहोत सम्भव है कि चर्चामें अर्थहीन बातोंके निरर्थक खुलासा पूछ-पूछ कर सारी चर्चाको सबॉटेज करनेकी जो कुटिलता दरसायी गयी वह इसीलिये अपनायी गयी होगी. अतः अन्तमें मुझे घोषित करना पड़ा कि चर्चाकारद्वारा पक्षग्रहणके अभावमें चर्चा आगे नहीं करूंगा. तब भी यदि डटे रहते कि किसी तटस्थ विद्वान्के माध्यस्थ्यके बिना पक्षग्रहण नहीं करूंगा तब तो कुछ बात बन भी जाती. हानि तो केवल एक ही सम्भावित थी कि चर्चामें उपस्थित जनता यही सोच लेती कि चर्चार्थ उद्यत होनेपर भी अपना पक्ष क्या है वह बता नहीं पाये ! सो पक्षग्रहणपर बलात्कारके आरोप लगा कर, जो अभी तक चालु रखा है, चर्चार्थ उद्यत होना पड़ा.

वैसे तो यह सिद्धान्तचर्चाके आयोजकोंने अपनी नियमावलीमें (९) (१०) (११) (१२) और (१३) नियमोंके अन्तर्गत यह महीना भर पहले ही स्पष्ट कर दिया था. फिरभी उन्हीं चर्चानियमोंके आधीन चर्चा करनी या नहीं करनी, ऐसी बेतुकी चर्चामें कालयापनकी कुटिलता दिखलानी पड़ी. ''**सिद्धान्तवचनोंके भावानुवाद क्यों पढ़ें ?**'' **या** ''**पढ़े ही नहीं !**'' जैसा बचकाने बहाने चल न पाये एतदर्थ अशुद्धिनिर्दशनके अन्तर्गत भरी सभामें सबके सामने ''करो अंडरलाईन ! करो अंडरलाईन'' का 'दे धनाधन' नाटक मैंने भी बड़ी दैर तक चलने दिया. परन्तु समझ न पाये कि बात जा कहां रही है! और पक्षग्रहणमें सिद्धान्तवचनावलीमें संकलित सीमित वचनोंमें बंधनेको इन्कार कर स्वयंने ही अन्य भी वचनोंकी संगतिके विचारकी भी आवश्यकता स्वीकार ली. परिणामतया 'अमृतवचनावली'में संकलित वचनोंको भी विचारनेकी आवश्यकता भी स्वयं गलेमें बांध ली.

जब महाप्रभुसे प्रारम्भ कर अधुनावर्ती अनेकानेक वृद्ध पुरुषोंके वचन, जिन्हें साधारण जनताको समझनेमें संस्कृतभाषाकी तरह किसी कठिनाई आ ही नहीं सकती थी, उनका भी प्रामाण्य स्वीकार लिया तो, विचारणीय कुछ भी शेष ही रह नहीं गया. स्वयंस्वीकृत प्रामाण्यके बन्धनमें स्वयंको बुरी तरह फंसना पड़ा. स्वयंको अपना अघोषित प्रतिनिधि बनानेवालोंके वचनोके अलावा स्वयं अपने नि.ली. पितृचरणके वचन भी स्वयंके मस्तक पर वज्रपातकी तरह आ पड़े !

इससे उद्विग्न होना तो स्वाभाविक बात थी. अतः अस्थिरमति होनेकी विडम्बना ऐसी नहीं तो कैसी होगी ! ये सारे पहलु  चर्चार्थ उद्यत होनेसे पहले शान्तचित्तसे विचारे होते तो ऐसी दुर्गति नहीं होती. पर ''दैवो हि दुरतिक्रमः''न्यायेन जो होना था सो हो ही गया ! सांझको चर्चा समाप्त करनेको मेरे घर आ कर **''सौराष्ट्रकी जनतामें इसका दुष्प्रभाव पड़ेगा. सो आपसी मिलीजुली चर्चाद्वारा समय व्यतीत कर चर्चासभाके सम्पन्न होनेकी घोषणा कैसे करनी''** यह समझाने लगे. इसलिये मैं उद्यत नहीं था क्योंकि न तो मेरी कहीं सृष्टि है और न यह चर्चा मेरेलिये अपनी छबिको उभारनेकी कोई योजना थी. मेरा प्रयोजन तो मैंने अन्तिम दिनके सत्रमें भरी सभामें प्रकट किया ही था. इसे विस्तृ.विव.में पढ़ा-विचारा जा सकता है. यदि अब भी हिम्मत हो तो मेरेपर मिथ्याभाषणका आरोप न्यायालयमें लगाया ही जा सकता है और वहां सारे प्रमाण प्रस्तुत करने मैं प्रतिबद्ध हुं. द्विविदमतिके वैभवका अपर उदाहरण यह और देखने लायक है कि जामनगरकी हवेलीके चोकमें भाषण करते समय यह और स्वीकार लिया कि कुछ भी बात करनी हो तो सम्हाल कर करनी चाहिये क्योंकि छिपे टेपरेकार्डरसे बातके रेकार्ड हो जानेकी सम्भावना है. जैसे चर्चामें सिद्धान्तपक्षकी प्रस्तुतिके कारण प्राप्त सन्मानपत्रके  अप्रामाणिकताकी घोषणा स्वयंने निजहस्ताक्षरोपेत दी परन्तु सौराष्ट्रमें पुनः सन्मानपत्र पानेकी सन्मानसभाओंके आयोजन न करनेका लोभसंवरण हो नहीं पाया ! फलतः मुझे वह पत्र प्रकाशित करवाना पड़ा. ऐसे ही उद्ध्वस्त मनःस्थैर्यके वश पुनः 'गदापदातत' प्रकट हो गयी है.

इसमें जो अब अष्टविध अर्थार्थीके प्रभेद दिखलाये गये हैं, उनमें गीतोक्त अवशिष्ट तीनों अर्थात् आर्त जिज्ञासु और ज्ञानी भजनकर्ताओंका अन्तर्भाव मानें तो कण्ठोक्त चातुर्विध्य ही निरस्त हो जानेसे अर्थार्थी भी निरस्त होगा. अन्यथा अवशिष्टोंके अष्टविध प्रभेदोंका अविचार लेखककी केवल अर्थार्थितामें ही निजमतिके पर्यवसित हो जानेका साक्ष्य प्रस्तुत कर रहा है.

इसका खुलासा भी पण्डितसभामें मौखिक शास्त्रचर्चाद्वारा ही करना हो तो मेरे पास ऐसी चर्चाकण्डुतीके वारणका कोई उपाय ही नहीं है. क्योंकि अर्थार्थी विभाजनकारको भ्रान्ति है कि लिखितरूपेण की जाती चर्चा कुत्सितप्रेमिकाके

पत्रावलम्बनकी या बार्हन्नली पण्डितपंक्तिमें अनुपवेश्य मनोवृत्ति है. तो क्या महाप्रभु–प्रभुचरण आदि पूर्वाचार्योंकी पत्रावलम्बन विद्वन्मण्डन अवतारवादावली भक्तिमार्तण्ड प्राभञ्जनमारुतशक्ति आदि वादग्रन्थोंमें अंगीकृत विचारशैलीको भी कुत्सितप्रेमिकाके पत्रावलम्बन या बार्हन्नली मनोवृत्ति मानना ? क्योंकि पूर्वाचार्योंके इन वादग्रन्थोंमें भी कोई तटस्थ मध्यस्थ नहीं था. अतः इन पूर्वाचार्योंके लेखनको भी क्या 'दे धनाधन' **(द्रष्ट.''शास्त्रार्थके नियम–अनुसार पक्षग्रहणविधि मध्यस्थ–विद्वान् सम्पन्न करवाते हैं. ऐसे हवामें पक्षग्रहण नहीं होता.'' 'गदापदातत'.पृ.१२)** मानना ? यह तो अनधीतशास्त्रोंके द्वारा किलकिलायित केवल प्रलाप ही सिद्ध होगा. न्यायशास्त्रमें, क्योंकि, शास्त्रार्थ या वाद के नियमको स्पष्ट करते हुवे कहा गया है :

**१.''गुर्वादिभिः सह वादो – विजिगीषुणा जल्पवितण्डे''.**

**२.''नच अयं नियमः प्राश्निकप्रत्यायनायएव वादः. प्राश्निकानन्तरेणापि वादो दृष्टः. यदातु न अयं तत्त्वबुभुत्सुः, लाभपूजाख्यातिकामो वादम् आरभते तदा प्राश्निकैः प्रयोजनम् अस्ति. सत्यम्! अस्ति प्रयोजनं, वादस्तु तदा न भवति''.**

**३.वीतरागौ हि वादिप्रतिवादिनावेव वादस्वरूपज्ञानं तत्परीक्षां च कर्तुं शक्नुतः. तत् किम् अत्र प्राश्निकैः ?''**

(न्या.भा.वा.ता.टी.१।२।२).

अतएव ऐसे गोस्वामिद्विविदोंको इतना भी ज्ञात नहीं है कि इन ग्रन्थोंमें पूर्वाचार्योंने न्यायनिर्धारित मध्यस्थविद्वान्/प्राश्निककी अपेक्षा रखे बिना न केवल स्वपक्ष अपितु पूर्वपक्षका निरसन भी किया है. अतः किसी भी तरहकी शास्त्रीय मर्यादाके होश बिना अंटशंट बकनेमें तो अपने पूर्वजों तक ऐस अपशब्दोंका प्रयोग पहुंच जायेगा. सो तब ऐसा करनेवालोमें श्रीजगदीशनिर्धारित लक्षणकी अतिव्याप्तिका वारण कैसे करना(!) यह सोच कर गुरुजनोंके प्रति आदरभाववश हृत्कम्प होता है.

द्विविदोंको तो अपने बोलेकी कुछ भी कीमत न होनेसे कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता. स्वयं मन्दमति होनेके कारण ये कभी किसी पक्षग्रहणकी भूमिपर आ टपकते हैं. जब फंस जानेका भान होता है तो : ''**बलात्कार ! बलात्कार !! दिलके ज़ख्मोंको तू हाथोंमें छुपा ले शायर ! नादां है ज़माना ये डर न जाये कहीं. तुम क्या जानों कि दर्देदिलकी नसीहत क्या है ? दिलके टुकड़ोंको हमने दिल ही में संजोके रख्खा है, फिर कभी यूं ही ठुकरानेको तेरे काम आयेंगे**'' (द्रष्ट.विस्तृ.विव.पृ.१९७,३२४-३२५) रोने लगते हैं. सो भी अपने नि.ली.पितृचरणके जन्मदिनपर प्राचीन रीतिसे बधाई गानेके बजाय ''कही गयो ते कही गयानो वसवसो. ज़िंदगी एक वसवसानुं नाम छे'' ऐसे शोकसभोचित गीत गाने लगते हैं. और फिर शाखामृगकी तरह किसी शाखापर चंक्रमण करनेका मौका मिलते ही पुनः वही ''**ख्रों-ख्रों ख्रांउ-ख्रांउ किर्र्र्ऽऽऽर्क्रिच्च् !(=)तेरा पूराका पूरा विशोधन-धन... दे धनाधन चुटकीमें लुट जाना है... (क्यों और कैसे ? तो कहते हैं) जो तुमको पसंद हो वही बात करेंगे. तुम दिनको कहो रात तो रात कहेंगे. (यही यदि सच हो तो फिर यह क्या हो गया कि ) हाय दो कान पकड़ कर वो कुबुलातकी रात, ज़िंदगीभर नहीं भूलेगी वो चर्चातकी रात, एक अन्जान भोलेसे मुलाक़ातकी रात** ('गदापदातत' पृ.१३) ख्रों-ख्रों! ख्रांउ-ख्रांउ !! किर्र्र्ऽऽर्क्रिच्च् !!!!''

अतः यदि चर्चासभामें पक्षग्रहण करवाया उसका प्रतिशोध लेना हो तो पोल खुल गयी कि पक्षग्रहणमें की गयी कबूलातके कारण स्वयं जो अस्पृश्य असम्भाष्य सिद्ध हो गये. सो अब जबतक मुझे गृहीत पक्षमें कोई विप्रतिपत्ति न हो तो किसी मध्यस्थ विद्वान् या अविद्वान् को बैठा कर चर्चाका प्रसंग मेरेलिये कहां उपस्थित होता है ? यदि उन कुबुलातोंमें जटिल पेच फंसाके रखे हों तो फंसे रहने दो ! मुझे क्या अन्तर पड़ता है ? यदि मुझसे कोई रागद्वेष न हो और केवल सिद्धान्त सबके समक्ष सुनिर्धारित करना प्रयोजन हो तो. अथवा 'गदापदातत'में जैसे अपने पितृचरणको 'भंगेड़ी' या 'बेवकूफ' न कह पानेके वसवसोके कारण 'सरलस्वभाव' ('गदापदातत'पृ.९) कह दिया ! ऐसे ही अन्य भी अनेकानेक गोस्वामिबालकों कहना हो तो उनके वचन जो 'अमृतवचनावली'में संकलित हुवें उनकेलिये भी ऐसी 'गदापदातत' प्रकाशित करवा देनी चाहिये. अन्यथा केवल

मेरे ही साथ कोई निगूढ़ द्वेष हो तो सुखेन प्रकाशित करते रहो !

किसी भी सूरतमें मुझे ‘भोलेनाथ’ जो कहा जा रहा है उसके जवाबमें द्विविदमुकुटमणिको ‘कुटिलनाथ’ मैं तो कह नहीं सकता. क्योंकि मेरे हिसाबसे, जो गोस्वामिबालक न तो जवाब दे पाते हैं और न अपने दुर्वृत्तपर काबू पा रहे हैं, ऐसे बुलशिण्मथराय टाईपके, इनसे कहीं अधिक कुटिल हैं. जैसे चर्चासभाके बाद ‘पुसिसंशी’पदवी प्रदान कर गोस्वामिद्विविद अपने भाईको षष्ठपीठाधीश न मान ले, एतदर्थ ‘गदापदातत’कारका पुच्छनिग्रह कर लिया गया ! अतः जबभी भविष्यमें मानने जायेगा तब स्वयंको प्रदत्त पदवीपत्रका पठन करनेवालेको अप्रमाणिक मानना पड़ेगा !

अतः अपनी द्विविदमतिके वैभवके अविरत प्रकाशनके द्वारा ‘गदापदातत’कार तो स्वमार्गीय सिद्धान्तोकी सेवा ही कर रहे हैं. फिर व्यर्थ ही क्यों ऐसोंके मुंह लगना ? मैं तो न पहले चाहता था और न आज भी कोई चर्चा चाहता हुं. हां ऐसी अंटशंट बकवादके कारण सभीके भीतर पुष्टिके सच्चे सिद्धान्तोंको जाननेकी उत्कंठाके निरन्तर उद्दीपनद्वारा सम्प्रदायकी महती सेवा अनजाने ही श्रीमदनमोहनप्रभु अपने देवलक सेवकसे करवा रहे हैं ! चाहे द्वेषवश क्यों न हो पर मेरी आलोचनाद्वारा जनताके भीतर उत्कण्ठा जगा कर की जाती अपने सम्प्रदायकी इस महती सेवाका महत्त्व रागद्वेषरहित सिद्धान्तबोधके लाभमें तो कभी कम कूता नहीं जा सकेगा.

हां ! मुझे जो जवाब देना है वह तो मैं लिखितरूपमें देता रहा हुं और रहुंगा भी. द्विविदोंके जैसा बुद्धिभेद स्वमार्गीय जनतामें कहीं प्रकट न हो जाये ! इस द्विविदमनीषाके भीतर भरे गहरे दांवपेच तो मौखिक चर्चामें ही प्रकट सकेंगे. अन्यथा शाखाचंक्रमण किये बिना तो कदापि नहीं. सो अपने दांवपेचोंके टुकड़ोंको दिलमें संजोये रखें. न केवल इस जन्ममें अपितु आगामी सहस्र जन्मों तक. कोई अन्तर पड़नेवाला नहीं है. क्योंकि मेरे मनमें कोई दावपेच न तब थे और न अब हैं. मुझे तो सर्वाधिक लाभ इस द्विविदमतिविलासका यही लगता है कि सच्चे सिद्धान्तोंके अवगाहनार्थ मेरे लेख, भविष्यमें प्रभुकृपावश, निर्विवाद मार्गदर्शन प्रदान करेंगे. इससे अधिक मुझे और क्या सहयोग कोई दे सकता है !

वस्तुतः तो पुष्टिप्रभु महाप्रभु और प्रभुचरण की इससे अधिक फलवती कृपा मेरेऊपर और हो ही क्या सकती है !

क्योंकि न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकार तो सुस्पष्ट शब्दोंमें निर्देश देते हैं ''**तस्माद् एवंवादी नोत्तरार्हः. नहि उन्मत्ताय कश्चिद् अनुन्मत्तः उत्तरम् आह. ब्रुवाणो वा सोऽपि उन्मत्तएव स्यात्**'' (न्या.वा.ता.टी.१।२।२).

फिरभी ''**एवं प्रतारणाशास्त्रं सर्वमाहात्म्यनाशकम् उपेक्ष्यं भगवद्भक्तैः श्रुतिस्मृतिविरोधतः, कलौ तदादरो मुख्यः फलं वैमुख्यतः तमः**'' न्यायेन पठित पुष्टिमार्गीयोंके लिये उपेक्ष्य होनेपर भी ''**एतन्मतम् अविज्ञाय सात्त्विकाअपि वै हरिं मतान्तरैः न सेवन्ते तदर्थं हि एषः उद्यमः**'' न्यायेन अस्पृश्य असम्भाष्य देवलकजनोंसे शास्त्रार्थ करनेको नहीं परन्तु भोले और बरगलाये गये सच्चे पुष्टिमार्गीयोंको वास्तविक पुष्टिसिद्धान्त अवगत करानेको, इनके उद्भावित कल्पोंको संशयकी निरसनीय कोटिमें रखना न केवल उचित अपितु आवश्यक भी है.

वस्तुतः देखा जाये तो तटस्थ विद्वानोंको मध्यस्थ बना कर मौखिक चर्चाद्वारा एकदूजेको पछाड़ देनेकी प्रतिज्ञा या डिंडिमघोषणा से पूर्व 'सिद्धान्तवचनावली' और 'अमृतवचनावली' में संकलित अथवा असंकलित पूर्वाचार्योंके वचनोंकी एकवाक्यता शान्त चित्त तथा स्वस्थ बुद्धि के साथ विचार कर अपनी-अपनी समझको लेखबद्ध कर प्रकाशित करवायी होती तो कुछ बात बन जाती. एकदूजेके साथ अर्थहीन व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धामें दुर्व्यय होते समय और कलुषित होते वातावरण को बचाया भी जा सकता था.

**निष्कृष्टसिद्धान्त :**

अतः अब यह प्रसक्त होता है कि सिद्धान्तचर्चासभामें [१]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर सेवोपदेशदीक्षाके स्वरूपमें ही भगवत्कृपामूलक इस मार्गमें प्रवेशके आदिम साधनतया गुरुपरीक्षणकी बात महाप्रभुने समझायी है. उसमें भागवततत्त्वज्ञ दम्भादिदोषरहित कृष्णसेवापरायण होना गुरुतया वरणीय पुरुषकी प्रथम कसौटी है. एतावता

अभागवतज्ञ दम्भादिसहित श्रीकृष्णकी अस्वीय तनु-वित्तसे की जाती सेवाके प्रदर्शकोंद्वारा, जो परम्पराके बहाने काढ़ कर आजीविका या अर्थोपार्जन के प्रयोजनवश की जाती कृष्णसेवा तो सिद्धान्ततः भगवत्सेवाका सर्वथा अनभिमत स्वरूप ही है. इसके समर्थनार्थ प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीके वचन, इसी तरह श्रीपुरुषोत्तमजीके वचन, जिसमें श्रीमद्भागवतकथाकी दक्षिणा लेनेवालेको भगवन्नामविक्रयका अपराधी दिखाते हुवे पात्रापात्रके विचारके बिना भगवन्नामात्मक मन्त्रोंकी दीक्षा प्रदानको भी नामविक्रय माना गया है. अतः भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवा का विक्रय भी अपसिद्धान्त सिद्ध हो जाता है. सेवा हम करें और उसके लिये द्रव्य किसी अन्यका वापरें ऐसी प्रक्रिया सिद्धान्ताभिमत हो ही नहीं सकती. 'अमृतवचनावली'में भी उद्धृत कांकरोली और कामवन वाले महाराजश्रीके वचनोंसे इसे संवादित किया जा सकता है.

[२]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर 'तुष्यतु देवलक'न्यायेन सेवाका तनुजा और वित्तजा ऐसा विभक्त स्वरूप मान कर चलें; अर्थात् तनुवित्तजाको अमान्य कर एककर्तृका विभक्त दो सेवायें होती हों तोभी इसी शीर्षकके अन्तर्गत (ख)वचनमें भगवत्सेवाके हेतु अपेक्षित द्रव्य या सामग्री का सन्मार्गोपार्जित होना और सेवकेतरजनका जिसमें भाग न होना, जो अपरिहार्य माना गया है, उससे यह विसंगत हो जायेगा. इतरथा प्रकारके निषेधके कारण पुनः सेवार्थ परद्रव्योपयोगका निषेध गलेपतित होता ही है. अधिक या उत्तम सामग्रीके समर्पणार्थ अपनी भगवत्सेवाके लोकरञ्जानार्थ अनुष्ठानको बहिर्मुखताका सम्पादक जो जताया गया वह भी सेवाके तनुवित्तजा स्वरूपका ही उपोद्बलन है, तनुजा और वित्तजा के द्वैधीभावका नहीं. सेवाके ऐसे स्वरूपका उपोद्बलन पुनः महानुभाव श्रीहरिरायजीके दोनों वचनोंके आधारपर भी सिद्ध होता है. क्योंकि समर्पणके बाद सेवाकी सार्थकताके हेतु स्वीय तनुवित्तके विनियोगपर भार दिया गया है. **''स्वमार्गीय सेवास्वरूपके ज्ञानके अभावमें केवल श्रद्धावश यथाकथञ्चित् की जाती सेवा, केवल भौतिक क्रिया भर रह जाती है'', इस विधानके समर्थनार्थ ''लोकार्थीके कृष्णभजन''**का न्यायापादन श्रीहरिरायजीके अनुसार लोकार्थीकी कृष्णसेवाको 'कृतभजनवैयर्थ्यासम्भव' न्यायका अविषय माननेमें प्रबल प्रमाण है. 'अमृतवचनावली'में संकलित स्वयं

गोस्वमिद्विविदोंके ही नडियादके दावेमें सिद्धान्तविद्की हैसीयतमें दी गयी जबानीमें गोस्वामिओंके यहां दर्शनार्थी वैष्णवजनताद्वारा दिये जाते द्रव्यको स्वमार्गविपरीत होनेके कारण और यूं लिये जानेपर हवेली वाल्लभ सम्प्रदायकी नहीं रह जाती, ऐसे कठोरविधानसे भी संवादित किया जा सकता है. इसी तरह पोरबंदरवाले महाराजश्रीने तो प्रभुचरण श्रीविट्ठनाथजीके वचनके आधारपर वृत्त्यर्थ सेवाका मलप्रक्षालनार्थ गंगाजलके समान पापकृत्य होना प्रतिपादित किया है. इसी तरह कांकरोलीयुवाचार्यके वचनोंसे भी इस प्रतिपादनकी प्रामाणिकताको संवादित किया जा सकता है.

[३]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर अस्वीय और/अथवा अभक्त जनोंकेलिये अपनी भगवत्सेवाका सार्वजनिक प्रदर्शन ही सिद्धान्ताभिमत प्रक्रिया नहीं और ऐसा करनेपर सेवाकर्ताका हृदय भगवद्भावशून्य बन जाता है; और वार्षिक सेवा भी निष्फल हो जाती मानी गयी है. अतः हवेलीकी पेढ़ियोंपर भगवत्सेवाके नामपर मांगे या लिये जाते परद्रव्यसे धरी सामग्रीका नैष्फल्य भी सिद्ध हो जाता है. अतः वह प्रसाद ही न रह जाता हो तो भगवन्मनोरथोंद्वारा जनताको द्रव्यप्रदानार्थ ललचानेको किये जाते प्रदर्शनकी अपसिद्धान्तरूपता स्पष्ट होगी ही. 'अमृतवचनावली'में संकलित नि.ली.कांकरोलीवाले महाराजश्रीके वचन, स्वयं गोस्वामिद्विविदको 'पुसिसंशि' पदवीदानप्रपाठक सूरतवाले महाराजश्री तथा कांदीवली-मुंबईके चि.बावा के वचनोंसे भी इसे संवादित करनेपर निज भगवत्सेवाका प्रदर्शन अपसिद्धान्त सिद्ध होता है. अतः सेवाप्रदर्शनके अन्तर्गत या सेवाप्रदर्शनके प्रयोजनवश लिया परद्रव्य निज भगवत्सेवामें ग्राह्य कैसे हो सकता है ?

[४]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर पुष्टिमार्गमें की जाती भगवत्सेवाका प्रयोजन केवल स्वसेव्य प्रभुको अपना पारलौकिकैहिक सर्वस्व मान कर सेवा करना है, ऐसा माना गया है. अतः लोकार्थ=लौकिकफलार्थ, निजपरिवारके परिपालनार्थ, प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि के प्रयोजनवश की जाती भगवत्सेवाको अनुमोदनीय नहीं माना जा सकता. ऐसी स्थितिमें न तो उत्तम, न मध्यम अथवा न आदिम कोटिका भी अधिकारी

अर्थार्थितया सेवा कर सकता है. इसे 'अमृतवचनावली'में संकलित नि.ली.श्रीनृसिंहलालजीके, नि.ली.बालकृष्णलालजी (सूरत), 'सेवादेवद्रव्यविमर्श'कार, अमरीकाके ह्युस्टन न्यूजर्सी आदि नगरोंमें श्रीगोवर्धननाथजीमन्दिरसंस्थापक भाई-बहनोंके भी वक्तव्य, यों कितने सारे वचनोंसे संवादित कर जांचा जा सकता है.

'शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर सेवास्थलके स्वरूपका विचार करनेपर भी मूलाचार्यके उपदेशमें भगवत्सेवा सेवाकर्ताके स्वयंके घरमें ही अनुष्ठेय मानी गयी है. न केवल इतना प्रत्युत भगवद्भजनतया अनुष्ठेय कर्म निजगृहमें रहे बिना शक्य न होना स्वीकारा गया है. स्वयं अपने घरमें बिराजमान सेव्यस्वरूपके भजनका परित्याग कर अन्यत्र (अथवा परित्यागार्थ ललचानेवाली भगवत्सेवाकी रीति) भक्तिकी सिद्धि अशक्य दिखलायी गयी है. इसी तरह स्वगृहमें अनुष्ठेय भगवत्सेवा भी यथालब्ध द्रव्य-सामग्रीसे सम्पाद्य मानी गयी है. अतः अस्वीय परिवारेतरजनोंसे प्राप्त करनेको उन्हें अपने घरमें तनुजा या वित्तजा के विभक्तानुष्ठानार्थ बरगलानेका सार्वजनिक प्रदर्शन अपसिद्धान्त सिद्ध होता है. अतएव अर्थार्थिओंद्वारा किये जाते भगवत्सेवाप्रदर्शनमें वैष्णवसमुदाय जो कुछ वित्तजा या तनुजा सेवा करता है वह निषिद्ध स्थलपर प्रकट हुयी स्वधर्मभ्रान्ति है. अतः या तो अकर्म या विकर्म ही सिद्ध होती है. इसे भी 'अमृतवचनावली'में नि.ली.अमरेलीवाले महाराजश्री, नि.ली.द्वितीयगृहाधीश, नि.ली.तृतीयगृहाधीश, नि.ली.श्रीकृष्णजीवनजी महाराजश्री एवं उनके आत्मज, नि.ली.श्रीबालकृष्णलालजी (सूरत), उनके अनुज, वर्तमान तृतीयगृहाधीश के वचनोंसे संवादित किया जा सकता है. अतः निजगृहके अतिरिक्त स्थलोंमें अनुष्ठित होती सेवा सिद्धान्तानुमोदित न होनेसे 'मूलं नास्ति कुतः शाखा!'' न्यायसे पुनः उत्तम मध्यम या आदिम किसी भी सेवाकर्ताके लिये कर्तव्य नहीं हो सकती. अतः अपने घरमें की जाती तनुजा सेवाको स्वीय वित्तसे विभक्त कर परद्रव्यसे किया जाना कैसे अनुमोदनीय हो सकता है? अतः वैसा करनेपर निन्दित या निषिद्ध कोटि का जघन्याधिकार अनुक्तसिद्ध हो जाता है, बिना शास्त्रार्थके. फिरभी किसीको शास्त्रार्थका कण्डूत्यतिरेक हो तो अपनी एकलव्योपम दुर्दम आकांक्षाको मेरी मूर्ति बना कर

उसके सामने बैठ कर  शास्त्रार्थकण्डूतिका उपशम करना चाहिये. उसे प्रकाशित किये जानेपर तो सैद्धान्तिक समाधान प्रस्तुत करने मैं भी सर्वदा समुद्यत ही हुं.

[६]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर सेव्यप्रभुके विग्रहका स्वरूप विचारनेपर भी उसे रसात्मक या भावात्मक मानना हो तो गुप्त रखना चाहिये. अन्यथा रसाभास होनेका जो प्रतिपादन किया है उसके आधारपर भगवत्स्वरूप अप्रदर्शनार्ह सिद्ध होता है. ऐसे भगवत्प्रदर्शनद्वारा किये जाते अर्थोपाजनकी उपायरूपा सेवाके रसाभास होनेका भी सबल प्रमाण है. अतः अपने भगवत्स्वरूप या भगवत्सेवा का प्रदर्शन करनेवाले सब अपनी जघन्याधिकारिताको ही उद्घाटित कर रहे हों तो, उनके पास दीक्षार्थ या सेवार्थ भगवद्विग्रहको पुष्ट करना अनिवार्य न रह जाता है. अतः सभी मार्गानुगामिओंके लिए अपने-अपने घरोंमें ही की जाती अप्रदर्शनात्मिका धर्मबुद्ध्या अनुष्ठेय भगवत्सेवा ही सिद्धान्ताभिमत प्रकार सिद्ध होता है. इसीका समर्थन प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजी एवं श्रीहरिरायजी के वचनोंमें मिल रहा है, यह देखा जा सकता है. 'अमृतवचनावली'में भी पुनः श्रीवल्लभात्मज श्रीबालकृष्णजी, नि.ली.तृतीयगृहाधीश, नि.ली.श्रीकृष्णजीवनजी, उनके आत्मज, स्वयं गोस्वामिद्विविदद्वारा पक्षग्रहणमें अंगीकृत धारणा, वर्तमान तृतीयगृहाधीश आदिके वक्तव्योंके साथ संवादित किया जा सकता है.

[७]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर भगवत्सेवार्थ कैसी आजीविका पुष्टिधर्मानुमोदित होती है, एतदर्थ पूर्वज गोस्वामिओंद्वारा भी भगवत्सेवाप्रदर्शनद्वारा या भगवत्सेवार्थ परद्रव्यका अंगीकार करनेकी परम्परा प्रमाण न हो कर साक्षात् आचार्योपदिष्ट रीतिको ही प्रमाण माननेकी स्वयं आचार्याज्ञा उद्धृत है. देवार्थ उत्सृष्ट या प्रदत्त द्रव्यको अपने उपभोगमें लेनेवाले, अधिकार-अनधिकारके विवेक रखे बिना सारे गांवको अपनी भगवत्सेवाद्वारा लाभ पहुंचानेके बहाने बनानेवाले ग्रामयाजक तथा अर्थार्थी बन कर भगवत्सेवा करनेवालेको श्वान श्वपाकी प्रेतधूम चिता चिताप्रज्वालनार्थ काष्ठ मद्य मद्यपात्र चरबीलगी हुयी मानुषास्थि शव शवस्पर्शी एवं महापातकी आदिको समानकोटिका अपवित्र बतानेवाले श्रीपुरुषोत्तमवचनके

आधारपर भी न तो एककर्तृका और अनेककर्तृका विभक्त तनुजा और वित्तजा सेवाको सिद्धान्ततया अनुमोदनीय माना जा सकता है. 'अमृतवचनावली'में भी स्वयं महाप्रभु प्रभुचरण चतुर्थात्मज श्रीहरिरायजी, नि.ली.गो.ति.श्रीगोवर्धनलालजी, नि.ली.राजनगरस्थ श्रीरणछोड़लालजी, नि.ली.प्रथमेशजी, वर्तमान सप्तमगृहाधीश, नि.ली.बालकृष्णलालजी(सूरत) के वक्तव्योंसे संवादित किया जा सकता है.

[८]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर सेवाकर्ता तथा सेवापरिचारक के स्वरूपकी जिज्ञासामें स्वयं आचार्यचरणद्वारा सेवाकर्ताके भार्या आदि परिवारजनोंका उल्लेख, उसका श्रीहरिरायजीद्वारा समर्थन भगवत्सेवार्थ विभक्त तनुजा और वित्तजा की धारणाको चूर्ण-चूर्ण कर देता है. 'अमृतवचनावली'में भी नि.ली.श्रीवागधीशलालजी महाराज, नि.ली.द्वितीयगृहाधीश, नि.ली.श्रीदीक्षितजी महाराज, नि.ली.प्रथमेश, वर्तमान सप्तम गृहाधीश, आदि अनेकोंके वक्तव्योंसे संवादित किया जा सकता है.

[९]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर भगवत्सेवाके उपदेशार्थ अधिकारीकी विवेचनामें सर्वप्रथम तो पूर्वोदाहृत आचार्यवचन ही, साथ ही साथ उसके समर्थनार्थ प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजीका वचन, श्रीहरिरायजीके चार वचन और अन्तमें श्रीपुरुषोत्तमजीके दो वचन उद्धृत किये गये हैं. इन सभी वचनोंके आधारपर अर्थार्थितया भगवत्सेवा उत्तम मध्यम या आदिम किसी कोटिके सेवोपदेष्टाके लिये अनुमोदनीय हो नहीं सकती. अतः निन्दित या निषिद्ध कोटिके सेवोपदेष्टा ऐसे आचरण करनेवालोंको मानना पड़ेगा. 'अमृतवचनावली'में संकलित वक्तव्योंके आधारपर भी स्वयं आचार्यचरण, प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथजी, श्रीमद्दुजी महाराज, नि.ली.श्रीनृसिंहलालजी, अमरेलीवाले नि.ली.वागधीशलालजी, राजनगरके नि.ली.श्रीरणछोड़लालजी, नि.ली.श्रीकृष्णजीवनजी, नि.ली.श्रीदीक्षितजी, नि.ली.प्रथमेशजी, वर्तमान सप्तम गृहाधीश, स्वयं गोस्वामिद्विविदद्वारा गृहीत पक्ष, चि.पू.पा.द्रुमिलबावा के वक्तव्योंके साथ संवादित किया जा सकता है.

[१०]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर

श्रीमद्भागवतको आचार्यचरण भगवन्नामात्मक मानते होनेके कारण उसके आजीविकार्थ या भक्तिभावके दृढ़ीकरणके अलावा अन्य किसी भी प्रयोजनवश किये जाते उपदेशको न केवल निषिद्ध कोटिका जघन्याधिकार प्रत्युत गटरके पानी जितना अपवित्र मान रहे हैं. अतः यदि भगवन्नामात्मक होनेके कारण सूतवृत्तितया अनुज्ञप्त भी भागवतकथाका भक्तिमार्गमें अर्थार्थ या आजीवनार्थ उपयोग वर्जित है. अब वह जिस भगवद्रूपका नामात्मक स्वरूप है, उसके साक्षात् स्वरूपका अर्थार्थितया भजन कैसे अनुमोदनीय हो सकता है? क्योंकि 'पुसिसंशि'पदवीप्राप्तिके अभिनन्दनार्थ आयोजित सन्मानसभामें भागवतकथावाचकके हाथों सन्मानपत्र ग्रहण किया था अतः ''तवार्धं च ममार्धं च'' कुनीतिके वश भागवतवृत्त्युपजीवनकी भी शास्त्रदृष्ट्या वैधता अब ठहरायी जा रही है. जबकि **''श्रीकृष्णव्यतिरिक्तं यत् तत् 'धन'संज्ञितं, कृष्णार्थीति धनार्थीति श्रोता वक्ता द्विधा मतः, यथा वक्ता तथा श्रोता तत्र सौख्यं विवर्धते. उभयोः वैपरीत्येतु रसाभासे फलच्युतिः किन्तु कृष्णार्थिनां सिद्धिः विलम्बेनापि जायते... परन्तु शोभते न अत्र सकामत्वं विडम्बनं, कृष्णप्राप्तिकरं शश्वत् प्रेमानन्दफलप्रदम्''** (स्कन्दपुरा.वैष्ण.खं.अध्या.४) ऐसा न केवल महाप्रभुको अभिप्रेत है परन्तु शास्त्रको भी अभिप्रेत है. पुनश्च भगवत्सेवामें जो स्वयं कृष्णार्थितापर भार देनेपर इतना उद्विग्न हो जाता हो उसे धनार्थिताके आसुरावेशवश यह पसन्द न आये तो ''कृतभागवतकथोपदेश-श्रवणवैयर्थ्यासम्भाद् जन्मान्तरे तत् फलिष्यति'' न्यायेन इस जन्ममें तो श्रीकृष्णप्रेम सिद्ध हो जानेमें महती विपदा लगनी स्वाभाविक ही है. इस जन्ममें तो ''(श्री + कृष्ण = श्रीकृष्ण – कृष्ण)=द्रव्यं शरणं मम'' और ''धन तवास्मि'' के अलावा न कोई परतर मन्त्र सुहाता है. न कोई स्तव पाठार्थ सुहाता है. नहीं किसी परतरा विद्यामें रुचि या उसका बोध ही अच्छा लग सकता है. और न कोई परतर तीर्थ यात्रार्थ सुहा सकता है. सो आसुरस्वभावप्राप्त ऐसा विधानविडम्बन क्रिया है कि **''हमने जब देखा तो कहा... कि सूतवृत्ति शास्त्रविरुद्ध नहीं है. श्रीमहाप्रभुजीको अभिमत नहीं यह निश्चित है...''** ('गदापदातत'पृ.४).

मैंने जिस शास्त्रीकी डायरीमें शास्त्रविरुद्ध होनेका लेख सहस्ताक्षर लिखा था वह शास्त्री वर्णसंकर सूतजातीय नहीं था. गोस्वामिद्विविद अपनेको

वैसा मानते हों तो उनकी डायरीमें ऐसा अभिलेख लिखनेका साहस तो मैं भी कभी नहीं करना चाहुंगा. ऐसे देवलक भगवत्सेवा यदि वृत्त्यर्थ करते हों तो भगवन्नामात्मक भागवती कथा भी वृत्त्यर्थ करें इसमें विस्मयकी क्या बात हो सकती है ! विस्मय तो केवल इस नूतन अंगीकृत ''...**श्रीमहाप्रभुजीको अभिमत नहीं यह निश्चित है**'' विधानके बारेमें होता है. 'अमृतवचनावली' मूलतः भगवत्सेवाके सिद्धान्तशुद्ध प्रकारके सिद्धान्तवचनावलीमें उदाहृत वचनोंके परम्परागत अभिप्रायकी एक्यवाक्यता दरसाने ही संकलित की गयी थी. अतः उसमें ऐसे वचनोंके संकलन अप्रासंगिक थे. फिरभी नि.ली.श्रीगोविन्दरायजीकी सुधाधाराके वचनसे इस अभिप्रायको संवादित किया जा सकता है.

[११]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर स्वसेव्यस्वरूपप्रसादग्रहणके बारेमें जो प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथजी और श्रीपुरुषोत्तमजी के दान और समर्पण का पृथक्करण करनेवाले वचन दिये गये हैं. प्रभुको दानरूपेण स्वदत्त या परप्रदत्त का उपभोग वर्जित माना गया है और समर्पित-विनियुक्तका नहीं. अब जो भगवत्सेवाके व्यापारके रूपमें हवेली चल रही हैं, उनमें दर्शनार्थिओं द्वारा धरी जाती भेंट-सामग्रीको दानरूपेण मान्य करें तो ऐसे भगवत्प्रसादको सोनाकी कटोरीको गिरवी रख कर धरे प्रसादकी तरह अनुपभोग्य मानना पड़ेगा. और दर्शनार्थी जनताका समर्पण मानें तो इन सेव्यस्वरूपोंपर दर्शनार्थी जनताका स्वत्व गोस्वामिद्विविदोंको स्वीकारना पडेगा. अतः उन्हें वहां केवल तीसप्रतिशत वेतनभोगी कर्मचारी माने सिवाय कोई गति रह नहीं जायेगी. यदि उन्हें देवलक बननेमें लज्जा होती हो तो. अन्यथा स्वसेव्य भगवद्विग्रहकी सेवाके हेतु परद्रव्यार्थीका देवलक होना निर्विवाद सिद्ध हो ही जाता है. यह दुर्गति तो गोस्वामिद्विविदकी पक्षग्रहणकी प्रक्रियामें कितनी बुरी तरह फंस जानेके कारण हुयी, वह तो विस्तृतविवरणके पठन-ननद्वारा अवलोकनीय है. किसी भी सूरतमें 'अमृतवचनावली'में संकलित पूर्वोदाहृत अनेक वक्तव्योंसे इसे संवादित किया जा सकता है.

[१२]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर तीर्थपर्यटन सम्बन्धी नियमोंपर भी यही कथा लागू होती है. तीर्थवासी ब्राह्मणको

अपने पौरोहित्यके निमित्तवशात् तीर्थदक्षिणा या प्रतिग्रह शास्त्रानुमत होनेपर भी अतीर्थवासीको तीर्थयात्राके समय तीर्थहेतुक परद्रव्यकी कथा तो दूर ब्राह्मण्यहेतुक प्रतिग्रहको भी शास्त्रमें मातृगमनके समान पातक कर्म माना गया है. ‘‘**न तीर्थेप्रतिगृहीयात् प्राणैः कण्ठगतैरपि अपि कामातुरो जन्तुः एकां रक्षति मातरम्**’’ (पद्मपुराण). अतः कैमुतिकन्यायेन भगवच्चरणारविन्दोंके बारेमें जिनके हृदयमें ‘‘**अंघ्रिम् अघौघमर्षतीर्थास्पदं हृदि कृतम्**’’ (भाग.पुरा.१०।८१।२६) इस वचनके अनुसार तीर्थोंमें भी परतम तीर्थ होनेका भाव दृढ़ हो तो वह अपने सेव्यस्वरूपकी चरणभेंट अपने उपयोगमें लाकर स्वमातृगमन तो कर ही नहीं सकता! एतदर्थ संकलित है. इस बारेमें कैमुतिकन्यायके अभिप्रायवश यह वचन संकलित किया गया होनेसे ‘अमृतवचनावली’में इसका संवादी वचन संकलित नहीं किया गया है.

[१३]शीर्षकके अन्तर्गत विचार्य वचनतया संकलित वचनोंके आधारपर आचार्यवचनाशयनिर्धारणप्रकारोपसंहार रूपी विषयके बारेमें स्वयं गोस्वामिद्विविदने निर्विवाद पक्षग्रहण करनेपर, किस तरहकी अधोगामिता स्वयंकी उघाड़ी पड़ जायेगी, उसका आगे-पीछेका आकलन ही नहीं किया! इसमें मेरा क्या दोष हो सकता है. स्वभावतः उस आचार्यवचनाशयनिर्धारणके प्रकारसे अपने-आपको निर्मुक्त कर वाद करना हो तो मेरी मूर्तिको बिठा कर सुखेन करे!

मैंने तो सिद्धान्तचर्चासभामें ही सारी बातें स्पष्ट हो जानेसे गोस्वामिद्विविदको अभिनन्दित ही किया था कि मात्र पांच सौ वर्ष टिकनेकी भीतिवाले सम्प्रदायको स्वयं गोस्वामिद्विविदने ही पांच हज़ार वर्षोंमें भी खतम न हो पानेकी आयुष्य प्रदान कर दी!

**उपसंहारवचन :**

क्योंकि मेरा सुदृढ़तम अभिप्राय यही है कि वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तोंके वास्तविक स्वरूपका निर्धारण इस १३वें शीर्षकके अन्तर्गत उपदिष्ट रीतिसे ही हो सकता है. सरकारी कानूनके सामने उभरती हमारी लाचारी, हमारी

क्षुद्र द्रव्यलोलुपता अथवा तटस्थ मध्यस्थ विद्वानोंके बीच वादचर्चाका महामोह अथवा ऐसी किन्हीं विवशताओंके कारण नहीं. अतः हमारे पूर्वजोंने भी जो सिद्धान्तविहीन परम्परा कथञ्चित् विवश हो कर प्रवर्तित की, उनके आधारपर भी वाल्लभ सिद्धान्तोंका विनिर्णय कदापि नहीं हो सकता.

अतः अबभी इन सारे विषयोंकी एकवाक्यता साधते हुवे कोई अपना पक्ष, मेरेद्वारा गृहीत पक्षसे अन्यथा भी, प्रतिपादित करता हो तो उसे तो मैं आदरभावसे सुनने और समझने और मेरी त्रुटि हो तो उसे सुधारने भी प्रतिश्रुत हुं और पुष्टिप्रभु महाप्रभु और प्रभुचरणों की कृपासे रहुंगा ही. अन्यथा –

**निरीहानां नृणां निजपथजुषां त्राणकरणं**
**महामोहान्मा भूदपि कपिमतेः प्राणहरणम् ।**
**कथायां सिद्धान्तप्रकथनपरस्यात्र ममतु**
**यथायक्षो देयः खलु बलिरिति प्राप्तपरिधेः ।।**
**सहस्रपरिवत्सरामितयुगे व्यतीते परं**
**प्रभुर्मदनमोहनः कपिमतिं कदाचिद् हरेत् ।**
**तदा मतिमलापहृद् भजनजात सद्भक्तये**
**समर्पितमिदं भवेद् द्विविदबन्धवे कामये ! ।।**
**दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिम् आप्नुयात् ।**
**शान्तो मुच्येत कष्टेभ्यो मुक्तो भक्तिम् अवाप्नुयाद् ।।**
**भक्त्या निखिलजीवानाम् अन्तरात्मा हरिः स्वयम् ।**
**पुष्टिजीवगृहे कच्चित् पुष्टिभक्तिं प्रसारयेत् ! ।।**

***

निरीहानां नॄणां निजपथजुषां त्राणकरणं
महामोहान्मा भूदपि कपिमतेः प्राणहरणम् ।
कथायां सिद्धान्तप्रकथनपरस्यात्र ममतु
यथायक्षो देयः खलु बलिरिति प्राप्तपरिधेः ।।

सहस्रपरिवत्सरामितयुगे व्यतीते परं
प्रभुर्मदनमोहनः कपिमतिं कदाचिद् हरेत् ।
तदा मतिमलापह्वद्-भजनजात-सद्भक्तये
समर्पितमिदं भवेद् द्विविदबन्धवे कामये! ।।

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिम् आप्नुयात् ।
शान्तो मुच्येत कष्टेभ्यो मुक्तो भक्तिम् अवाप्नुयाद् ।।
भक्त्या निखिलजीवानाम् अन्तरात्मा हरिः स्वयम्।
पुष्टिजीवगृहे कच्चित् पुष्टिभक्तिं प्रसारयेत्! ।।

आवरकचित्र : ख्याति मेहता